शतपथब्राह्मण-हिन्दीविज्ञानभाष्य

(त्रैमासिक पुस्तकरूप से प्रकाशित)

भाष्यकार

वेदवीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः (गौडः)

वर्ष ४ | कार्त्तिकशुक्ल पूर्णिमा सम्वत् १९९८ | संख्या १

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफण्डद्वाराप्रकाशित

एवं

श्रीगौरीलालशर्म्मा-पाठक उपाध्याय द्वारा सम्पादित

मुद्रक—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ १ ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ २ ॥

ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥ ३ ॥

देवत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रदर्शित 'पाञ्चभुवनकोश' प्रकरण के सम्यक् अवलोकन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि किसी समय इस भूपिण्ड पर देवता (मनुष्य देवता) और असुर दोनों का साम्राज्य था। प्रजापति ने इन दोनों के लिए त्रैलोक्य व्यवस्था नियत कर दी थी। स्वयं प्रजापति एशियामाइनर नाम के प्रसिद्ध स्थान के काश्पीयन्सी नाम के पर्वत पर निवास करते थे। असुर और देवता दोनों पर प्रजापति का पूर्ण अनुग्रह था। सुप्रसिद्ध स्वेजप्रदेश में होकर (जहां पर कि आज स्वेजकनाल नाम की नहर बना दी गई है) अफ्रीका में निवास करने वाले असुर समय समय पर प्रजापति के दर्शन के बहाने देवत्रिलोकी पर आक्रमण किया करते थे। आरम्भ में देवता अपनी स्वभावसिद्ध सरलता के कारण दुष्टबुद्धि असुरों के आक्रमण की ओर से उदासीन रहे। देवताओं की इस

उदासीनता से असुरों नें अनुचित लाभ उठाने के लिए देवत्रिलोकी पर भी अपना अधिकार जमाना चाहा। फलतः उन्होंनें चर्म्मरज्जू[1] से पश्चिम की ओर से भूप्रदेश को स्वसुविधानुसार नापना आरम्भ कर दिया। जब देवताओं को यह समाचार विदित हुए कि असुर यथेच्छ भूविभाग करते हुए क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए आ रहे हैं तो इन्हें चिन्ता हुई। फलतः यज्ञाधिष्ठाता विष्णु को आगे कर देवता दलबल सहित वहां उपस्थित हुए। एवं यज्ञ के व्याज से सम्पूर्ण एशियामें अपना अधिकार जमा कर इस अपने त्रैलोक्य से असुरोंको बाहर किया। तभी से देवत्रैलोक्य **'यज्ञभूमि' 'देवयजनभूमि'** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। आरम्भ में जो भुवनकोश **'पाद्मभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध था, आगे जाकर वर्षविभगानुसार जो भुवनकोश **'वर्षभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुआ था, वही सर्वान्त में देवताओं के इस यज्ञसम्बन्ध से **'यज्ञभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रकृत कथानक इसी यज्ञभुवनकोश का निरूपण कर रहा है। ध्यान रहे—असुरों का यह आक्रमण एक ही समय नहीं हुआ था, अपितु समय समय पर इसी प्रकार इन का आक्रमण होता रहता था। कभी देवता अपने बल से ही इन्हें निकाल देते थे, कभी इन्हें अन्य शक्तियों का सहारा लेकर अपने त्रैलोक्य को इन आक्रमणों से बचाना पड़ता था। एक बार शुम्भनिशुम्भ ने भी इसी तरह देवत्रैलोक्य में अपना अधिकार कर लिया था। जब देवता असमर्थ हो गए तो संचित शक्तिमूर्त्ति जगदम्बा के आश्रय से देवता इन्हें नष्ट करने में समर्थ हो सके। स्वयं रहस्यग्रन्थ (सप्तशती) ने इस

---

१ भूक्षेत्र नापने की डोरी पुराकाल में चमड़े की होती थी। जिस चर्म्मरज्जू से बैलों को बांधा जाता है, उसी से जमीन नापी जाती थी। अत एव भूदेशप्रमानसाधनभूता यह रज्जू वैदिक समय में—'आनडुहचर्म' नाम से प्रसिद्ध थी।

महायुद्ध का विस्तार से निरूपण करते हुए आगे जाकर कहा है——

त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां, देवाः सन्तु हविर्भुजः।
यूयं प्रयात १ पातालं यदि जीवितुमिच्छथ॥

सर्वान्त में इसी महामाया के प्रभाव से सारा असुर बल नष्ट हुआ, जो बचे उन्होंनें स्वत्रैलोक्यरूप पाताल का आश्रय लिया। इसी अभिप्राय से आगे जाकर सुरथराजा से ऋषि कहते हैं——

दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि।
जगद्विध्वंसके तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे॥
निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययौ॥

इसी प्रकार एक बार वज्राङ्गद के वेश्यापुत्र तारक नाम के महाप्रबल असुर ने देवत्रैलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। कविकुलगुरू कालिदास ने अपने अति सुप्रसिद्ध 'कुमारसंभव' नाम के महाकाव्य में इसी चरित्र का निरूपण किया है। अन्तमें पार्वतीनन्दन स्कन्द ने सेनानी बनकर इस असुरबल को नष्ट किया था।

इसी प्रकार 'त्रिपुरासुर' का युद्ध भी बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि विषय अप्रासंगिक है। तथापि इस चतुर्थवर्ष में हम इस विस्तारक्रम को समाप्त कर केवल ग्रन्थसम्बन्धी विज्ञान का ही निरूपण करेंगे। अतः संक्षेपसे देवासुरसंग्राम से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक आख्यानों का निदर्शन पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। इस से उन्हें "वेदों में

१अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण अफ्रीका है–अमेरीका है। यही एशिया वासियों के लिए 'अधोभुवनपातालम्' इस अमर परिभाषा के अनुसार पाताल है। यहीं पूर्वप्रतिपादित पाञ्चभुवनकोष के अनुसार आसुरत्रैक्य था।

इतिहास है—अथवा नहीं, ?" इस प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा। सब से पहिले त्रिपुराख्यान की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

वैदिककाल में राजालोग अपने निवास के लिए तीन तीन पुरों का निर्म्माण किया करते थे। स्वर्गस्थ देवताओं में, पातालस्थ असुरों में इस पद्धति का विशेष समादर था। यह पुर ब्राह्मणग्रन्थ में 'उपसत' नाम से व्यवहृत हुए हैं। ब्राह्मणोक्त सुप्रसिद्ध 'उपसद्धोम' प्रकरण में इन देव-उपसदों का विस्तार से निरूपण किया गया है। हां इस सम्बन्ध में यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस त्रिपुरनिर्म्माण की पद्धति सर्वप्रथम असुरों की ओर से ही चली थी। वे ही इस पद्धति के प्रथम आविष्कर्त्ता थे। जैसा कि पूर्व के पाञ्चभुवनकोश प्रकरण में बतलाया गया था, तत्कालीन असुर जातियों में 'मयासुर' वंश शिल्प कला आदि में उच्च शिखर पर पहुंचा हुआ था। इसी मयजाति को अलंकृत करने वाले त्रिपुर नाम के मयासुर ने सर्व प्रथम त्रिपुर निर्म्माण किया था। इसी त्रिपुर से असुर लोग देवताओं पर समय समय आक्रमण किया करते थे। भूमध्यसागर नाम से प्रसिद्ध महीसागर (मेडिट्रनीयेन्सी) के समीप ही एक प्रदेश **'मयसोपोटेमिया'** नाम से प्रसिद्ध है। यह शब्द **'मयसोपोत्तम'** शब्द का ही अपभ्रंश है। यही मयासुर जाति का निवास हो गया था। खेजप्रदेश (वर्त्तमान में स्वेजकनाल) से आकर मयासुरजाति ने इस प्रान्त को अपने अधिकार में कर लिया था। आगे जाकर क्रमशः पूर्वी भारत की ओर बढ़ते हुए इस जाति ने खाण्डव वन को भी अधिकार में कर लिया था। पूर्वी भारत में जिस प्रदेश में विशेष रूप से मयजाति ने अपना अधिकार जमाया था, वही प्रान्त आज **'मेरठ'**

नाम से प्रसिद्ध है। यह 'मयराष्ट्र' का अपभ्रंशमात्र है। मयजाति में सर्व-प्रधान पद एक समय 'वज्राङ्गद' नाम के असुर को मिला था। यह मयजाति का वर्गपाल (काफिले का सर्दार) कहलता था। इसी वज्राङ्गद ने अपने वंश की 'तार' (सर्वोच्च—सर्वश्रेष्ठ वंश) संज्ञा रक्खी। इसी तारवंश ने, किंवा वज्राङ्गदवंश ने एक बार युद्ध में इन्द्र को पराभ्त कर स्वर्गसीमा-रूप तारस्य नाम के पर्वत पर अपना आवासस्थान बनया था। यही तारस्य पर्वत आज 'टारसमाउन्ट' नाम से प्रसिद्ध है। महीसागर से उत्तर कीओर यह तारस्यगिरि प्रतिष्ठित है। यहीं हमारा सुप्रसिद्ध 'शर्वतीर्थ' है। पुराणों में इस तीर्थ का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। उपर्युक्त वज्राङ्गद परम वेश्यागामी था। एक वेश्या से वज्राङ्गद के तारक नाम का महाप्रबल असुर उत्पन्न हुआ था, जिस के कि शौर्य्य का "तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः" इत्यादि रूप से पूर्व में उल्लेख किया जाचुका है। तारकासुर के आगे जाकर विश्वविदित—विद्युन्माली, तारकाक्ष, अम्बुजाक्ष यह तीन महापराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। इन्हों नें भी पितृमर्य्यादा का अनुगमन करते हुए देवबल को यथेच्छ कष्ट दिया। प्रकृत में इस वंशम्परा से हमें केवल यही कहना है कि एक बार स्वर्ग (इन्द्रराष्ट्र) पर अधिकार करने की इच्छा से वज्राङ्गद ने अपनी मयजाति को आज्ञा दी कि "तुम कोई ऐसे पुर बनाओ, जिन के बल से बड़ी सरलता से देवबल को परास्त कर स्वर्ग-प्रदेशपर अधिकार जमाया जासके"। फलतः त्रिपुर नामके मय ने (जो कि शिल्प-विद्या के साथ साथ ज्यौतिषविद्या में भी महा पारङ्गत था) वज्राङ्गद की उक्त कामना पूरा की। तूर पर्वत की दक्षिण उपत्यका में त्रिपुर ने लौह-मयी पुरी का निर्म्माण किया, एवं यह लौहपुरी पृथिवीलोकस्था कहलाई। तार

पर्वत क शिखर पर सुवर्ण की पुरी बनाई गई। एवं भूमध्यसागर के पूर्वी तटपर (जिस प्रदेश को हम अन्तरिक्ष कह सकते हैं) रजतमयी (चांदी की) पुरी बनाई गई। यह राजती पुरी द्यावाभूमी की सीमा का स्पर्श करने के कारण 'त्रिपुरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। यही स्थान आज भी 'एट्लस्' में 'ट्रिपुली' नाम से प्रसिद्ध है। यह अवश्य ही 'त्रिपुरी' शब्द का अपभ्रंश है। यह त्रिपुरी, किंवा ट्रिपुली स्थान के हिसाब से ग्रीनवीच से १२ अंश ऊन ३६—अंशपर (३५—४८) स्थित है, एवं उज्जैन से पश्चिम ३९—५५ देशान्तर पर स्थित है। इन तीनों पुरियों में जो सब से अद्भुत चमत्कार था, वह यह था कि प्रत्येक पुष्यनक्षत्र में तीनों पुरिएं एक दूसरी से बद्ध हो जातीं थीं। ऐसे ही समय में असुरलोग इन में बैठ कर देवताओं पर बड़े वेग से आक्रमण किया करते थे। इन तीनों पुरियों के संचालक क्रमशः तारक के विद्युन्माली, तारकाक्ष, अम्बुजाक्ष यह तीन पुत्र थे। विद्युन्माली आयसी (लौहमयी) पुरी का अध्यक्ष था, राजती का अध्यक्ष अम्बुजाक्ष था, एवं हैमवती का संचालक तारकाक्ष था। जब इस त्रिपुर से देवबल अत्यन्त त्रस्त होगया तो आगे जाकर भगवान् त्र्यम्बक द्वारा इस त्रिपुरी का नाश हुआ। इन तीनों पुरियों के खण्ड खण्ड कर त्र्यम्बक ने महीसागर में डालकर, त्रिपुरासुर का सवंश विनाश कर सर्वान्त में इसी महीसागर में युद्धयज्ञ समाप्तिलक्षण अवभृथस्नान किया था। त्र्यम्बकस्नान से ही यह प्रदेश पुराणों में 'शर्वतीर्थ' (महादेवतीर्थ) नाम से प्रसिद्ध हुआ। त्रिपुरध्वंस के कारण ही भगवान् शङ्कर—"त्रिपुरारी" नाम से प्रसिद्ध हुए।

जब देवताओं नें देखा कि असुर लोग पुर निर्म्माण से अपने बल को हानि पहुंचा रहे हैं तो तदनुसार उन्हो नें भी तीन पुरों का निर्म्माण कर इनके बल से आगे जाकर असुरबल का विनाश किया। यही देवत्रिपुर

ब्राह्मण ग्रन्थो में 'उपसत्' (उपसीदन्ति यत्र देवाः) नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है।

*"देवाश्च वाऽअसुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे-अयस्मयीमेवास्मिँल्लोके, रजतामन्तरिक्षे, हरिणीं दिवि। तद्धै देवा अस्पृण्वत। तऽएताभिरुपसद्भिरुपासीदन्। तस्मादुपसदो नाम। ते पुरः प्राभिन्दन्। इमांल्लोकानप्राजयन्"

(शत०ब्रा० ३कां०।४अ०।४ब्रा०।३-४-कं)।

इसी प्रकार 'वराहासुर' का युद्ध भी वेदों में बड़ा महत्व रखता है। आज जो भारतीय प्रजा को अन्न वस्त्र का कष्ट सता रहा है, देवयुग में इस चिन्ता से भारतीय प्रजा सर्वथा विमुक्त थी। स्वर्गाधिपति इन्द्र की ओर से पृथिवी लोकस्थानीया भारतीय प्रजा के लिए अन्नवस्त्र का प्रबन्ध था। साथ ही में प्रत्येक प्रजा का (मानवधर्म्म शास्त्रानुसार) कर्त्तव्य भी देवेन्द्र की ओर से ही नियत था। चिकित्सा, दस्यूपद्रवों से रक्षा, अन्नवस्त्र का प्रबन्ध-आदि जीवनरक्षोपयोगी सारे साधनों की व्यवस्था राष्ट्रपति इन्द्र करते थे। इस प्रकार इन्द्र द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्य पथ पर आरूढ रहती हुई वर्णाश्रमधर्म्मानुगामिनी प्रजा (देवयुग में) सब चिन्ताओं से विमुक्त थी।

---

*इस आख्यान का अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत तीनों चरित्रों के साथ सम्बन्ध है। प्रकृत में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र की दृष्टि से ही यह श्रुति उपात्त हुई है।

भारतीय प्रजा के परिपालन के लिए भारतवर्ष में जो अन्न का कोश (अन्न का गल्ला) सुरक्षित रहता था, वह **'वाम'** नाम से प्रसिद्ध था। इस के विभाजकाध्यक्ष (बटवारा करनेवालों के सर्दार) वामदेव थे। एवं इस अन्न की रक्षा के लिए पितामह प्रजापति के औरसपुत्र 'ओङ्कार' नियत थ। **'वसोर्धारानगरी'** में यह अन्नकोश सदा प्रभूत मात्रा में विद्यमान रहता था। ओङ्कार की आज्ञा से वामदेव द्वारा आवश्यकतानुसार भारतीय प्रजा में अन्नवितरण होता रहता था। एक समय 'एमूष' नाम से प्रसिद्ध वराहासुर ने इस अन्नकोश पर आक्रमण किया। यह वराह असुर आसुरत्रैलोक्य प्रदेश में सात पर्वतों को अपनी पुरियों का रक्षक बना कर बड़े सुरक्षित, अगम्य, अविज्ञेय स्थान में निवास करता था। वसोर्धारा से पश्चिमस्थ इस आसुर प्रान्त के मध्य में सात पर्वत आते थे। सातों के आगे क्रमशः २१ पत्थर की पुरिएं थीं। सबसे अन्त की पुरी में वराह असुर निवास करता था। वसोर्धारा पर आक्रमण कर सारा अन्न चुराकर वराह अपने सुरक्षित स्थान में आ छिपा। जब यह समाचार विष्णु और इन्द्र को मिले तो इन्हों ने परस्पर की मन्त्रणा से गुप्त रूप मे इस अगम्य स्थान का पता लगा कर इस आसुर बल का विनाश किया। इसी सुप्रसिद्ध आख्यान का निरूपण करती हुई कृष्णश्रुति कहती है—

"विष्णुर्यज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात्। तमन्यदेवता नाविदन्। इन्द्रस्त्ववेत्। विष्णुरिन्द्रमब्रवीत्-को भवानिति ? इन्द्रोऽब्रवीत् दुर्गाणामसुराणां हन्ताऽहम्। भवान् कः ?

विष्णुरब्रवीत्—अहं दुर्गादाहर्त्तास्मि। त्वं तु दुर्गहन्ताऽसि—इत्यतो वराहमसुरं जहि। स हि वराहो वाममुष (अन्नमुषः) एकविंशत्या पुरां पारेऽश्ममयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति। तत इन्द्रस्ताः पुरो भित्त्वा वराहस्य हृदयमविध्यत्। ततस्तत्र यदासीत्—तद्विष्णुराहरत्"—

(तै.सं.६।२।४।)।

वराह असुर के घर में अन्यान्य भोजन सामग्रियों के साथ प्रतिदिन शत (१००) महिष (भैंसे) क्षीरौदन के साथ परिपक्व होते थे। जिस समय विष्णु गुप्तरूप से वराह के दुर्ग में पहुंचे थे, उस समय वराह असुर की माता सेवक वर्ग से भोजन की व्यवस्था करवा रही थी। तत्काल विष्णु ने इन्द्र-सहयोग से छापा मार कर वराह द्वारा लाए गए अन्नकोश के साथ साथ यह सारी भोजन सामग्री भी अपने अधिकार में करली। इसी घटना का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

"अस्येदु मातः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना॥
मुषा यद् विष्णुः पचतं सहीमान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्त॥१॥
विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः॥
शतं महिषन् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥२॥

(ऋक् सं. ८।७७।१०)।

—∘—

इसी प्रकार एकबार पणि जाति की गायों को बल नाम के असुर ने चुरा लीं थीं। इस सम्बन्ध में भी देवता और असुरों में घोर संग्राम हुआ है। अन्त में इन्द्र के हाथ से बलासुर मारा गया है। तभी से इन्द्र 'बलाराति' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इस विजय के उपलक्ष में पणियों की ओर से विपाशा (आजकल 'व्यास' नाम से प्रसिद्ध नदी के निर्गम गिरि प्रदेश में विजयाभिनन्दन महोत्सव हुआ था। वहां अभिगर-प्रतिगर* द्वारा इन्द्र का बड़ा सम्मान हुआ था। (देखिए ऋक्सं.१०मं।१०८सू०।)।

इस प्रकार समय समय पर देवता और असुरों में युद्ध हुआ करते थे। यों तो देवासुर संग्राम अनन्त हैं। परन्तु ऋग्वेदकाल में १२ महासङ्ग्राम मुख्य माने गए हैं। कृष्णसमुद्र (ब्लेकसी) से पश्चिम आर्मीनिया प्रान्त में, असीरिया प्रान्त में, स्वर्ग में, भूमि में आदि तत्तस्थानों में १२ महायुद्ध हुए हैं। वे १२ महायुद्ध निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं—

द्वादशमहासंग्रामाः

१-आड़ीवक	५-त्रैपुर	९-ध्वजयुद्ध
२-कोलाहल	६-मान्धक	१०-बलिबन्ध
३-हालाहल	७-तारक	११-हैरण्याक्ष
४-जलधिमन्थन	८-वार्त्र	१२-नारसिंह

*प्रतिष्ठित पुरुष के लिए जो अभिनन्दनपत्र पढ़ा जाता है, उसे वैदिक परिभाषा में "अभिगर" कहा जाता है, एवं उस सत्कृत पुरुष की ओर से पढ़ा जाने वाला उत्तरपत्र "प्रतिगर" कहलाता है।

भारतवर्ष के, किंवा देवविभूति के सौभाग्यसूर्य्य को अस्त करने वाला जो अन्तिम युद्ध हुआ, उसके बाद प्रायः देवबल क्रमशः अवनति को ही प्राप्त होता गया। वह युद्धेतिहास 'ताराहरणोपाख्यान' नाम से प्रसिद्ध है। कहना न होगा कि आज भी उसी प्रकार रूपान्तर से देवबल पर आसुरबल का आक्रमण हो रहा है। उस समय की, एवं आज के समय की परिस्थिति में अन्तर इतना हीं है कि उस समय देवबल सावधान था, विज्ञान-यज्ञ-तप-आदि बलों से युक्त था। आज का भारत वैदिक साहित्य की उपेक्षा करता हुआ अपनें उक्त बलों से वञ्चित रहता हुआ पद पद पर पराभूत एवं अपमानित हो रहा है। "भारतवर्ष विस्मृतप्राय वैदिक साहित्य को अपना कर तद्द्वारा पुनः असुरबल पर विजय प्राप्त करै" यही मङ्गल कामना करते हुए प्रकृत आख्यान से सम्बन्ध रखने वाले आधिभौतिक चरित्र को समाप्त किया जाता है।

(देवासुरदायविभागसम्बन्धीआधिभौतिकचरित्रसमाप्त)

आध्यात्मिकरहस्य

'यथाण्डे तथा पिण्डे' इस सिद्धान्त के अनुसार आधिदैविक ब्रह्माण्ड की जो स्थिति है, ठीक वही स्थिति आध्यात्मिक पिण्ड की समझनी चाहिए। जिस प्रकार अधिदैवत में देवासुर त्रैलोक्य व्यवस्था है, इसी प्रकार अध्यात्म में भी त्रैलोक्य व्यवस्था व्यवस्थित है। प्रकाशित भाष्य में कई बार इस आध्यात्मिक त्रिलोकी का निरूपण किया जा चुका है, जैसा कि विषय सूची से विदित होगा। अतः इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर प्रकरण संगति के लिए केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि हमारे शरीर में हृदय से नीचे का सारा प्रदेश आसुरत्रैलोक्य है, एवं हृदय से ऊपर का मस्तकपर्य्यन्त सारा प्रदेश देवत्रैलोक्य है। यह त्रिभागव्यवस्था हममें १६ वर्ष के अनन्तर होती है। १६ वर्ष पर्य्यन्त सम्पूर्ण अध्यात्मजगत् में केवल असुरों का ही साम्राज्य रहता है। औपनिषद विज्ञान के परिज्ञाता विद्वान् यह भलीभांति जानते हैं कि—"**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**" (छान्दोग्य उपनिषत्—पञ्चाग्निविद्या) इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का प्रधान उपादान 'अप्तत्व' (पानी) ही है। प्रत्यक्ष में भी हम पानी की ही प्रधानता देखते हैं। पिता के शुक्र, माता के शोणित के समन्वय से (मिथुनभावरूप याज्ञिक समन्वय से) ही प्रजोत्पत्ति होती है। शुक्र—शोणित दोनों हीं तरल पदार्थ हैं, अब्रूप हैं। भार्गव सौम्य पानी को शुक्र कहते हैं, यह पुरुष में प्रतिष्ठित है आंगिरस आग्नेय पानी को शोणित कहते हैं, यह स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में शुक्र भृगुतत्त्व है, शोणित अंगिरातत्त्व है। "**आपो भृग्वङ्गि-**

रो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्" इस अथर्व सिद्धान्त के अनुसार शुक्र शोणितरूप आध्यात्मिक भृग्वङ्गिरा दोनों हीं पानी हैं। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के आधिभौतिक चरित्र के अनुसार 'आप्य-प्राण' का ही नाम असुर है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध हो जाता है कि आप्यप्राणमय, अतएव आसुरभावप्रधान शुक्रशोणित के समन्वय से उत्पन्न होने वाली प्रजा में आरम्भ में असुरों का ही साम्राज्य रहता है। कम से कम पार्थिवप्रजा में तो अवश्य ही कुछ समय के लिए सारी अध्यात्मसंस्था पर असुरों का ही अधिकार रहता है। कारण स्पष्ट है।

'अद्भ्यः पृथिवी' इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्म्माण पानी से हुआ है। यह आपोमयी पृथिवी अप्सम्बन्धसे आसुरप्राणमयी है। यही पार्थिवरस पार्थिवप्रजा का जीवनीय रस है। देवता की विकास भूमि सूर्य्य है। सम्पूर्ण देवता बुद्धि रूप से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होते हैं। बुद्धि की प्रतिष्ठा-भूमि 'मन' है। यह मन पुरुष के १६ वर्ष पर्य्यन्त अपरिपक्व रहता है। १६ वें वर्ष में पार्थिवसंस्था (शरीर) के साथ साथ जब मन पूर्णरूप से परिपक्व हो जाता है, तभी सौर बुद्धि को पूर्णरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। इससे पहिले प्रत्येक मनुष्य 'बालक' कहलाता है। इस अवस्था में केवल मन की प्रधानता है। जन्मकाल से आरम्भ कर १६ वें वर्ष तक मन की चञ्चल वृत्तियों की ही प्रधानता रहती है। इस अवस्था में इस व्यक्ति पर इतर मनुष्य का निग्रह—अनुग्रह यथेच्छ हो सकता है। क्योंकि मन स्वयं ऋत है। उसमें सत्यलक्षण आत्मनिर्भरता का अभाव है। जरा किसी ने फटकारा, बालक तत्काल रो देता है। अपने कर्त्तव्य का

इस अवस्था में बोध नहीं होता। इसलिए इस अवस्था का सुचारुरूप से इस सञ्चालन करने के लिए किसी अभिभावक की अपेक्षा होती है। दुर्भाग्य से यदि यह अवस्था बालक बिना नियन्त्रण के निकाल देता है तो वह आगे जाकर सर्वथा लक्ष्यच्युत हो जाता है। इस लिए मातापिता का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि जब तक बालक १६ वर्ष का न होजाय तब तक-

"लालनाद्बहवो दोषास्ताड़नाद् बहवो गुणाः।
अतः शिष्यं च पुत्रं च ताड़येन्नतु लालयेत् ॥"

इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए बालक के ऊपर मधुर शासन करे। अनुचित स्नेह के वशीभूत होकर जो माता पिता बालक की उपर्युक्त अवस्था में उपेक्षा कर देते हैं—आगे जाकर वह बालक प्राप्तवयस्क होता हुआ सर्वथा उच्छृंखल एवं अमर्यादित बनता हुआ माता पिता के पूर्णपश्चात्ताप का कारण बनजाता है, जिसका कि प्रत्यक्ष निदर्शन आज भारतवर्ष का प्रत्येक घर बन रहा है। बतलाना इस परिस्थिति से हमें यही था कि १६ वर्ष से पहिले बालक में बुद्धि व्यापार नहीं के समान होता है, मन की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार बिना सौर प्रकाश के चन्द्रमा स्वकृष्ण-रूप में परिणत रहता हुआ ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वृत्रासुर' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव बिना बुद्धि सयोग के मनोरूप चन्द्रमा प्रकाशशून्य रहता हुआ आसुर-भाव प्रधान ही रहता है। सोलह वर्ष तक समझ (बुद्धि) आती नहीं, समझ नहीं, तो सुतरां नासमझी (अज्ञान) का प्रभुत्व सिद्ध हो जाता है। अज्ञान से बढ़ कर और प्रबल असुर कौन होगा। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आत्मप्रजापति के दायभाग रूप इस शरीर पर १६ वर्ष तक असुरों का ही

प्रभुत्व रहता है। आगे जाकर क्या होता है ? यह भी सुनिए। हृदय में प्रादेषमित अशनाया के अधिष्ठाता विष्णुदेवता प्रतिष्ठित हैं। हृदय से नीचे पार्थिव प्राण की (अपान की) प्रधानता है, हृदय से ऊपर सौरप्राण की (प्राण की) प्रधानता है। हृदयस्थ वामन विष्णु स्व अशनाया (भूख) से अन्नाकर्षण कर तद्रस से दोनों का पालन करते रहते हैं। विष्णु देवता के इसी पालनधर्म्म को लक्ष्य में रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥ (कठ.)

'अन्नमयं हि सोम्य! मनः' इस सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादान अन्नरस (सोम) है। इसी से क्रमशः मन की पुष्टि होती है। अन्न का आगमन अशनाया सूत्र (बुभुक्षा) पर निर्भर है। यदि भूख न लगे तो अन्नागमन असंभव होजाय अशनायासूत्र के संचालक हृदयस्थ विष्णु देवता हैं। इन्हीं की कृपासे शारीराग्नि में अन्नाहुति होती है। इस अन्नाहुतिरूपयज्ञ सम्बन्ध से ही " यज्ञो वै विष्णुः " " विष्णुर्वै यज्ञः " इत्यादि रूपसे विष्णु को यज्ञ कहा जाता है। इस वैष्णवयज्ञ का परिणाम यह होता कि अन्नरस के क्रमिक आगमन से मन क्रमशः सबल होता जाता है, आगे जाकर १६वें वर्ष में अन्नरसागमन से जब मन अपने पूर्णस्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो तत्काल सौर बुद्धिभाव का उदय हो जाता है। अज्ञानमूर्त्ति असुरों का एकच्छत्र शासन उठ जाता है। शरीर में देवताओं का भी प्रभुत्व हो जाता है। इसी अवस्था में उत्तमाङ्ग-अधमाङ्ग विभागों का विकास होता है। १६वर्ष से नीचे मनुष्य को मानव सभ्यता की उत्तमता अधमता का अनुभव नहीं होता। १६ वर्ष बाद उसे "अयं साधुः, अयमसाधुः" यह विवेक होता है। इस प्रकार विष्णु देवता यज्ञ के व्याज से अध्यात्म संस्था के दो विभाग कर डालते हैं। इन विभागों की सीमा पूर्व कथनानुसार हृदय है।

देवत्रिलोकी	आसुरत्रिलोकी
शिरः—द्यौः	मूलस्थानम्—द्यौः
कण्ठम्—अन्तरिक्षम्	नाभिः——अन्तरिक्षम्
हृदयम्—पृथिवी	हृदयम्——पृथिवी

३ शिरः

२ कण्ठम्

१ हृदयम् ३

उत्तमाङ्ग-देवप्रधान

नाभिः २

अधमाङ्ग-आसुरप्रधान

मूलम् १

———•———

श्रीः
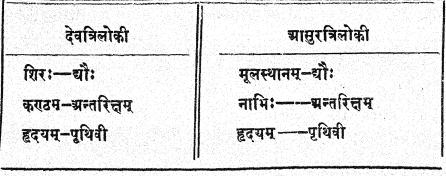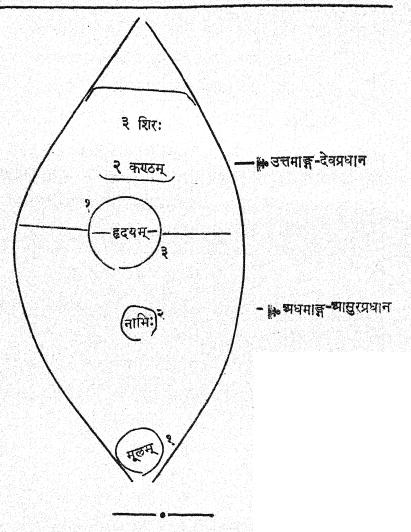
आधिदैविकचरित्र

सूचीकटाहन्याय से आख्यान के आधिभौतिक (ऐतिहासिक) एवं आध्यात्मिक चरित्रों का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त आधिदैविक रहस्य की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्शित कराया जाता है। "सृष्टि के आरम्भ-काल में देवता और असुर दोनों का इस भूपिण्ड पर समानाधिकार न था। आरम्भ में सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल पर असुरों का ही साम्राज्य था। जब तक भूपिण्ड एकमात्र असुरों के अधिकार में रहा, तब तक वह सर्वथा अयज्ञिय रहा। आगे जाकर देवताओं नें विष्णु की सहायता से इसे यज्ञिय-प्रदेश बनाया। बस विष्णुद्वारा भूपिण्ड का जो प्रदेश यज्ञिय बन गया, वही स्थान आगे जाकर 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। साथ ही में वेदिरूप इस यज्ञप्रधान भूप्रदेश से असुरों का आधिपत्य सदा के लिए हट गया। देवताओं नें निर्विघ्न इस प्रदेश पर यज्ञवितान किया। तद्द्वारा अमृतमयी स्वर्गप्रतिष्ठा को प्राप्त किया। सृष्टि के आरम्भ में उक्त चरित्र हुआ था, एवं आज भी वही स्थिति है। उसी प्रकार देवता लोग यज्ञ कर रहे हैं। एवं जब तक पार्थिव संवत्सर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहेगा, तब तक इसी प्रकार देवयज्ञ वितत होता रहेगा।

इस आधिदैविक चरित्र में भूपिण्ड—गायत्री—त्रिष्टुप्—जगतीछन्द-विष्णु—देवता इतनें ज्ञातव्य विषय हैं। इन पदार्थों के स्वरूपपरिचय से

उक्त चरित्र का वैज्ञानिक भाव गतार्थ हो जाता है। इन सब पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा भूपिण्ड है। अतः सर्वप्रथम उसी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। 'अद्भ्यः पृथिवी' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। पानी ही वायु सम्बन्ध से क्रमशः आपः-फेन-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य इन आठ अवस्थाओं में परिणत होकर भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक बन गया है। जिस प्रकार देवप्राण अग्निप्रधान है, उसी प्रकार असुरप्राण अप्प्रधान है। आप्य प्राण को ही असुर माना जाता है। कारण स्पष्ट है। 'असुं-राति-ददाति' के अनुसार बलाधायक प्राण असुर है। इस का प्रवर्त्तक प्राण ही असुर है। वह प्राण 'आपोमयः प्राणः' के अनुसार आप्यप्राण ही है। जब तक भूपिण्ड में पूर्ण घनता नहीं आ जाती तबतक, इस में अग्नि प्रतिष्ठित नहीं होता। अग्नि सत्य तत्त्व है। सहृदय--सशरीरी भाव ही सत्यभाव है। सर्वात्मना पिण्ड (शरीर) निर्म्माण होने के अनन्तर ही भूपिण्ड में हृदयभाव उत्पन्न होता है। हृदयोत्पत्ति के अनन्तर ही वहां सत्याग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। पिण्ड निर्म्माण काल में पृथिवी सर्वथा काल्वालीकृता (कर्दम व्याप्त) रहती है। एवं इस अवस्था में सर्वात्मना पानी की ही प्रधानता रहती है। अग्नितत्त्व प्रायः सर्वथा अप्रतिष्ठित रहता है। पानी की प्रधानता से काल्वालीकृता पृथिवी पर आप्यप्राणमूर्त्ति असुरों का ही (इस अवस्था में) आधिपत्य रहता है। भूपिण्ड की इस आप्यप्राण प्रधान अवस्था को लक्ष्य में रख कर ही "अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्" यह कहा गया है।

"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी" इस सिद्धान्त के अनुसार विश्वरचना में गुण-दोष दोनों भावों का योग रहता है। यही नहीं, अपितु

विश्वरचना के सम्यक् निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि विश्व में गुणभाव अप्रधान है, एवं दोषों की प्रधानता है। कारण यही है कि, सृष्टि तमोमूला है। तम स्वयं एक महादोष है। ऐसी अवस्था में तमःप्रधान विश्व को दोषप्रधान मानना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। विश्वव्यापक गुण-दोषविभूति को शास्त्र में क्रमशः दैवीसंपत्ति, आसुरीसंपत्ति नाम से व्यवहृत किया गया है। सारा विश्व गुण--दोष की प्रतिस्पर्द्धा है। कहीं गुणभाव का विजय है, परन्तु काचित्क। कहीं दोषभाव का साम्राज्य है, प्रायः सर्वत्र। गुणदोष की प्रतिस्पर्द्धा क्या है, देवासुरसंग्राम है।

जिस विश्व में उक्त देवासुरसंग्राम हो रहा है, वह विश्व स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांच भागों में विभक्त है। पांचों पर्वों में देवता (गुणविभूति), एवं असुर (दोषविभूति) दोनों प्रतिष्ठित रहते हैं। सब से पहिले इन पांचों विश्वपर्वों की गुणविभूति को ही लीजिए। स्वयम्भू की गुणविभूति ऋषि है, परमेष्ठी की गुणविभूति पितर है, सूर्य की गुणविभूति देव है, चन्द्रमा की गुणविभूति गन्धर्व है, एवं पृथिवी की गुणविभूति मनुष्य है। यह पांचों ही प्राणरूप हैं। जिस प्राणी में जिस प्राण की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में जिस प्राणी में जो प्राण विकसित रहता है, वह प्राणी भूलोक में उसी नाम से व्यवहृत होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि स्वयम्भू के प्राणदेवता ऋषि हैं, परमेष्ठी के प्राणदेवता पितर हैं, सूर्य के प्राणदेवता देव हैं, चन्द्रमा के प्राण-देवता गन्धर्व हैं, एवं पृथिवी के प्राणदेवता मनुष्य (वैश्वानरप्राण) हैं। यह तो हुआ पाचों पर्वों की दिव्यविभूति का दिग्दर्शन। अब चलिए आसुरी विभूति की ओर। स्वयम्भू की आसुरी विभूति 'बल' है। स्वायम्भुव

असुरप्राण **'बल'** नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र इस बलग्रन्थि के विघातक हैं, अतएव इन्द्र को 'बलाराति' (बल का शत्रु) कहा जाता है। पारमेष्ठ्य असुरप्राण **'अनिरुक्त तम'** नाम से प्रसिद्ध है, सौर असुर प्राण **'नमुचि'** कहलाता है, चान्द्र असुर प्राण **'वृत्र'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं पार्थिव असुर प्राण **'सैंहिकेय'** नाम से व्यवहृत हुआ है।

ज्योति प्रकाश है, तम अन्धकार है। देवता और असुर दोनों का सामान्य लक्षण ज्योति एवं तम पर ही निर्भर है। ज्योतिर्भाग देवता है, तमो भाग असुर है। यह ज्योति तत्त्व ज्ञानज्योति, अज्योति, स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति भेद से पांच भागों में विभक्त है। ज्ञानज्योति का स्वायम्भुव ऋषि प्राण से, अज्योति का पारमेष्ठ्य पितर प्राण से, स्वज्योति का सौर देवप्राण से, परज्योति का चान्द्र गन्धर्व (सौम्य) प्राण से, एवं रूप-ज्योति का पार्थिव मनुष्यप्राण से सम्बन्ध है। अव्यक्त स्वयम्भू ज्ञान-ज्योतिर्मय है, अतएव वहां असुरों की प्रधानता नहीं रहती। परमेष्ठी वायु-रूप होने से यद्यपि अज्योति है, परन्तु सौर दर्शपूर्णमास के कारण परमेष्ठी में परज्योति का भी उदय हो जाता है। परमेष्ठी स्वस्वरूप से अनिरुक्त तमोरूप है। इस के चारों ओर सूर्य्य परिक्रमा करता है। सूर्य्य की परिक्रमा से परमेष्ठी का जो भाग प्रकाशित हो जाता है, वही भाग अध्यात्मभाषा में सत्त्वमहान् कहलाता है। अप्रकाशित भाग तमोमहान्, एवं सान्ध्य भाग रजोमहान् कहलाता है। स्वयम्भू अव्यक्त है, परमेष्ठी महान् है। सूर्य्य परि-क्रमाकृत तमः प्रकाश के तारतम्य से ही परमेष्ठी महान् में सत्त्व—रज—स्तमो भेद से त्रैगुण्य का उदय हो जाता है। जो भाग सत्त्वप्रधान है, उस में पितर

प्राण का साम्राज्य है। जो भाग अप्रकाशित है, उस में अनिरुक्त तमोरूप असुर प्राण की प्रधानता है। एवं सन्धिगत प्राण 'गन्धर्व' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा है सूर्य्य। सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मय है। अतएव सौरमण्डल में तमोमय असुरों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। यहां सदा ज्योतिर्म्मय ज्ञान-ज्योतिर्गर्भित भूतज्योतिर्म्मय) देवताओं का ही साम्राज्य रहता है। हां वृष्टि के उपक्रम काल में मेघगत नमुचि प्राण अवश्य ही थोड़ी देर के लिए अन्तरिक्ष में अपना प्रभुत्व जमा लेता है। परन्तु थोड़े ही समय में सौर इन्द्र रश्मिरूप वज्र से मेघगत नमुचि का शिरश्छेद कर डालते हैं। जो नमुचि पानी का अवरोध कर प्रजा का उत्पीड़न कर रहा था, वह नष्ट हो जाता है, वृष्टि होने लगती है। असुरविनाश से प्रजा में पूर्ण शान्ति हो जाती है। चौथा चन्द्रमा है। जो स्थिति परमेष्ठी की है, वही इस की है। सूर्य्य-प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रभाग देवमय है, पृष्ठभाग वृत्रासुरमय है, सान्ध्यभाग गन्धर्वप्रधान है। पांचवां है भूपिण्ड। यह केवल रूपज्यो-तिर्म्मय है। अत एव आरम्भ में इस में असुरों का ही साम्राज्य मानना पड़ता है। भूपिण्ड भूतप्रधान है। यहां आवरण की पराकाष्ठा है, प्रकाश सर्वथा पराभूत हो रहा है। "जिस समय भूपिण्ड बनकर तय्यार हुआ होगा, उस समय जब कि सौर प्रकाश का भी भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध न हुआ था) इस पर आप्यप्राण प्रधान तमोमय असुरों का ही साम्राज्य रहा होगा" यह मान लेना युक्ति संगत ही प्रतीत होता है। भूपिण्ड की उसी प्रारम्भिक स्थिति को लक्ष्य में रख कर ब्राह्मण श्रुतिने कहा है—

"अथाहासुरा मेनिरे—अस्माकमेवेदं खलुभुवनामिति"।

पूर्व निरूपण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, रूपज्योतिर्मय भूपिण्ड स्वस्वरूप से सर्वथा कृष्ण है। जब तक सौ॰ संवत्सरयज्ञ का इस के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक सारा भुवन असुरों के ही (तम के ही) अधिकार में रहता है।

स्रष्टा—षोडशी प्रजापतिः

	विश्वपत्र	देवता	असुर	ज्योतिः	तमः
१	स्वयम्भूः	ऋषयः	बलाख्याः	ज्ञानज्योतिः	बलावरणम्
२	परमेष्ठी	पितरः	अनिरुक्तं तमः	अज्योतिः	अनिरुक्तं तमः
३	सूर्यः	देवाः	नमुचिः	स्वज्योतिः	×
४	चन्द्रमाः	गन्धर्वाः	वृत्रः	परज्योतिः	कृष्णपक्षान्धकारः
५	पृथिवीः	मनुष्याः	सैंहिकेयः	रूपज्योतिः	रात्रेस्तमः

"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी"

आगे जाकर वामन विष्णु की सहायता से देवता पृथिवी पर आते हैं, एवं यज्ञोपयुक्त प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। प्रकृत कथानक से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि विष्णु देवता अन्य देवताओं के अग्रणी न बनते तो देवता अपना दायभाग लेने में सर्वथा असमथ ही रहते। देवताओं नें किया क्या? "भूपिण्ड के जितने प्रदेश में विष्णु देवता व्याप्त हो जांय, वह भूप्रदेश हमारा, शेष तुम्हारा"। असुरों नें इस मांग को स्वीकार किया। फलतः देवताओं नें पूर्व की ओर विष्णु को प्रतिष्ठित कर चारों ओर से इसे छन्दों से वेष्टित कर लिया। छन्दोऽवच्छिन्न विष्णु जितने प्रदेश में व्याप्त हुए, देवताओं नें उसे अपने अधिकार में कर लिया।

"यज्ञो वै विष्णुः" (तां०ब्रा०९।६।१०,—**"विष्णुर्वै यज्ञः"** (ऐ०१।१५) इत्यादि श्रुतिएं यज्ञ और विष्णु को अभिन्नार्थक मानतीं हैं। उधर—**"अग्निर्वै यज्ञमुखम्"** (तै०ब्रा०१।६।१।८)-**"एष हि यज्ञस्य सुकृतुर्यदग्निः"** (शत०१।४।१।३५)-**"अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य"** (शत०१।५।२।१-१४)-**"अग्निरु वै यज्ञः"** (शत०५।२।३।६।) इत्यादि श्रुतिए अग्नि को यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बतला रहीं हैं। **"आहुतिर्हि यज्ञः"** (शत०३।१।४।१।) से आहुतिक्रिया को ही यज्ञ माना जाता है। इन सब श्रौत वचनों के समन्वय से हम यज्ञ के **"अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः"** इस लक्षण पर विश्राम करते हैं। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद अग्नि में अन्न सोम की आहुति होने से अन्न अन्नाद का रासायनिक मिश्रण होता है। दोनों हीं पूर्व-रूप को छोड़ते हुए किसी तीसरे अपूर्व स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

बस अन्नादान्न के मिश्रण से उत्पन्न यह अपूर्व पदार्थ ही यज्ञ कहलाता है। अन्नादान्न की सम्मिश्रण प्रक्रिया ही यज्ञपदार्थ है। अतएव **'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'** इस न्याय से यह आहुति प्रक्रिया भी 'यज्ञ' कहलाने लगती है। अतएव आहुतिकाल में 'क्या हो रहा है'? इस प्रश्न के उत्तर में 'यज्ञ हो रहा है' यह व्यवहार देखा जाता है। दाहक पदार्थ अग्नि है, दाह्य पदार्थ सोम है। 'सूयते' इति सोमः। यह तत्त्व आहुत होने से ही तो सोम नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सोमवल्ली से निकलने वाला रसविशेष ही सोम है, परन्तु व्यापक लक्षण के अनुसार अन्नादाग्नि में आहुत होने वाले पदार्थ मात्र 'सोम' शब्द से व्यवहृत किए जा सकते हैं। इध्म-घृत-तिल-सोमरस आदि सब सोम हैं। अग्नि सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है। अतएव जहां यज्ञ (विष्णु को अग्नि कहा जाता है, वहां-**"यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता"** (शत०७।५।१।२१)-**"सोमो वैष्णवो राजा"** (शत०१३।४।३।८)-**"यो वै विष्णुः सोमः सः"** (शत०३।३।४।२१) इत्यादिरूप से यज्ञात्मक विष्णु को सोम शब्द से भी व्यवहृत किया गया है। अग्नी-सोममय यज्ञमूर्त्ति विष्णु की प्रथम विकास भूमि सूर्य्य है। सूर्य दाहक सावित्राग्निमय है रोदसी ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इसी सौर अग्निमय, अतएव 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध धामनिधि का प्रादुर्भाव होता है, जैसा कि **"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। **"सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्"** (शत०२।२।५।६।) यह वचन भी सूर्य्य को ही पहिला अग्निहोत्र बतला रहा है। यह सौरयज्ञ भूतज्योतिर्म्मय है। यहां (सौर मण्डल में, किंवा यज्ञरूप विष्णुमण्डल में) कभी तम का प्रवेश नहीं होता, अतएव पुराण-

भाषा में इस सौर विष्णु को "श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण भगवान्" कहा जाता है। सौर अग्नि सत्य है-(देखिए शत० १४।१।२।२२)। यह सत्याग्निपिण्ड (सूर्य्य बिम्ब) आपोमय परमेष्ठी मण्डल में प्रतिष्ठित है। सत्यसूर्य्य के चारों ओर व्याप्त रहने वाले इसी अपसमुद्र को लक्ष्य में रख कर मन्त्र-श्रुति कहती है—

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात्सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥

(ऋक्सं० ३।२२।३)।

नारद प्राण से उत्पन्न होने के कारण पानी को नार कहा जाता है। यही सूर्य्य का अयन (प्रतिष्ठा भूमि) है। अतएव सूर्य्य को सत्यनारायण' कहना सर्वथा अनुरूप होता है। कहना यही है कि यज्ञविष्णुओं में प्रथम विष्णु, दूसरे शब्दों में प्रथम यज्ञ सूर्य्य ही है। इसी सूर्य्य विष्णु को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—"**स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञः—असौ स आदित्यः**" (शत० १४।१।१।६)।

"**चित्रं देवानामुदगात्**" इत्यादि मन्त्रानुसार सूर्य्य देवघन है। सूर्य्य की प्रत्येक रश्मि देवप्राणमयी है। रश्मिगत सम्पूर्ण प्राण देवता सत्यसूर्य्य के केन्द्र से बद्ध हैं। अतएव इन के लिए "**सत्यसंहिता वै देवाः**" यह कहा जाता है। दिग्विभाग के अनुसार प्राची-(पूर्वा)-दिक् देवताओं की है। दूसरे शब्दों में सौरविष्णु पूर्वा दिक् के अधिष्ठाता हैं। आरम्भ में यह सूर्य्यमूर्त्ति विष्णु यद्यपि प्राचीदिक् में ही प्रतिष्ठित थे, परन्तु

आगे जाकर छन्दों के आवरण से यह यज्ञविष्णु चारों दिशाओं में व्याप्त होत हुए भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यज्ञरूप सूर्य्यविष्णु प्राची दिक् में प्रतिष्ठित हैं, इसी नित्य सिद्ध स्थिति को लक्ष्य में रख कर 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' यह कहा गया है।

यज्ञ में स्वयं गति नहीं है। दूसरे शब्दों में यज्ञमूर्त्ति सूर्य्यबिम्ब स्वस्थान में सर्वथा अविचाली है। रश्मियों में रहनें वाले प्राणमूर्त्ति, अतएव गतिधर्म्मा देवताओं के व्यापार से ही सौरयज्ञ का चारों दिशाओं में वितान होता है। दूसरे शब्दों में सौर अग्नि प्राणदेवताओं के स्वरूप में परिणत होकर ही संवत्सर स्वरूप का पधिष्ठाता बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त होता है। स्वयं अग्नि मूर्त्ति विष्णु में गति नहीं है, गति है देवताओं में। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर-"देवताओं नें विष्णु को प्राची दिक् में पसार कर उस छन्दों से वेष्टित कर लिया" यह कहा गया है।

अग्नि में आहुत सोम अग्निरूप में परिणत हो जाता है, फलतः सोम की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद हो जाता है। अतएव हम इस अग्नीषोमात्मक विष्णु को आगे जाकर अग्नि नाम से ही व्यवहृत करेंगे। इस अग्नि की (विष्णु की) प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदक् भेद से चार अवस्थाएं हो जातीं हैं। इसी आधार पर-"चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास" यह कहा गया है। इस अनुगम वचन के अनेक अर्थ होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है---(देखिए शत०ब्रा० विज्ञानभाष्य, तृतीयवर्ष-'आप्त्याविज्ञान' ६४ पृष्ठ से ११८ पर्य्यन्त)।

उपर्युक्त निगम के अनुसार मौलिक अग्नि चार भागों में विभक्त है। वे चारों अग्नि, किंवा एक ही अग्नि की चार अवस्थाएं क्रमशः **ब्रह्माग्नि, आङ्गिरोऽग्नि, अन्नादाग्नि, पाशुकाग्नि,** इन नामों से प्रसिद्ध है। स्वायम्भुव वेदाग्नि ब्रह्माग्नि नाम से प्रसिद्ध है। इसी क लिए–'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**' (शत० १०।५।१।१) यह कहा जाता है, एवं यही अग्नि 'पुरुष' (यजुःपुरुष) कहलाया है। ऋक्समुद्र को महोक्थ कहा जाता है, सामसमुद्र को महाव्रत काह जाता है, एवं यजु को पुरुष कहा जाता है। यही वागग्नि है। याज्ञिक परिभाषामें इसीको 'सार्वयाजुषाग्नि' कहा गया है। इसी वागग्नि से (स्वायम्भुव यजुरग्नि से) सर्वप्रथम आपोमय परमेष्ठी का जन्म होता है। इसी क लिए "**सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत।**" (शत० ६।१।१।६) यह कहा गया है। इसी सर्वमूलभूत प्रतिष्ठाग्निमयी वेदमयी वाक् के लिए–"**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**' यह वचन प्रसिद्ध है।

दूसरा है अङ्गिरोऽग्नि। इसी को परमेष्ठी के सम्बन्ध से 'सुब्रह्माग्नि' एवं 'ऋताग्नि' नाम से व्यवहृत किया जाता है। ऋतमूर्त्ति यही अङ्गिरोऽग्नि आगे जाकर (सूर्य्य में) सत्याग्निरूप में परिणत होकर अन्नादाग्नि नाम से प्रसिद्ध होता है। आपोमय परमेष्ठी में सर्वत्र ऋतरूप से व्याप्त रहने वाला अथर्ववेदमूर्त्ति ऋताग्नि ही अङ्गिरोऽग्नि है।

तीसरा अन्नादाग्नि है। सौर अग्नि ही अन्नादाग्नि है। आहुत पदार्थों को अपने उदर में हुत कर लेना इसी अग्नि का काम है। इसी अन्नादानभाव

की प्रधानता से इसे अन्नादाग्नि कहा जाता है। इसी को 'यज्ञाग्नि' 'छंदस्याग्नि' 'सत्याग्नि' आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। यह अग्नि पारमेष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि ही संकुचितावस्था है। आपोमय परमेष्ठी में जो अग्नि ऋत (परमाणु) रूप से इतस्ततः चारों ओर व्याप्त रहता है, वही वायु की प्रेरणा से एक नियत केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ कालान्तर में सूर्य्यपिण्डरूप में परिणत हो जाता है। पिण्डावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि ही 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत होता है। अङ्गिरोऽग्नि ऋतप्रधान होने से केन्द्रशून्य है। अतः उस में अशनाया (बुभुक्षा) का अभाव है। परन्तु अन्नादाग्नि सकेन्द्र है, सत्य है। अतः इस में इसी हृदयभाव के कारण अशनाया जाग्रत हो पड़ती है। सोमान्न से ही अङ्गिरोऽग्नि संकुचित होता हुआ पिण्डरूप में परिणत हुआ है अपने इसी पिण्डस्वरूप की रक्षा के लिए इस में निरन्तर अन्नादान की इच्छा बनी रहती है। इसी स्वाभाविक धर्म्म के कारण इसका नाम "अन्नादाग्नि" हो जाता है। क्योंकि यह अङ्गिरोऽग्नि की ही दूसरी अवस्था है, अतः कहीं कहीं इसे भी अङ्गिरोऽग्नि कह दिया जाता है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो अङ्गिरोऽग्नि अन्य अवस्था है, एवं अन्नादाग्नि भिन्न अवस्था है।

चौथा है—पाशुकाग्नि। प्रतिष्ठाशून्य अग्नि पाशुकाग्नि है। इसी को प्रवर्ग्याग्नि भी कहा जाता है। स्वप्रतिष्ठाशून्य यह पाशुकाग्नि द्यावापृथिवी की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित रहता है। इस की पुरुष, अश्व, गौ, अवि, अज, यह पांच अवस्थाएं होतीं हैं। इसे हम भौम (भूपिण्ड सम्बन्धी) अग्नि कह सकते हैं। इस प्रकार एक ही स्वायम्भुव मौलिकाग्नि अवस्थाभेद से चार भागों में विभक्त हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

	अग्निः	लोकः	नामान्तराणि
१-	ब्रह्माग्निः	स्वायम्भुवः	पुरुषाग्निः, वेदाग्निः, वागग्निः सार्वयाजुषाग्निः,
२-	सुब्रह्माग्निः	पारमेष्ठ्यः	अङ्गिरेऽग्निः, ऋनाग्निः,
३-	देवाग्निः	सौरः	अन्नादाग्निः, सत्याग्निः, छन्दस्याग्निः, सावित्राग्निः,
४-	भूताग्निः	पार्थिवः	पाशुकाग्निः, प्रवर्ग्याग्निः, द्यावापृथिव्योऽग्निः

"चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास"

उपर्युक्त चारों अग्नियों में से प्रकृत कथानक में तीसरे अन्नादाग्नि का ही निरूपण है। सौर अग्नि अन्नादाग्नि है, एवं यही यज्ञमूर्त्ति विष्णु है। यही स्वस्वरूप से प्राचीदिक् में प्रतिष्ठित होता हुआ प्राणदेवताओं के द्वारा चारों ओर व्याप्त होता है। व्याप्तिलक्षण से युक्त होने से ही इस यज्ञाग्नि का, किंवा सौर अग्नि का विष्णु नाम चरितार्थ होता है। इस अन्नादाग्नि की भी चार अवस्थाएं हो जातीं हैं। यह चारों अग्निए, किंवा एक ही अन्नादाग्नि की चार अवस्थाएं क्रमशः याज्ञिक परिभाषा के अनुसार—आहवनीय,

दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, पाशुकाग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं। सौर सावित्राग्नि निष्कैवल्य दिव्याग्नि है, यही सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्रधान अग्नि है, यही मुख्य अन्नादाग्नि है। यह अग्नि अनुष्टुबृछन्द से छन्दित रहता है। आगे के दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, पाशुकाग्नि इन तीनों की प्रतिष्ठा यही सावित्राग्नि है। अनुपृछन्दा यही अग्नि अग्नित्रयी की आधार भूमि होने से, अग्नित्रयी का प्रभव होने से प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इस अङ्गी प्राजापत्याग्नि के आधार पर उक्त अङ्गरूप तीनों अग्नि प्रतिष्ठित हैं। गार्हपत्याग्नि केवल पृथिवी में ही व्याप्त है, दक्षिणाग्नि केवल अन्तरिक्ष में ही प्रतिष्ठित है, पाशुकाग्नि केवल दूर्वादि पशुओं में ही प्रतिष्ठित है। परन्तु आहवनीयरूप सावित्र अग्नि त्रैलोक्य में व्याप्त है। अनुष्टुप प्राजापत्य अग्नि का ही छन्द है। प्रजापति इतर छन्दोऽवच्छिन्न सब अग्नियों पर अभिव्याप्त है, अतएव प्राजापत्य अनुष्टुपृछन्द को इतर छन्दों की योनि माना जाता है। अङ्गाग्नियों की अपेक्षा अङ्गी प्राजापत्याग्नि ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है, अतएव प्राजापत्य अनुष्टुप् छन्द सब छन्दों में ज्येष्ठ माना गया है। प्रजापति पर इतर देवताओं की सीमा समाप्त हो जाती है। अतएव इतर देवताओं के छन्दों की अपेक्षा इस अनुष्टुप छन्द को अन्तिम छन्द माना गया है। सम्पूर्ण देवताओं की अन्तिम प्रतिष्ठा अनुष्टुप् छन्द ही है, इतर सब छन्दों की योनि यही अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रख कर निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"अनुष्टुप् हि छन्दसां योनिः" (तां०ब्रा०११।५।१७)।

२—"ज्येष्ठं वा अनुष्टुप्" (तां०ब्रा०८।७।३)।

३—"परमं वाऽएतच्छन्दो यदनुष्टुप्" (शत०१।३।३।३।१)।

४—"अन्तो वा अनुष्टुप् छन्दसाम्" (तां० ब्रा० १२।१२।८) ।

५—"अनुष्टुप् छन्दसाम्" (एतमादित्यमानशे) (तां० ४।६।७) ।

६—"विश्वे देवा अनुष्टुप् समभरन्" (जै० उ० १।१८।७) ।

७—"प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्" (तां० ४।८।६) ।

८—"आनुष्टुभो वै प्रजापतिः" (तां० ४।५।७) ।

९—"यस्य ते-(प्रजापतेः)-ऽहं (अनुष्टुप्) स्वं छन्दोऽस्मि" (ऐ० ब्रा० ३।१३) ।

तात्पर्य्य यही हुआ कि प्राणदेवताओं के वितान यज्ञ से अर्करूप में परिणत होकर त्रैलोक्य में व्याप्त होने वाला, सब देवता एवं सब छन्दों की अन्तिम प्रतिष्ठारूप अनुष्टुप्छन्द से छन्दित सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि ही 'आहवनीयाग्नि' है। इस की प्रधान आवासभूमि प्राची दिक् है। इसी प्राजापत्याग्नि को लक्ष्य में रख कर-"अग्निं पुरस्तात् समाधाय, तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः" यह कहा गया है।

दूसरा है गार्हपत्याग्नि। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। सौर अन्नादाग्नि ही प्रवर्ग्य रूप से भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक बनता है। जो सौर अन्नादाग्नि सूर्य्यमण्डल से प्रवृक्त होकर (पृथक् होकर) भूपिण्ड का स्वरूप समर्पक बनता हुआ, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ भूपिण्ड की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है, वही भूगृह का अधिपति पार्थिवाग्नि 'गृहपति' नाम से प्रसिद्ध होता है। 'गृहा वै गार्हपत्याः' के अनुसार भूपिण्ड गृह है। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' इस वचन के अनुसार इस घर में यह गृहपति प्रतिष्ठित रहता है। सम्पूर्ण भूपिण्ड गृहपतिमय है। यही अग्नि याज्ञिक

सम्प्रदाय में 'गार्हपत्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार सौर आहवनीय सूर्य्य की प्रातिस्विक वस्तु है, एवमेव गार्हपत्याग्नि पृथिवी का निर्म्मापक बनता हुआ आज विशुद्ध पृथिवी की प्रातिस्विक संपत्ति बना हुआ है। इस पार्थिव अग्नि का पूर्ण विकास पश्चिमा दिक् में अर्द्धरात्रि के समय होता है। इसी अभिप्राय से रात्रि को आग्नेयी माना जाता है। आहवनीयाग्नि (सौराग्नि) की सत्ता प्राची में थी, गार्हपत्याग्नि (पार्थिवाग्नि) की सत्ता पश्चिम में है। यह अग्नि त्रिष्टुप् छन्द से छन्दित रहता है। इस अग्नि के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि सौर दिव्याग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से पृथिवी की वस्तु बन कर त्रिष्टुप् छन्द से छन्दित हो कर पश्चिमादिक् में व्याप्त हो रहा है। दूसरे शब्दों में वही अन्नादाग्नि अनुष्टुप्छन्द की कृपा से पूर्व में व्याप्त हो, वही त्रिस्टुप् छन्द की कृपा से आज पश्चिम में व्याप्त हो रहा है। यही पार्थिवाग्नि अङ्गिरा नाम से भी प्रसिद्ध है। पाठकों को स्मरण होगा कि हमनें पूर्व में पारमेष्ठ्य आपोमय ऋताग्नि को अङ्गिरोऽग्नि कहा है। अङ्गिरोऽग्नि आपोमय है। इधर—"अद्भ्यः पृथिवी" इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड आपोमय है। इस अप् सम्बन्ध के कारण हीं पार्थिव अग्नि कहीं कहीं अङ्गिरोऽग्नि नाम से व्यहृत देखा जाता है। जिस प्रकार सौर आदित्याग्नि (आहवनीयाग्नि) निरन्तर पृथिवी की ओर आता रहता है, एवमेव पार्थिव अग्नि निरन्तर द्युलोक की ओर जाता रहता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥

(अथर्वसं० १८।१।६१।)।

तीसरा है दक्षिणाग्नि। इसे ही याज्ञिक परिभाषा में अपणाग्नि भी कहा जाता है। कहा जाचुका है कि सौर अग्नि सूर्य्य मण्डल से निरन्तर भूपिण्ड की ओर आता रहता है, साथ ही में पार्थिव अग्नि ऊपर की ओर जाता रहता है। इसी को आदित्य एवं अङ्गिरा की प्रतिस्पर्द्धा कहा जाता है। सौर अग्नि भूपिण्ड की ओर आता अवश्य है। परन्तु पार्थिव अग्नि के प्रत्याघात से वह वापस भूमण्डल की ओर ही प्रतिफलित हो जाता है। उधर सौर सावित्राग्नि का आगमन निरन्तर होता रहता है। अतः पार्थिवाग्नि के आघात से ऊपर की ओर जाता हुआ प्रतिफलित सौराग्नि द्युलोक (स्वर्लोकरूप सूर्यलोक) की ओर भी नहीं जा सकता। सावित्राग्नि के प्रत्याघात से उस का द्युमार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। फलतः पार्थिव गार्हपत्याग्नि, दिव्य सावित्राग्नि के आघात से संदश पतित यह प्रतिफलित सौर अग्नि तिर्य्यक् होता हुआ दक्षिणा दिक् में व्याप्त हो जाता है। पूर्वमार्ग सावित्राग्नि से अवरुद्ध है। पश्चिममार्ग गार्हपत्याग्नि से अवरुद्ध है। उत्तरमार्ग सोमप्रधान होने से अवरुद्ध है। शेष दक्षिणादिक् रहती है। यहीं यह प्रतिफलित सौर अन्नादाग्नि प्रतिष्ठित होता है। यही दक्षिणा दिक् याम्या (आग्नेयी) दिक् कहलाती है। आयुर्वेदज्ञ दक्षिणस्थ ओषधियों को आग्नेयी माना करते हैं। यही अग्नि ऋतु नाम से व्यवहृत होता है। यह दक्षिण से उत्तर की ओर जाता हुआ ओषधियों का (अन्नादिका) परिपाक करता है। इसी परिपाकक्रिया के कारण इस दक्षिणाग्नि को 'अपणाग्नि' (हवि पकाने वाला अग्नि) कहा गया है। दक्षिणस्थ यह अग्नि 'गायत्री' छन्द से छन्दित रहता है। ज्योतिर्वित् (ज्योतिषी) दक्षिणस्थ जिस अन्तिम पूर्वापरवृत्त को मकरवृत्त कहा करते हैं, गायत्री सम्बन्ध से छन्दःपरिभाषा के अनुसार वही वृत्त वैदिक विज्ञान में 'गायत्री'

नाम से व्यवहृत होता है। गायत्री छन्दा यह दक्षिणाग्नि भी उसी सौर अन्नादाग्नि की अवस्था विशेषमात्र है। तात्पर्य यही हुआ कि सौर अग्नि प्रतिफलितरूप से गायत्री छन्द से छन्दित होकर दक्षिणा दिक् में व्याप्त हो जाता है।

चोथा है पाशुकाग्नि। यह अग्नि भूपृष्ठ से संलग्न रहता है। पार्थिव दिव्य अग्नि के संमिश्रण से एक नया सांयौगिक अग्नि उत्पन्न होता है। यह अग्नि संकर अग्नि होने से पशु (आत्मप्रतिष्ठा रहित) माना जाता है। संकर प्रजा जैसे अपने विशुद्ध आत्मा से तिरोहित रहती है, एवमेव द्यावा-पृथिवी के संयोग से उत्पन्न यह अग्नि स्वस्वरूप से तिरोहित रहता है। फलतः इस अग्नि का विशुद्ध अग्नियों के साथ योग नहीं होने पाता। पूर्व में सावित्र, पश्चिम में गार्हपत्य, दक्षिण में श्रपणअग्नि है। इस पशुरूप संकर अग्नि के लिए तीनों मार्ग अवरुद्ध हैं। उत्तरादिक् शेष रहती है। यहां सोम का प्राधान्य है। सोम स्वयं अन्न होने से अग्नि का भोग्य बनता हुआ पशु है। बस इसी सजातीय सम्बन्ध के कारण उक्त संकर अग्नि को उत्त-रादिक् में ही आश्रय मिलता है। यह पाशुकाग्नि ही दूर्वा-इध्म-बर्हि-आज्य-हवि—आदि पदार्थों का स्वरूप संपादक है। यह अग्नि जगतीछन्द से छ-न्दित है। अतएव उत्तरस्थ कर्कटवृत्त जगती छन्द नाम से प्रसिद्ध है। अपिच जागत पाशुक अग्नि के सम्बन्ध से ही—"पशवो जगती" (शत०ब्रा०३।४।—१।१३), "जागता वै पशवः" (ऐ०१।५-२१-१८) इत्यादि रूप से पशुओं को जागत कहा जाता है। यद्यपि पाशुकाग्नि अन्नाद के संकर से उत्पन्न होने के कारण अन्नाद की ही अवस्था विशेष है। परन्तु पशुभाव की प्रधानता से, साथ ही में साक्षात् पशुरूप उत्तरस्थ सोम के सम्बन्ध से यह अन्नाद कोटि से

यों बहिर्भूत होता हुआ अन्न ही मान लिया जाता है। यह भोग्य होने से निरायतन है। अतएव जिस प्रकार सायतन इतर तीनों अग्नियों के लिए वैध यज्ञ (मनुष्यकृत यज्ञ) में कुण्ड निर्म्माण होता है, इस तरह इस पाशुकाग्नि के लिए स्वतन्त्र कुण्ड निर्म्माण नहीं होता। अतएव च इस चौथे पाशुकाग्नि को अग्नि मर्य्यादा से बहिर्भूत समझते हुए यज्ञाग्नि से त्रेताग्नि (आहवनीय—गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि) का ही ग्रहण किया जाता है। वेदि के उत्तर भाग में प्रतिष्ठित रहने वाले आज्य—इध्म—बर्हि—हवि-आदि इसी पाशुकाग्नि की प्रतिकृति है। तात्पर्य्य यह हुआ कि पार्थिव एवं दिव्य अग्नि की सङ्करावस्थारूप पाशुकाग्नि से उत्तरादिक् व्याप्त रहती है। इस प्रकार यज्ञविष्णुरूप सौर अग्नि अनुष्टुप् आदि छन्दों से छन्दित हो कर चारों दिशाओं में व्याप्त रहता है। इसी यज्ञविष्णु के प्रभाव से सौर देवता भूपिण्ड पर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

सौर अग्नि पृथिवी की पूर्व बिन्दु में प्रतिष्ठित है, गार्हपत्य पश्चिम में प्रतिष्ठित है, अपणाग्नि दक्षिण में प्रतिष्ठित है, एवं पाशुकाग्नि उत्तर में प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड वेदिरूप है। इसी प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वैध यज्ञ का वितान किया जाता है। भूपिण्ड की प्रतिकृति (नकल) वेदि है। आहवनीय की प्रतिकृति वेदि के पूर्व भाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड है। पश्चिम में वर्त्तुल गार्हपत्य कुण्ड है। दक्षिण में अर्द्ध-कटकाकृति अपणीय कुण्ड है। उत्तर में इध्म-बर्हिरूप पाशुकाग्नि की प्रतिकृति है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

वैधयज्ञवेदिपरिलेखः
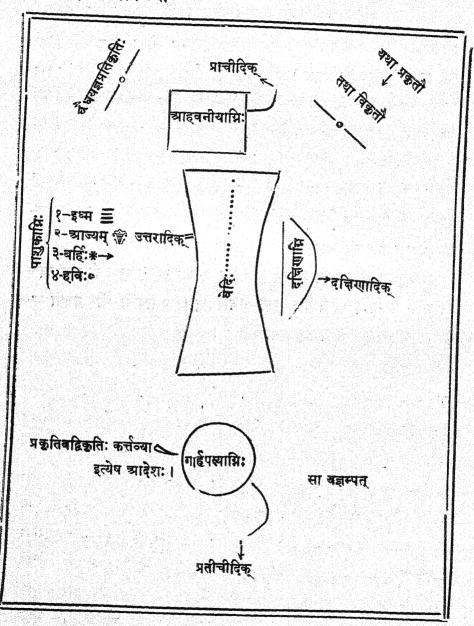
प्रकरण के आरम्भ में बतला आए हैं कि देवताओं नें विष्णुयज्ञ को अग्रणी बना कर छन्दों से वेष्टित कर उसे सम्पूर्ण भूपिण्ड पर व्याप्त कर दिया। जहां तक छन्दोवेष्टित यज्ञमूर्त्ति विष्णु व्याप्त हुए, वह याज्ञिय प्रदेश कहलाया। वही प्रदेश–"एनेन (यज्ञमूर्त्तिविष्णुना) इमां सर्वां समविन्दन्त" इस निर्वचन के अनुसार याज्ञिकों के समय में 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं नें अपना अधिकार जमा लिया। दूसरे शब्दों में यज्ञव्याज से सारे भूपिण्ड को देवताओं नें अपने नित्ययज्ञ की वेदि बना डाला। तभी से वैज्ञानिक सम्प्रदाय में "यावती वेदिस्तावती पृथिवी" यह निगम प्रचलित होगया।

जब सारे भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार हो गया तो असुर कहां रहे ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रकृत आख्यान का दायविभाग से सम्बन्ध है। जैसे देवता प्राजापत्य (प्रजापति के पुत्र) होनें से प्रजापति की संपत्तिरूप भूपिण्ड पाने के अधिकारी हैं, एवमेव असुर भी प्राजापत्य होने से पैत्रिक संपत्तिरूप भूपिण्ड से पृथक् नहीं किए जा सकते। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है–दिति और अदिति का स्वरूप ज्ञान। एक ही भूपिण्ड के दिति और अदिति दो विभाग हो जाते हैं। भूपिण्ड का वह अर्ध प्रदेश, जो सूर्य्य के ज्योतिर्म्मय प्राण से युक्त रहता है, अदिति कहलाता है। भूपिण्ड की दोनों परिधियों का स्पर्श करता हुआ सौर प्रकाश आगे निकल जाता है। इस से सूर्य्यविमुख भूपिण्ड पर प्रकाश नहीं जाने पाता। इसी तमोमय अर्द्ध भाग का नाम दिति पृथिवी है। दिति भाग असुरों की आश्रयभूमि है, अदिति भाग देवताओं की आवासभूमि है। सृष्टि के आरम्भ में (जब कि भूपिण्ड बना ही था, जब कि उस समय

सौर ज्योति का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध न हुआ था, उस समय) यद्यपि सम्पूर्ण भूपिण्ड पर एकमात्र आप्यप्राणप्रधान तमोमय असुरों का ही प्रभुत्त्व था। परन्तु आगे जाकर उपर्युक्त यज्ञ के प्रभाव से सौर देवताओं ने अदिति भाग से सपत्न असुरों को निकाल कर न्यायप्राप्त आधे अदिति भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार पूर्वकथनानुसार चतुर्द्धा विभक्त अन्नादाग्निरूप यज्ञ विष्णु के प्रभाव से अदितिरूप सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया। प्रकृत आख्यानांश का यही आधिदैविक प्राकृतिक) रहस्य है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे-अग्निरास

१	आहवनीयाग्निः	सावित्राग्निः सौरः	अनुष्टुप्	प्राची
२	गार्हपत्याग्निः	पार्थिवाग्निः	त्रिष्टुप्	प्रतीची
३	अपशाग्निः	गायत्राग्निः	गायत्री	दक्षिणा
४	पाशुकाग्निः	प्रवर्ग्याग्निः	जगती	उत्तरा

दिति-अदितिपरिलेखः
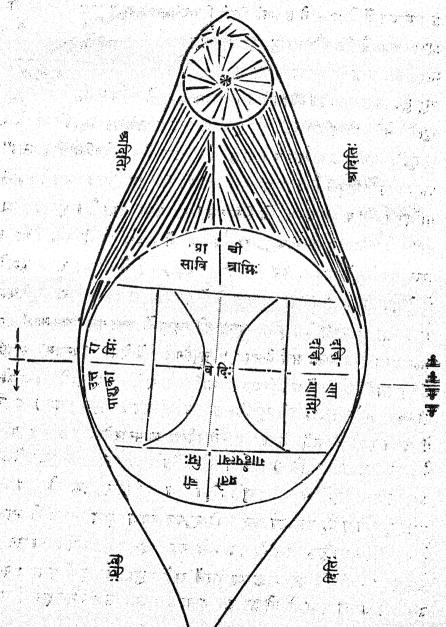
प्रकृत प्रकरण में अनुष्टुप् छन्द का उल्लेख नहीं है। प्राचीदिक के सम्बन्ध में केवल—"ते ह प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य" यही कहा गया है। इस का कारण यही है कि सौर विष्णु प्राज्यापत्याग्निरूप है। यही अनुष्टुप्छन्द[1] है। इतर तीनों अग्नि इस प्राजापत्याग्नि का ही विकास है। एवमेव इतर तीनों छन्द अनुष्टुप् छन्द का ही विकास है। वह प्रतिष्ठारूप से सर्वत्र व्याप्त है अतएव ऋषि ने स्वतन्त्ररूप से अनुष्टुप्छन्द का उल्लेख नहीं किया है। यज्ञमूर्त्ति विष्णु प्राणरूप है। प्राण के सम्बन्ध में—"प्रादेशमितो वै प्राणः" यह निगम प्रसिद्ध है। प्रादेशमात्र परिमाण को ही 'वामन' कहा जाता है। इसी आधार पर—'वामनो ह वा अग्रे विष्णुरास" यह कहा गया है। भूतकाल का प्रयोग है। अवश्य ही विष्णुप्राण आरम्भ में प्रादेशमित ही रहा होगा। परन्तु यही आगे जाकर यज्ञ-(संवत्सररूप यज्ञ)-रूप में परिणत होकर छन्दों से वेष्टित होकर उक्त चार अवस्थाओं में परिणत हो कर सम्पूर्ण भूपिण्ड पर व्याप्त हो जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर 'अग्रे आस' यह कहा गया है। 'अग्निः सर्वा देवताः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' इत्यादि के अनुसार त्रैलोक्य में इसी विष्णुरूप याज्ञिक अग्नि के आधार पर देवता प्राणो-दानरूप अर्कव्यापार, एवं भूतनिर्म्माणसाधक श्रम (वाग्व्यापार) करनें में समर्थ रहते हैं, इसी आधार पर-'तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' यह कहा गया है। जो विद्वान् (वैज्ञानिक) उक्त प्राकृतिक वैज्ञानिक रहस्य की पूर्ण परीक्षा कर याज्ञिक पद्धति से उस असुरविजेता याज्ञिक विष्णुप्राण को आत्म-सात् कर लेता है, उस का आत्मा विष्णुमय बनता हुआ प्रबल हो जाता है। एवं इस याज्ञिक बल के प्रभाव से यह यज्ञकर्त्ता यजमान वास्तव में अपनी भोग्यसंपत्ति पर आक्रमण करनें वाले शत्रुओं का पूर्ण पराजय कर उस संपत्ति का एकाकी भोक्ता बन जाता है। इसी फल को लक्ष्य में रख

कर—"निर्भजत्यस्यै (अस्याः पृथिव्याः सकाशात्) सपत्नान्, य एवमेतद्वेद" यह कहा गया है।

पूर्व की ओर से अग्नि से अवरुद्ध होकर, पश्चिम-दक्षिण-उत्तर में क्रमशः त्रिष्टुप्- गायत्री- जगती छन्द से घिर कर विष्णु देवता म्लान होगए। म्लान होकर ओषधिमूलों में प्रविष्ट होगए। आगे जाकर यज्ञ-विद्या के प्रथम आविष्कर्ता भौम देवताओं नें (भौम स्वर्ग में रहनें वाले मनुष्य देवताओं नें) यज्ञ प्रसाधन के लिए विष्णुप्राण का अन्वेषण किया। अन्वेषण करते करते परीक्षा से उन्हें विष्णुप्राण (याज्ञिक विशुद्ध पार्थिव आग्नेय प्राण) ओषधिमूलों में उपलब्ध हो गया। तभी से उन्हों नें वैध यज्ञ में यह विधान कर दिया कि, जिस किसी को यज्ञार्थ वेदि बनाना हो उसे तीन अंगुल भू भाग कोड देना चाहिए। ऐसा करने से विष्णुप्राण वेदि में संयुक्त हो जायगा। आरम्भ में देवताओंनें तीन अंगुल ही वेदि खनन किया था। देवताओं का अभिप्राय यह नहीं था कि तीन ही अंगुल भूमि खनन किया जाय, अपितु उनका प्रधान लक्ष्य विष्णुप्राण था। उस समय ओषधिमूल तीन अंगुल गहरे ही मिले होंगे। देवताओं का प्रधान लक्ष्य तो ओषधियों का मूल था। क्योंकि वहीं विष्णुप्राण व्याप्त रहता है। देवताओं की इस वैज्ञानिक दृष्टि का वास्तविक तात्पर्य न समझते हुए तैत्तिरीय संप्रदाय के अनुयायी पाज्ञी आदि याज्ञिकोनें तीन अंगुल पर ही जोर देते हुए पद्धति में 'त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्' यही विधान माना। इस पर विप्रतिपत्ति उठाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि तीन ही अंगुल वेदिखनन किया जाय, इस की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रधानलक्ष्य ओषधिमूलों पर होना चाहिए। मान लो कहीं तीन अंगुल से भी गहरे ओषधि-

मूल हैं। ऐसी परिस्थिति में 'व्यङ्गुला एव वेदिः स्यात्' इस पक्ष के अनुयायी ओषधिमूल नहीं उखाड़ेंगे तो वेदि कैसे निष्पन्न होगी। अतः यज्ञ समय में अध्वर्यु को ओषधिमूल उखाड़ने की ही आज्ञा देनी चाहिए। कारण भौम देवताओंनें ओषधिमूलों में ही विष्णु को प्राप्त किया था।

अब प्रश्न बच जाता है विष्णु के म्लान होने का. विष्णु कैसे म्लान होगए? इसी प्रश्न का समाधान कर यह आधिदैविकचरित्र समाप्त किया जाता है।

पञ्चाक्षर विद्या के जाननें वाले विद्वान् जानते हैं कि विष्णु अक्षर आगतिधर्म्मा है, इन्द्राक्षर गतिधर्म्मा है। स्थितितत्त्व ब्रह्मा है, स्थिति-गर्भिता आगति (विष्णु) सोम है, एवं स्थितिगर्भिता गति (इन्द्र) अग्नि है- (देखिए शत० विज्ञानभाष्य प्र०व०६७से ४८)। विकास अग्नि का धर्म्म है, इसी को 'तेज' कहा जाता है। संकोच सोम का धर्म्म है, यही 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि तत्त्व इन्द्रप्रधान है। विकास से हृदुग्रन्थि का उच्छेद होता है, संकोच से हृदुग्रन्थि होती है, यही सृष्टि का स्वरूप है। हृदुग्रन्थि का विकसित हो जाना, खुलजाना ही मुक्ति है। हृदुग्रन्थिमूलक सृष्टिभाव संकोचधर्म्मा सोम पर निर्भर है। जबतक विकासधर्म्मा अग्नि में सकोचधर्म्मा सोम की आहुति होती रहती है, तबतक यज्ञमूर्त्ति विष्णु सोम सहयोग से सृष्टिरक्षा करने में समर्थ रहते हैं। सोमाहुति के बंद होजाने से यज्ञविष्णु उत्क्रान्त हो जाते हैं, केवल इन्द्रसहचारी अग्नि की सत्ता रह जाती है। हृदुग्रन्थि उच्छिन्न हो जाती है, सृष्टि मुक्तिरूप में परिणत हो जाती है। संकोचभाव ही म्लानभाव है। सृष्टि में आत्मविकास म्लान हो जाता है। इस का प्रधान कारण यज्ञमूर्त्ति विष्णु ही है। भौतिक

सृष्टि वैष्णवी है यह सब सृष्टि आत्मा के लिए म्लान है। वैष्णवी सृष्टि के इसी म्लानभाव को लक्ष्य में रखकर विष्णु को प्रकृत आख्यान में म्लान कहा गया है। भौतिकसृष्टि की अपेक्षा से म्लानभाव का अर्थ है- हृदुग्रन्थि की प्रवृत्ति, एवं आत्मविकास का तिरोभाव।

सूर्य्यकेन्द्र में हमनें विष्णु की सत्ता बतलाई है। "सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति" "नैवोदेता नास्तमेस्ता मध्ये एकल एव स्थाता" 'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः' इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार सूर्य्यबिम्ब ठीक हमारे खस्वस्तिकपर बृहती छन्द के (विषुवद्वृत्तके) केन्द्र में प्रतिष्ठित है। मूलयज्ञरूप विष्णु इसी सूर्य्यकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। यहीं से आगे चलकर प्राणदेवताओं द्वारा गायत्र्यादि छन्दों से वेष्टित होकर विष्णुदेवता पूर्वादि दिशाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला मूलविष्णु, चारों दिशाओं में व्याप्त रहने वाला तूलविष्णु दोनों हीं हमारे लिए (प्राप्त करने में) अशक्य हैं। वह हमारे अधिकार से बाहर है इसी अप्राप्तिभाव के कारण हम हमारी दृष्टि से विष्णु को अवश्य ही म्लान (तिरोहित–प्राप्तुमशक्य) कह सकते हैं। हमें मिल सकता है एकमात्र पार्थिव विष्णु। विष्णु का वह त्रैलोक्य व्यापक स्वरूप तो हमारे लिए 'न' के समान ही है। होता क्या है—तीनों दिशाओं में तो विष्णुप्राण छन्दों से घिर जाता है। इसका स्वस्थान प्राची दिक (प्राचीदिक्स्थसूर्य्य, किंवा सूर्य्यकेन्द्र) है। वहां भी यह आगतछन्दोवेष्टित विष्णुप्राण वापस जाकर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। कारण वहां से विशुद्ध सावित्राग्नि त्रैलोक्य पर आक्रमण करता हुआ नीचे की ओर आ रहा है। इन चारों मार्गों के अवरुद्ध होजाने से अन्ततोगत्वा इस याज्ञिक प्राण को ओषधियों के मूल में प्रतिष्ठित होना पड़ता है। सभी ओषधिएं

निरन्तर (अहोरात्र), विशेषतः रात्रि में यज्ञात्मक (विष्णुरूप) सौर रस का पान किया करतीं हैं। इसी सोमगर्भित अग्निरसका पान करने से ओषधिएं पुष्ट होतीं हैं, इसी रस से इनका परिपाक होता है। ओषधियों का शरीर (भौतिक दृश्य भाग) चान्द्ररस का पान करता है। अतएव शरीरापेक्षया ओषधिएं सौम्या कहलातीं हैं। अतएव च चन्द्रमा (सोम) को ओषधियों का पति कहा जाता है। परन्तु आत्मदृष्ट्या ओषधियों का पोषक सौर अग्नि हीं है। यह सौरी ऊष्मा (ताप—अग्नि) ओषधियों के गर्भ में प्रतिष्ठित रहती है, अतएव "ओषं (उष दाहे-दाहस्तापः--तापः—अग्निस्तं) धत्ते" इस निर्वचन से इन्हें ओषधि कहा जाता है। म्लान (साक्षात्‌रूप से प्राप्तुमशक्य) सौर यज्ञिय विष्णु ओषधियों में ही प्रतिष्ठित रहता है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि पार्थिव मनुष्यों को यदि कहीं वैष्णवप्राण मिल सकता है तो वे ओषधियों के मूल हीं हैं। पार्थिव यज्ञाग्नि का वैधयज्ञ में समावेश करने के लिये, दूसरे शब्दों में विशुद्ध पार्थिव यज्ञाग्नि के परिग्रह के लिए ओषधिमूल से संलग्न भूपृष्ठ का ही आश्रय लेना आवश्यक है।

ओषधिनिर्म्माणप्रक्रिया में विष्णुदेवता का दर्शन कीजिए। पूर्व में यज्ञ का लक्षण करते हुए "अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः" यह कहा गया है। अग्नीसोमात्मक यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है। ओषधि-वनस्पतियों में निरन्तर यह अग्नीषोमात्मक यज्ञ होता रहता है। यही दैनंदिनयज्ञ ब्राह्मणग्रन्थों में 'अहरहर्यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। ओषधिनिर्म्माणार्थ जिस बीज का भूगर्भ में वपन होता है (बीज बोया जाता है), उस बीज में ऊपर की ओर दो आस्तरण रहते हैं। इन दोनों पार्श्वदलों से बीज सुरक्षित रहता है। भूपृष्ठ

के चारों ओर यमवायु व्याप्त रहता है। यह जीवनीयरस का शोषण कर लेता है। बीज में भी जीवनीय रस रहता है। वही आगे जाकर पुष्पित एवं पल्लवित होता है। इस जीवनीयरस को (जो कि वास्तव में बीज है) यम वायु के आघात से बचाने के लिए अन्तर्यामी ने उसके दोनों ओर दो आवपन (ढक्कन) लगा दिए हैं। वे ही पार्श्वस्थदल यमवायु के आघात से गर्भस्थ रसमूर्त्ति वृन्तरूप बीज की रक्षा करते हैं। जबतक इस बीज को भूगर्भ में प्रविष्ट नहीं करा दिया जाता, तब तक वह अङ्कुरित नहीं हो सकता। यदि धरातल पृष्ठ पर बीज रखकर उस पर आप जलसेक करेंगे तो रक्षक दोनों पार्श्वदल विकसित होजायँगे। यमवायु मध्यस्थरस को दग्ध कर डालेगा। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए बीज को भूगर्भ में कोडा जाता है। वहां जलसेक होता है। जल की आर्द्रता से एवं भूगर्भ की अग्नि से दोनों पार्श्वदल कपाटवत् खुल जाते हैं। आगे क्या होता है—सुनिए ! गर्भ में एक वृन्त रहता है। उस वृन्त में हृदयशक्ति काम करने लगती है। शक्तित्रय की सम्मिलित अवस्था का नाम ही हृदयशक्ति है। ब्रह्मशक्ति 'यम्' है, विष्णु शक्ति 'हृ' है। इन्द्रशक्ति 'द' है। विष्णु रस का आहरण करते हुए 'हृ' हैं, इन्द्र रसनिक्षेप करते हुए द हैं, दोनों का समन्वय (नियमन) कराने वाले ब्रह्मा यम् हैं समष्टि 'हृदयम्' है।

बीजगुहा में यह हृदयशक्ति ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इस रूप से प्रतिष्ठित रहती है। वृन्त के अग्रभाग में शिवरूपा इन्द्रशक्ति है, भूगर्भ में दूरतक व्याप्त रहनें वालीं बीजशिराओं के मूल में ब्रह्मशक्ति रहती है। एवं जिस बिन्दु से शिराएं भूगर्भ में जातीं हैं, एवं जिस बिन्दु से वृन्त ऊपर की ओर जाता है, दोनों की विभाजिका उस मध्यम बिन्दु में विष्णुशक्ति प्रति-

ष्ठित रहती है। मध्यस्थ विष्णु ऊपर से सौरचान्द्ररस का ग्रहण करते हैं, नीचे से पार्थिवरस का आकर्षण करते हैं। मध्य में प्रतिष्ठित विष्णु इस ओर से पार्थिव देवताओं को लेते हैं, उस ओर से सौरदेवताओं को लेते हैं। दोनों देवता मध्यस्थ विष्णु की अशनायाशक्ति से आकर्षित होते हुए ओषधिनिर्माण में सहायक बनते हैं। ऊर्ध्वरस प्राणरूप है, अधोरस अपानरूप है, प्राणापानन के अधिष्ठाता मध्यस्थ वामन विष्णु हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते॥

ब्रह्मा अपान के अधिष्ठता हैं, इन्द्र प्राण के अधिष्ठाता हैं, विष्णु व्यानमूर्त्ति हैं। यदि मध्य में व्यानमूर्त्ति विष्णु न हों तो न पार्थिव रस का आगमन हो, एवं न प्राणमूर्त्ति सौर रस का आगमन हो। जीवन के हेतु प्राणापानरूप सौर– पार्थिव रस नहीं हैं, अपितु मध्यस्थ व्यान ही (दोनों का आकर्षक बनता हुआ) जीवन का हेतु है। अत एव पुराण ने एकमात्र विष्णु देवता को ही सृष्टि का पालक माना है। इसी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए ऋषि कहते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

ओषधि-वनस्पतिगत उपर्युक्त इसी शक्तित्रयी का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥

अश्वत्थ को ओषधिवनस्पतिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए। बीज वपन किया, पानी डाला। उस स्थान की पानी और मिट्टी दोनों घुल गए। वृन्तनाड़ी में प्रतिष्ठित सौररश्मि ने "नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्" (वैशे० द०५।२।५। के अनुसार पानी ऊपर की ओर खेंचा। पानी के साथ साथ ही मिट्टी भी खिचने लगी। कुछ दूर जाकर पार्थिवाकर्षण से मिट्टी तो ठहर गई, पानी बाष्परूप में परिणत होकर सौरमण्डल में चला गया। बस पानी के साथ ऊपर की ओर जाकर ठहरने वाली वही मिट्टी 'अङ्कुर' कहलाया। अब यदि आप ओषधि की ओर वृद्धि चाहते हैं तो पानी और डालिए, पुनः पानी के साथ मिट्टी ऊपर चढ़ेगी। इस क्रम से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न हो जायगा। परन्तु यह ध्यान रखिए कि बीज में प्रतिष्ठित योनिरूप महद्ब्रह्म का जितना आयतन पहिले से स्थिर है, ओषधि की वृद्धि उसी आकार में होगी। आप चाहें कि एक हजारे का वृन्त सिञ्चनधारा से वटवत् लम्बा होजाय, अथवा बटवृक्ष हजारे जितना ही लम्बा रहे, यह कभी न होगा। प्रत्येक भौतिक सृष्टि के बीज में आकृति-प्रकृति अहङ्कृति का अधिष्ठाता महद्ब्रह्म विद्यमान रहता है। इस कथन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि भूवायु-छन्द-अग्नि आदि से म्लान विष्णु ओषधियों के मूल में (मध्य में, जहां से कि शिराएं निकल कर भूगर्भ में जातीं हैं) प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञकर्त्ता यजमान जिस भूप्रदेश में यज्ञ करना चाहे, पहिले उस प्रदेश में प्ररोहित ओषधि तृणादि को समूल उखाड़ फैंके। इस से वह मूलस्थ विष्णुप्राण वेदि में समाविष्ट हो जायगा। इसी सम्पूर्ण गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर-'सोऽयं विष्णुर्म्लानः०' इत्यादि कहा गया है, और प्रकृत आख्यान का यही संक्षिप्त आधिदैविकरहस्य है।

इत्याधिदैविकरहस्यम्

पद्धतिरहस्य

मदेवताओं नें परीक्षा द्वारा (तं खनन्त इवान्वीषुः) ओषधिमूलों में म्लान विष्णु को प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है। अतः जब तक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय, तब तक यह विष्णु परिच्छिन्न वैधयज्ञ का उपकारक नहीं बन सकता। इसी सीमाभाव के लिए प्राप्त-विष्णु का 'सुक्ष्मा चासि'० इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रब्रह्मरूप वाग्बल से) परिग्रह किया जाता है। इसी परिग्रहकर्म्म मे वेदि का स्वरूप संपन्न होता है, अत एव इस कर्म्म को 'वेदिपरिग्रहकर्म्म' भी कहा जाता है। भूप्रदेश के जिस भाग में वेदि बनाई जाने वाली है, उस प्रदेश के दक्षिण भाग में "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि" यह मन्त्र बोलते हुए स्फय से पूर्व पश्चिम अध्वर्यु एक रेखा कर देता है। यह दक्षिण परिग्रह है। दक्षिण में याम्य अग्नि की सत्ता रहती है। "यमो वै अवसानस्येष्टे" 'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः' इत्यादि के अनुसार यम देवता अवसान (मृत्यु) के अधिष्ठाता हैं। दक्षिण भाग से इसी मृत्युभाव का निराकरण करने के लिऐ "हे दक्षिण भूभाग! आप शोभन प्रदेश हैं, मृत्युञ्जय शिव की भक्ति से युक्त, अत एव शिव हैं" यह भावना की जाती है। यज्ञ का नियत दक्षिण प्रदेश यमभीति से रहित बनें, दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य्य है।

अनन्तर -"स्योना चासि सुषदा चासि" इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखता है। गार्हपत्य भूपिण्ड की प्रतिकृति है। गार्हपत्य गृह (घर) है। घर वही उत्तम होता है, जहां का धरातल सम हो, जहां रहने से पूर्ण सुख मिले। इसी गृहसंपत्ति को

प्राप्त करने के लिए "आप सुखरूपा हैं, आप अच्छी बैठक वाली हैं" यह भावना की जाती है।

अनन्तर—"ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च" यह मन्त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तरभाग सोममय, किंवा अग्निगर्भित सोममय है। ओषधियों में जो जीवनीय भाग (ऊर्क) एवं दुग्ध देखा जाता है, वह इसी पार्थिवांश की महिमा है। हमारा यज्ञ जीवनीयभाग एवं रस भाग से युक्त है, दूसरे शब्दों में उत्तराग्निप्रदेश यजमान के लिये ऊर्क् एवं पययुक्त बने, इसी भावना के लिये "हे उत्तर भूप्रदेश! किंवा पार्थिवाग्नि! आप ऊर्कयुक्त हैं, आप पययुक्त हैं" यह भावना की जाती है।

प्रकारान्तर से यों समझिये कि, दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का श्लथभाव नष्ट होजाता है, मिट्टी दृढ़ बन जाती है। इसी परिपाक से वह मसृणा भी बनजाती है। यही इसका सुक्ष्माभाव (शोभन भूमिभाव), एवं शिवभाव है। गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है, यही प्रजनयिता है, यही स्वरूपसंपत्ति है। उत्तरोत्तर उर्वरा रहना ही इसका सुषदा एवं स्योनाभाव है। मृत्तिका को रसयुक्त एवं बलयुक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है। यह तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले के "गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु का छन्दों से परिग्रह किया जाता है, एवं भूतमयविष्णु का भूपिण्ड से परिग्रह किया जाता है। इस प्रकार संभूय ६ परिग्रह होजाते हैं। क्योंकि विष्णुयज्ञ संवत्सरमूर्त्ति है। षड्ऋतु की समष्टि ही संवत्सर है, एवं यही यज्ञसम्पत् है। उक्त ६ ओं परिग्रहों से यजमान का यह वैध यज्ञ प्राकृतिक षड्ऋतुरूप संवत्सरयज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है। दूसरे

शब्दों में यों समझिए कि पूर्व के तीन परिग्रह 'लोकी' परिग्रह हैं, एवं उत्तर के तीन परिग्रह 'लोक' परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं, लोकी प्राणप्रधान हैं। इस क्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ६ व्याहृतिएं (वाक्य) हैं, उत्तर के परिग्रहों में ६ व्याहृतिएं हैं। इस प्रकार १२ व्याहृतिएं हो जातीं हैं। यज्ञसम्वत्सरहस्यवेत्ताओं को मालूम होना चाहिए कि, द्वादशव्याहृतियों से भी द्वादशमासात्मक संवत्सरमूर्ति यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखनें वालीं वे १२ व्याहृतिएं आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जातीं हैं।

द्वादशव्याहृतिपरिलेखः

मन्त्रभागः	व्याख्या
१—१—गायत्रेण त्वा २—२—छन्दसा परिगृह्णामि	'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामी' ति दक्षिणतः १ (१)
३—३—त्रैष्टुभेन त्वा ४—४—छन्दसा परिगृह्णामि	'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामी' ति पश्चात् २ (२)
५—५—जागतेन त्वा ६-६—छन्दसा परिगृह्णामि	'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामी'—त्युत्तरतः ३ (३)

त्रिःपूर्वं परिग्रहं गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभिः

मन्त्रभागः	व्याख्या
७—१—सुक्ष्मा चासि ८—२—शिवा चासि	'सुक्ष्मा चासि शिवा चासी' ति दक्षिणतः १ (४)
९—३—स्योना चासि १०—४—सुषदा चासि	'स्योना चासि सुषदा चासी' ति पश्चात् २ (५)
११—५—ऊर्जस्वती चासि १२—६—पयस्वती च	'ऊर्जस्वती चासि पयस्वतीचे' त्युत्तरतः ३ (६)

त्रिरुत्तरं परिग्रहं गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभिः

"स यावत्येव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा — तावतमेवैतत् परिगृह्णाति"

पद्धतिप्रकरण में (मूलानुवाद में) वेदि निर्माण प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि (देखिए शत वि० भा० पृष्ठसं ३३७ से ३४३ पर्यन्त ३ वर्ष) कितनें हीं (तैत्तिरीय संप्रदायानुयायी) याज्ञिकों के मतानुसार वेदि का पश्चिम भाग (श्रोणी भाग) व्याममात्र (दो हाथ) चौड़ा होना चाहिए, एवं पूर्वभाग (अंसभाग) तीन अरत्नि (१॥ हाथ) चौड़ा होना चाहिए। इस का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "व्याममात्री त्र्यरत्नि" इस ठाक परिमाण की अपेक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। यजमान अपने अन्दाजे से जितना मान ठीक समझे, उसी चौड़ाई से वेदि निर्माण कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आधिदैविक यज्ञ से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुष) का स्वरूप निष्पन्न होता है। जैसा स्वरूप ब्रह्माण्ड का है, ठीक वैसा ही स्वरूप पिण्डब्रह्माण्ड का है। हमारा शरीर प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति है। इसी आधार पर "यज्ञो वै पुरुषः" "पुरुषो वै यज्ञः" इत्यादि यज्ञपुरुष के अभेद सूचक निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। दोनों हीं यज्ञ ईश्वर की रचना है। दोनों हीं एक प्रकार से प्राकृतिक यज्ञ हैं। इधर प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही आधिभौतिक यज्ञ का (मनुष्य-यज्ञ का) वितान हुआ है। यही कारण है कि इस काल्पनिक यज्ञ में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दोनों यज्ञों के स्वरूप का विचार रखना पड़ता है। यदि कोई वैध यज्ञ में गड़बड़ कर डालता है तो ऋषि लोग अध्यात्म-अधिदैव यज्ञ का स्वरूप बतलाते हुए उसे रोक देते हैं। यहां ऐसा क्य होता है? इस का समाधान वही प्राकृतिक आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक यज्ञ है। पुरुष यज्ञपुरुष है। स्त्री यज्ञपुरुषरूप पुरुष (मनुष्य) की प्रतिष्ठा है। यहां भी यज्ञ पुरुषस्थानीय है, एवं वेदि स्त्रीस्थानीया है। स्त्री वही सुन्दर मानी जाती है, जिस का श्रोणिभाग विपुल हो, अंसभाग संकुचित हो। अतः

यहां भी वेदि का श्रोणीस्थानीय पश्चिमभाग विपुल होना चाहिए, एवं अंसस्थानीय पूर्वभाग संकुचित होना चाहिए। "आगे से संकुचित, नीचे से विपुल" बस यज्ञसंपत् यहीं समाप्त है। इस का यह तात्पर्य्य लगाना कि "आगे से त्र्यरत्नि हो, नीचे से व्याममात्री ही हो" विज्ञानदृष्टि से बहिर्भूत है। यजमान अपनी इच्छा से यथेच्छ परिमाण रख सकता है। हां उसे प्रत्येक दशा में यह ध्यान रखना आवश्क होगा कि वेदि पश्चिम में विपुल, पूर्व में संकुचित है अथवा नहीं

पुरुषशरीर वेदि है, मस्तक आहवनीय है, दक्षिणस्थ यकृत् (जिगर) दक्षिणाग्नि है, उत्तरस्थ प्लीहा (तिल्ली) पाशुकाग्नि है, केश-लोमादि का भी पाशुकाग्नि में ही अन्तर्भाव है, मूलग्रन्थि (गुदस्थान) गार्हपत्यकुण्ड है। इस प्रकार पुरुष साक्षात् यज्ञ की प्रतिमा है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही हुआ कि आधिदैविकयज्ञ-आध्यात्मिकयज्ञवेदि का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस आधिभौतिकी वेदि का समझना चाहिए। खनन-परिग्रहादि से जो मिट्टी भूपष्ठ से उखड़ गई है, उसे हटाकर वेदि का शोधन करना प्रतिमार्जनकर्म्म है। परिहग्र-कर्म्मोपपत्तिप्रकरण समाप्त हुआ। अब प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्तिप्रकरण आरम्भ होता है।

प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्ति

उत्तर परिग्रहानन्तर स्फ्य से उत्पाटित मिट्टी को समन्त्रक बाहर फैंकना हीं "प्रतिमार्जन" कर्म्म है । जिस मन्त्र से यह कर्म्म किया जाता है वह निम्न लिखित है--

"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् ।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥
(यजुः सं० १।२८ मं०

"हे विरप्शिन् ! विसृपः (क्रूरस्य) पुरा (देवाः) जीवदानुं यां पृथिवीमुदादाय स्वधाभिश्चन्द्रमसि-ऐरयन्, तामु-अनुदिश्य-धीरासः-यजन्ते" हे विष्णो ! विविध योद्धाओं के इधर उधर दौड़ भाग (सर्पण-झपाटा) के कारण विसृप् नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्म्मा, अतएव क्रूर नाम से प्रसिद्ध संग्राम से पहिले देवताओं नें जीवनीय जिस पृथिवी को (पृथिवी के जिस जीवनीय भाग को) (धरोहर के रूप में) चन्द्रमा में प्रतिष्ठित किया था, उसी (जीवदानु भाग) को लक्ष्य में रखकर धीर याज्ञिक यजन करते हैं"- यह है मन्त्र का अक्षरार्थ । इस मन्त्र की संगति लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि-"किसी समय युद्ध की आशङ्का से देवताओं नें युद्ध से पहिले ही परस्पर की मन्त्रणा से यह निश्चय किया कि "इस भूपिण्ड पर जो अपना याज्ञिक अमृतमय देवयजन भाग है, उसे कुछ दिनों के लिए चन्द्रमा में रखदें । यदि जीतगए तो वापस लेलेंगे । नहीं तो जीवनीयरस के आधार पर पुनः असुरों को परास्त कर देंगे । फलतः देवताओं नें उस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप में चन्द्रमा में प्रतिष्ठित करदिया" । प्रकृ-

तयज्ञ में चन्द्रमा में सुरक्षित उसी देवयजन भाग की (भावनाद्वारा) प्राप्ति के लिए उक्त मन्त्र से प्रतिमार्जन किया जाता है। उस देवयजन की भावना रखते हुए प्रतिमार्जन से विशुद्ध भूप्रदेश में उसी यज्ञियभाव का (देवयजन भाग का) समावेश होजाता है। ("अपि ह वाऽस्यैतस्मिन् देवयजनऽ इष्टं भवति, य एवमेतद्वेद")।

संहिताभाग के कितनें हीं मन्त्र विशुद्ध आधिदैविक विज्ञान का ही निरूपण करते हैं। केवल विज्ञानका निरूपण करनें वाले मन्त्र भाषादृष्टि से भी जटिल होते हैं, एवं अर्थदृष्टि से भी रहस्यमय होते हैं। प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है। इस में एक अपूर्व आधिदैविक विज्ञान का निरूपण किया गया है। कल्पनारसिक कवियों की उत्ताल तरङ्गों की आधार भूमि "चन्द्रकलङ्क" का क्या स्वरूप है ? दूसरे शब्दों में चन्द्रविम्ब में दिखलाई देने वाला 'कृष्णचिन्ह' क्या है ? उक्त मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान करता है। वैदिक विज्ञान का तिरस्कार करते हुए लक्ष्मी के लाडले राजपुत्रों का का अनुरञ्जन करने वाले उनकी प्रशंसा में हीं अपने जीवन को धन्य माननें वाले, भारतीय वैदिक विज्ञान के परम शत्रु उन कवियों से ही पहिले पूंछ देखिए। देखें वे इस कलङ्क के सम्बन्ध में क्या उत्तर दते हैं ? बहुत दिनों की घटना है। इस सम्बन्ध में एक पद्य हमारे चर्म्मचक्षुओं के सामने आया था। संभवतः सभी संस्कृतानुरागी निम्न लिखित पद्य से सुपरिचित होंगे—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः, पङ्कं परे मेनिरे।
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलः श्यामं दरीदृश्यते।
तत् सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

कितनें ही कल्पना रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कृष्ण-भाव है वह एक कलङ्क का सूचक है। चन्द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुपत्नी) पर बलात्कार किया था। वही कलङ्क (कालिमा, कालिख) आज तक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है। कितनें हीं मानते हैं कि, चन्द्रमा समुद्रमन्थन के अवसर पर समुद्र से निकला है। समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कचड़) भी चन्द्रमा में लगा रह गया। वही चन्द्रमा में दिखलाई दे रहा है। कितनें ही कहते हैं कि, चन्द्रमा के क्रोड में एक मृगशावक (हरिण का बच्चा) बैठा है। हरिण चन्द्रमा का वाहन है। उस का पुत्र भी उसी के साथ है। अल्पवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमाने उसे अपने अङ्क (गोद) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। चन्द्रमा में दिखलाई देने वाला कृष्णभाव (कालिमा) वही क्रोडस्थ मृगशावक है। इसी लिए चन्द्रमा 'मृगलाञ्छन' नाम से प्रसिद्ध है। कितनें हीं विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमापर भूपिण्ड की छाया पड़ती है। चन्द्रमा मे दृष्ट कृष्ण-वर्ण भू की छाया मात्र है। परन्तु हमारी दृष्टि से (पद्यरचना करने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में .... जो श्यामता दिखलाई दे रही है, वह रात्रि का अन्धकारहै। रात्रिका जो घना अन्धकार था, उसे चन्द्रमाने पी लिया है। रात्रि का सारा अन्धकार चन्द्रमा के उदर में चला गया है। अतएव चाद्रन्रात्रियों में (शुक्लपक्ष में, विशेतः पूर्णिमा में) अंधकार नहीं रहता। वही पीतान्धकार चन्द्रकुक्षि में दिखलाई देरहा है।"

उपर्युक्त सभी पक्ष केवल कल्पना ही कल्पना है। यद्यपि इस कल्पना में भी-"भूच्छायमैच्छन् परे" यह वाक्य अवश्य ही आंशिक रूप से सत्य है। परन्तु इतर मिथ्यांशों के संदशपतित उसकी भी मौलिकता तिरोहित हो रही है। प्रकृत मन्त्र उसी सत्यांश का विश्लषण रहा है। जैसा कि निम्न लि-

खित चन्द्रोत्पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा।

जिस प्रकार बहिर्ग्रह नाम से प्रसिद्ध शनि, बृहस्पति, मङ्गल, एवं अन्तर्ग्रह नाम से प्रसिद्ध शुक्र-बुध- पृथिवी सूर्य्य के उपग्रह मानें जाते हैं, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना जाता है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जासकता है। यद्यपि चन्द्रमा को अत्रिपुत्र माना गया है, परन्तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्बन्ध है। अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक बनता है। भूपिण्ड भूतमय है। भूत की प्रतिष्ठा प्राण है। बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। वही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय, किंवा वागरूप प्राण अत्रि नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्विध अन्नादाग्नियों का निरूपण करते हुए हमनें पूर्व में पृथिवी में गार्हपत्य नाम के अन्नादाग्नि की सत्ता बतलाई है। इस अन्नादाग्नि की चित्य-चितेनिधेय दो अवस्थाएं होतीं हैं। चित्याग्नि भूतप्रधान है, इसी से भूपिण्ड बनता है। चितेनिधेय अग्नि प्राणप्रधान है। यही वागरूप अन्नादमूर्त्ति अत्रि-प्राण है। यही भूपिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"वागेवात्रिः। वाचा (पार्थिवान्नादाग्निना) ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै-नामैतद्यदत्रिरिति" (श० १४.५।२।२।)। इति।

भूपिण्ड वागरूप अत्रिप्राणमय है। अत एव इसे भी वागरूप ही कहा जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रौतवचनों से स्पष्ट होजाता है—

१.—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत० १०।५।१।१।)।

२—"इयं (पृथिवी) वै वाक्" (ऐ० ५।३३। शत० ४।६।६।१६)।

३—"वागिति पृथिवी" (जै० उ० ४।२२।११)।

४–"वागेवायं लोकः" (श० १४।४।३।११ ।)

५–"सा या सा वागग्निस्सः" (जै० उ० १।२८।३।)

६–"सा या सा वागासीत्, सोऽग्नि–(अन्नादः)–रभवत्" (जै० उ० २।२।१।)

यह वाग्रूप (अन्नादाग्निरूप) पार्थिव अत्रि प्राण वस्तुतः आपोमय परमेष्ठी का मनोता है। भृगु-अङ्गिरा-अत्रि इन तीनों का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी ही है। इन में भृगु एवं अङ्गिरा प्राण आगे जाकर घन-तरल-विरल अवस्था भेदसे क्रमशः आप-वायु-सोम, अग्नि-यम-आदित्य, इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। तीसरा अत्रिप्राण भृगु-अङ्गिरा प्राणवत् तीन अवस्थाओं में परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है, अत एव 'न त्रिः' इस निर्वचन के अनुसार भी इसे 'अत्रि' कहा जाता है। 'अत्ति' (अन्नं), "न त्रिः–" अत्रि शब्द के दो निर्वचन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ (तेज एवं आकाश को छोड़ कर) धामच्छद (जगह रोकने वाला) है। साथ ही में प्रायः प्रत्येक धामच्छद पदार्थ पारदर्शकता का प्रतिबंधक है। इस पारदर्शकता का अवरोधक यही अत्रिप्राण है। यह प्राण सूर्य्य का (ज्योति का) प्रतिबंधक है। जिस धामच्छद पदार्थ में अत्रिप्राण की प्रधानता रहती है, उस की पारदर्शकता नष्ट हो जाती है सौररश्मिएं उस में से पारावारीण नहीं होसकतीं। तमोमयी पाप्मासृष्टि का अधिष्ठाता यही अत्रिप्राण है। ऋतुकाल में स्त्री के रज में तमोमयी सृष्टि का मूलभूत यही अत्रिप्राण रहता है। अत एव ऋतुमती को 'आत्रेयी' कहा जाता है। दिव्य सौरज्योतिर्मय देवताओं की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—"पा-

ष्मानोऽत्रिणः" (ष० ब्रा० ३।१।) -"रक्षांसि वै "पाप्मात्रिणः" (ऐ० २।२।)। इसी पाप्मभाव के कारण धर्म्मशास्त्र में ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध किया गया है।

पृथ्वी का मूल उपादान पानी है। इसी के साथ अन्नादाग्निमय धामच्छद पारदर्शकता का प्रतिबन्धक आपोमय पारमेष्ठ्य अत्रिप्राण भी संयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिपाक से चित्याग्निमय भूपिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। भूपिण्ड पानी-अग्नि (अत्रि) का समन्वितरूप है। इसी अग्नि के सम्बन्ध से इसके लिए "यथाग्निगर्भा पृथिवी" यह कहा जाता है। भूपिण्ड क्या है, चित्याग्निमूर्त्ति अन्नादाग्निरूप अत्रिप्राणमूर्त्ति है। यह भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाता है। बृहताकेन्द्रस्थित सूर्य्य के चारों ओर दीर्घवृत्त (अण्डाकारवृत्त) रूप क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ भूपिण्ड संवत्सरगति का अधिष्ठाता बनता है, एवं स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का प्रवर्त्तक बनता हुआ अहोरात्र का स्वरूपसम्पादक बनता है। स्वाक्ष, एवं साम्वत्सरिक परिभ्रमण करते हुए पार्थिव अग्नि में दशों दिशाओं में व्याप्त दिक्सोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। पार्थिव अग्नि विकासधर्म्मा है, एवं यह भूपिण्ड के खण्ड खण्ड करना चाहता है। परन्तु संकोचधर्मा सोम अग्नि में आहुत होकर उसके इस विकास का दमन करता रहता है। आगत सोम घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। भूपिण्डावच्छिन्न सोम घनावस्थापन्न है, इसी को 'ध्रुवसोम' कहा जाता है। पृथिवी के पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष में व्याप्त पार्थिव सोम तरलावस्थापन्न है, इसी को 'धर्त्रसोम' कहा जाता है। एवं पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप द्युलोक में पार्थिव सोम विरलावस्थापन्न (प्राणावस्थापन्न) है, इसी को 'धरुणसोम' कहा जाता है। तात्पर्य यह है

कि दिक्सोम पार्थिव वागग्नि में आहुत होता है । सोमाहुति से प्रदीप्त अत्रि-प्राणमय पार्थिव वागग्नि अङ्गिरा नाम धारण करता हुआ ऊपर की ओर (द्युलोक की ओर) जाता है । इस वागग्नि की घनादि तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं । भूपिण्डावच्छिन्न सोममय पार्थिव अग्नि घन है । पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, वायु नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्ष्य अग्नि तरल है । एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, आदित्य नाम से प्रसिद्ध दिव्याग्नि विरल है । अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण तद्गर्भित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं । अन्तरिक्ष में पार्थिव वागग्निरूप अत्रिप्राण व्याप्त रहता है । इसी के गर्भ में तरलसोम प्रतिष्ठित रहता है । भूपिण्ड घूम रहा है । अन्तरिक्षस्थसोम यहीं (अन्तरिक्षप्रदेश में) उस अत्रिरूप वागग्नि से प्रवृक्त होकर एक स्थान में घनीभूत होता रहता है । पृथिवी की तीन सांवत्सरिक परिक्रमाओं से एकीभूत वही प्रवृक्त पार्थिव तरल सोम चन्द्रबिम्ब रूप में परिणत हो जाता है । यह पृथिवी के प्रवृक्त सोमरस से उत्पन्न हुआ है, इस लिए तो इसे पृथिवी का उपग्रह माना जाता है, एवं अत्रिनेत्र के प्रस्रवण से उत्पन्न होने के कारण यह अत्रिपुत्र भी माना जाता है । चन्द्रमा के इसी औत्पत्तिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण कहता है—

*पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवनृषिः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति नः श्रुतम् ॥२॥

* इस विषय का विस्तृत विवेचन श्रीगुरुप्रणीत 'अत्रिख्याति' नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए ।

तस्यो र्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।
सोमत्वं तनुरापे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः ।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
(ब्रह्माण्डोपोद्घात-हरिवंश-१-६५)

'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि सार्वदेवत्य है। इन देवताओं के यजन (संगतिकरण) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव हम सोम को अवश्य ही 'देवयजन' (देवताओं के यज्ञरूप यजन का साधन) कहने के लिए तय्यार हैं। भूपिण्डस्थ अग्नि में आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही 'देवयजन' है। यही देवयजन भूमि है। यही देवयजन सोम पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार चन्द्ररूप में परिणत हुआ है। पार्थिवदेवयजन सोम पितृप्राणमय है। कारण पितरप्राण का अधिष्ठाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरों के लिये "पितरः सोम्यासः" (यजुः सं०) यह कहा जाता है। जिस प्रकार देवताओं का अन्न 'स्वाहा' कहलाता है, एवमेव पितरों का अन्न अन्तर्यामसम्बन्ध की प्रधानता से—"स्वस्मिन् धत्ते, अथवा स्वं (आत्मानं) धत्ते" इस निर्वचन के अनुसार 'स्वधा' नाम से व्यवहृत होता है। स्वधा सोमद्रव्य है, एवं यह पितरप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्रेरणा से पार्थिव सोमाख्य देवयजनभाग चन्द्ररूप में परिणत होता है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"स्वधाभिः—चन्द्रमसि-ऐरयन्" यह कहा गया है। आरम्भ में पृथिवी के प्रवृत्त देवयजन (सोम) से चन्द्रमा बनगया है। चन्द्रमा के साथ सौर रश्मियों का सम्बन्ध हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित होगया। परन्तु चन्द्रमा के मध्य में पार्थिवसोम घनरूप से प्रतिष्ठित था। दूसरे शब्दों में

चान्द्रगर्भित सोम पार्थिव कृष्णभाग से युक्त था। इस पार्थिव भाग की प्रधानता से वहां का सोम शीघ्र न बन सका। अतएव वहां सौररश्मियों की प्रतिष्ठा न होसकी। वही पार्थिव देवयजनभाग हमें आज भी काला दिखाई दे रहा है।

सृष्टि के आरम्भ में देवयजन द्वारा चन्द्रमा बनाथा। आज भी पृथिवी से निकलने वाला वह देवयजनभाग उसी रूप से चन्द्रमा का स्वरूपसम्पादन (पोषण--पुष्टि) कर रहा है। चान्द्रसोम ओषधिनिर्म्माण में खर्च होता रहता है। पार्थिव उदक्त सोम चन्द्रमा में जाकर चन्द्रमा की क्षतिपूर्ति करता रहता है। नियन्ता का यह नियतिचक्र अवश्य ही आश्चर्य में डालने वाला है। 'सोम देवयजन' है, यह सिद्ध हो चुका। विशुद्ध पार्थिवाग्नि, एवं चन्द्रमा इन दो स्थानों में इस की उपलब्धि हो सकती है। विशुद्ध पार्थिवाग्नि में वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित है, सर्वथा विशुद्धरूप चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। वह वैधयज्ञ में प्राप्त नहीं होसकता। उसकी केवल भावना की जाती है। दूसरा है पार्थिवदेवयजन ओषधि- तृण--खननव्यापार से उखाड़ी हुई मिट्टी--इन सब में विशुद्धअग्नि नहीं है। प्रतिमार्जन का तात्पर्य्य यही है कि भूस्तरपर रहने वाला आगन्तुक, किंवा श्लथअग्निरूप अयज्ञिय भाव हटजाय, एवं विशुद्ध पार्थिवाग्निरूप देवयजनभाग प्राप्त होजाय। इसी पार्थिव देवयजनसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रतिमार्जनकर्म्म किया जाता है। पार्थिवदेवयजन के साथ ही चान्द्रदेवयजनसंपत्ति भी हमें (भावनामय मन्त्रबल से) प्राप्त होजाय, इस के लिए "क्रूरस्य विसृपः" इत्यादि मन्त्र बोलते हुए प्रतिमार्जन कर्म्म किया जाता है। जिस प्रकार उपासनाकाण्ड में केवल भावना के बल पर विदूरस्थ उपास्य देव अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होजाता है, एवमेव यहां भी भावना के बल से अवश्य ही इस वेदि में वह

चान्द्रदेवयजनसंपत्ति प्रतिष्ठित होजाती है। यह तो हुआ इस प्रकरण का आधिदैविक अर्थ, अब दो चार पङ्क्तियों में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) रहस्य भी अवगत कर लेना चाहिए।

—०※०—

दायविभागाख्या न के आधिभौतिक चरित्र में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यविध देवता और असुरों की सत्ता थी। इन में असुर दल तो आजतक विद्यमान है, परन्तु देवसत्ता एकान्ततः उच्छिन्न हो चुकी है। अस्तु. कहना यह है कि उस पुरायुग में देवता एवं असुरों में आए दिन युद्ध होता रहता था। देवताओं का प्रधानबल यज्ञ था। यज्ञबल से ही देवता समय समय पर असुरों को परास्त करते रहते थे। इस यज्ञ का साधन सोमवल्ली थी। यही सोमवल्ली देवताओं का प्रधान देवयजन था। असुर निरन्तर इस देवयजन को

करने का प्रयास करते रहते थे। इस आए दिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए देवताओं नें अपने इस देवयजन की रक्षा के लिए— अत्रिमहर्षि के पुत्र चन्द्रमा को नियत किया। चन्द्रमा ब्राह्मण थे। भारतवर्ष के निवासी थे। भौमब्रह्मा नें चन्द्रमा को अपना मानस पुत्र बनाया। स्वयं रथ में बिठला कर चन्द्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा करवाई। अन्त में राज्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का तो दिक्पाल बनाया, एवं ओषधिलोक का लोकपाल बनाया। इसी लोकपाल एवं दिक्पाल चन्द्रमा की रक्षा में तीनलक्ष प्राधेय-मौनेय गन्धर्वों के साथ सोमवल्ली सोंपी गई। जहां जहां सोमवल्ली का उद्गम होता था, वहां वहां च द्रमा ने अपनी देख रेख में गंधर्वों को रक्षा के लिए नियत किया। आगे जाकर गुरुपत्नी के अपहरण से

हतबुद्धि चन्द्रमा ने देवताओं की देवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखलाई। असुरों को अच्छा अवसर मिल गया। फलतः असुरों के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड़ ध्वंस कर दिया गया। तभी से देवबल नास्तिभाव में परिणत होगया। प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आधिदैविक चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतिहासिक घटना का भी स्मरण दिलाती है।

इति–प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्तिः

ब्राह्मणोक्त वेदिनिर्म्माण सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों की वैज्ञानिक उपपत्ति बतला दी गई। अब "अनवमर्श" प्रकरण शेष रहजाता है। पूर्व के अनुवाद प्रकरण में (देखिए श० वि० भा० ३ वर्ष पृ० सं० ३४५-४६-४७ में) यह बतला दिया गया है कि, जब तक वेदि पर कुशास्तरण नहीं कर लिया जाय, तब तक भूल कर भी वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। तात्पर्य्य यह है कि मन्त्रद्वारा खननादि व्यापार से वेदिप्रदेश क्रूर हिंसक विद्युत् से युक्त होजाता है। उधर बर्हि में सौर वेन प्राणमयी विद्युत् रहती है। विद्युद्विज्ञानवेत्ताओं को यह भलीभांति विदित है कि, मशीनरी का संचालन करने वाले विद्युतयन्त्र के साथ एक तांबे का तार स्वतन्त्ररूप से मीटर [विद्युच्छक्ति प्रदाता यन्त्र] तक बद्ध किया जाता है। यदि संचालक की असावधानी से, अथवा अधिक दबाव से परिमाण से अधिक विद्युच्छक्ति का समावेश होजाता है, तो वह ताम्रतन्तु [तार] उस का पान कर जाता है। तत्काल फ्यूज उड जाता है। संचालक वर्ग निरा-

पद रहजाते हैं। यदि यह तार न हो तो वह उद्रिक्त विद्युत् इतस्ततः व्याप्त होकर संघात का कारण बनजाती है। बस ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् संघात करने वाली है। इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है। बर्हि में विद्युत् है, जैसा कि पूर्व के बर्हिउत्पत्ति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है [देखिए श०वि०भा० २ वर्ष ५०८से ५५६ पर्य्यन्त]। वह दर्भविद्युतवेदि विद्युत् का पान कर जाती है । अतः दर्भास्तरणानन्तर वेदिस्पर्श से कोई हानि नहीं होती। यद्यपि भौतिक विद्युत् की तरह स्पर्शकाल म यहां शरीर में किसी प्रत्यक्ष आघात का अनुभव नहीं होता। कारण इस यज्ञविद्युत् का प्राण से सम्बन्ध है। प्राणविद्या के विद्वानों का कहना है कि, स्पर्शकर्त्ता का प्राण मूर्च्छित हो जाता है, एवं सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म नष्ट हो जाता है। प्रत्यक्षानुभव न सही, यदि हमें यज्ञ के परोक्षफलपर विश्वास है, फलतः इसी विश्वास के आधार पर यदि हम यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होते हैं, तो हमें बाध्य होकर ऋषिप्रोक्त पद्धतिक्रम का ही आश्रय लेना पड़ेगा । प्राणपरीक्षक ऋषियों के आदेशपर चलना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य होगा । "ऐसा करने से क्या हो गया, क्या हो जायगा, ऐसा ही क्यों न करलें" इस प्रकार का बुद्धिवाद पुराने युग में भी प्रचलित था । परन्तु उस समय यज्ञविद्या के रहस्य वेत्ता विद्यमान थे । समय समय पर फैलने वाली उक्त भ्रान्ति का उन रहस्य वेत्ताओं की ओर से निराकरण होता रहता था । परन्तु आज का युग बड़ा विचित्र है। दुर्भाग्य से देश में रहस्यवेत्ताओं का नितान्त अभाव है । फलतः अज्ञजनों द्वारा यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जा रहा है। गहनतम यज्ञविद्या आज बालक्रीड़ा का साधन बन रही है । आर्षऋषियों के चिरन्तन सिद्धान्तों की अवहेलना कर

अपनें काल्पनिक जगत को प्रधानता दी जा रही है। यज्ञविद्या का आचार्य भारतवर्ष आज क्यों इस हीन दशा को प्राप्त हो रहा है ? इस प्रश्न का यही समाधान है। आर्षपद्धतियों का अनुसरण करने का गर्व रखने वाला सनातनधर्म्मी जगत केवल आडम्बरभक्त है। यज्ञ की मौलिकता से वह बिलकुल पीछे हट गया है। नहीं तो वही वदमन्त्र, वही सामग्री, फिर यजमान का अभ्युदय क्यों नहीं ? 'कर्मकाण्डी' महोदय आज जैसे दुर्दशाग्रस्त हैं, वैसे दूसरे नहीं. कुछ परिगणित मन्त्र (सो भी नितान्त अशुद्ध) कण्ठ करनें मात्र से कर्मठ की उपाधि मिलजाती है। जो यज्ञकर्म्म एक वैज्ञानिक [साइन्टिफिक ---- ----]कर्म्म है, जिसके संचालन के लिए पर्य्याप्त योग्यता अपेक्षित है, वह आज अर्द्धशिक्षित, किंवा अशिक्षित वेदपाठियों का खिलौना बन रहा है। फल इस का यह हो रहा है कि, यज्ञ न करने वाले जहां सुखी देखे जाते हैं, वहां यज्ञकर्त्ता हीन दशा में मिलते हैं। यदि धर्म्म का "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" यह लक्षण है, तो फिर सतत धर्म्मानुष्ठान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्मी क्यों दिन दिन अवनति के गर्त्त की ओर अग्रेसर होते जा रहे हैं ? क्या आपनें कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा ?

यह तो हुई अपने घर की बात। अब चलिए आर्यसामाजिक जगत की ओर। यह समाज वेद का परम भक्त है। साथ ही में इसे यज्ञविद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यहीं समाप्त नहीं होजाती। दैनिक यज्ञों (हवनों) द्वारा यह अपने विश्वास को कार्यरूप में भी परिणत कर रहा है। परन्तु फल की दृष्टि से इन का भी सारा कर्म्म कलाप निरर्थक है। अवैध (पद्धति विरुद्ध) कल्पित ताम्रकुण्डों में कल्पित पद्धतियों के द्वारा घृत-केशर-कपूर आदि डाल देना हीं इन की यज्ञविद्या का समाप्ति है। महाशय कहां गए थे ?

अजी समाज मन्दिर में सम्मिलित हवन करने गया था। हम आक्षेप नहीं करते। अपितु इन अकाण्ड ताण्डवों को देखकर हमारा अन्तरात्मा व्याकुल है। हम इसी अभिनिवेश में पड़कर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाता है, तो सद्विचार के स्थान में शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया जाता है। मध्यस्थ बनाए जाते हैं, वहीं के कोई मजिस्ट्रेट, पुलिस ऑफीसर, या और कोई धनिक। यदि आप बुरा न मानें तो मुझे यह कहलेने दीजिए कि, आज आर्यसमाज सत्यसिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है। बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक। साथ ही में हम यह भी समझते हैं कि,जहां ऋषिप्रणीत पद्धतियों का आदर नहीं, वहां हमारे इस कथन का कोई मूल्य न होगा। फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। आर्यजगत् में "नमस्ते" बोलने की प्रथा है। साथ ही में सनातनधर्म्मी जगत् में व्यवहृत होने वाले "जयरामजी की" "जयगोपालजी की" "जैजैश्रीगोकुलेश" "प्रणाम" "नमस्कार" "जयमाताजी की" इत्यादि वाक्योंकी अवज्ञा की जाती है। आज हम समस्त आर्यजगत् को यह चेतावनी देरहे हैं कि, परस्पर में "नमस्ते--महाशय ! नमस्ते महाशय !" का उद्घोषकरता हुआ वह प्रत्यवाय का भागी बन रहा है। "नमस्ते" शब्द वैदिक है,। वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त है, 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादिरूप से देवस्तुति सम्बन्ध में (संहिताभाग में भी) नमस्ते पद पद पर प्रयुक्त है। यह सब कुछ ठीक होनें पर भी लौकिक व्यवहारकाल में परस्पर में'नमस्ते' 'नमस्ते' बोलना स्वयं वेदके ब्राह्मण भाग द्वारा ही निषिद्ध है! स्वाहा, स्वधा वौषट् श्रौषट्, स्वगा, आदि शब्द अन्न के वाचक हैं। परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है। देवताओंको अन्नाहुति-'स्वाहा' शब्द से, पितरों को स्वधा शब्द से, इन्द्र को 'वौषट्' शब्द से देने का विधा-

न है । इस शब्दभेदव्यवहारभेद में व्यतिक्रम नहीं किया जा सकता । लोक में भी देखिए—रसोई जीमिए, भोजन कीजिए, रोटी खालो, रोटी खाले, यह सब वाक्य समानार्थक हैं । परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते । अपितु तत्तद्वाक्य तत्तद्व्यक्तिविशेषों के लिए ही नियत हैं । ठीक वही स्थिति 'नमस्ते' शब्द की है । यज्ञ करनेवाला यजमान दीक्षित होता है । सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है । यहीं से इसके लिए- "स वै सत्यमेव वदेत्" यह नियम लागू होता है । जब तक यजमान यज्ञकर्म्म में दीक्षित रहता है, तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्यव्रत-सत्यभाषण-अधःशयन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यज्ञजनित अतिशय का अन्तर्याम सम्बन्ध होता है । दीक्षित के इन्हीं कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"तन्न सर्व—इवाभिप्रपद्येत—ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा । ते हि यज्ञियाः । स वै न सर्वेणेव संवदेत । देवान्वाऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते । स देवतानामेको भवति । न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते । ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा । ते हि यज्ञियाः । तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्-एतेषां (ऋत्विजां) एवैकं ब्रूयात्—'इममिति विचक्ष्व, इममितिविचक्ष्वेति । एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः"

(शत० ३ का० १।१।६—१० कं०) इति ।

यज्ञसंस्था एक देवसंस्था है, प्रकृतिसंस्था है । इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है । यज्ञमण्डल में ऋत्विजों और यजमानों में जो परस्पर अभिनन्दन व्यवहार है, वह 'नमस्ते' शब्द से

होता है। इस प्रकार नमस्ते शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है। कारण "नमः" यज्ञ का वाचक है। "नमस्ते" का अर्थ है, हम आप के यज्ञ (यज्ञ-साधक) हैं। ऐसी अवस्था में यज्ञातिरिक्त सामान्य लौकिक व्यवहारों में "नमस्ते" बोलना मिथ्यादोष का भागी बनना है। सामान्य व्यवहार यज्ञ नहीं है। यज्ञ के अभाव में "नमस्ते" (यज्ञस्ते) बोलना मिथ्याव्यवहार है। अतः यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में "नमस्ते" व्यवहार नहीं करना चाहिए। यही आदेश देती हुई श्रुति कहती है—

"चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदशमासाः संवत्सरः, प्रजापतिश्चतुर्दशः। प्रजापतिरग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति, नमो नम इति। यज्ञो वै नमः। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। **तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयात् नमस्ते इति।** यथा हनं ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति, तादृक् तत्" (श०ब्रा० ९-कां०।२।१।१६कं०) इति।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-शूद्र बाल-युवा-वृद्ध सभी अहर्निश नमस्ते बोलने में हीं अपना गौरव समझ रहे हैं। क्या आर्यजगत् का यह व्यवहार वैदिक है? अस्तु. कहना हमें केवल यही है कि आत्मप्रधान वैदिकविज्ञान के विलुप्तप्राय हो जाने से, साथ ही में भौतिकविज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के सहवास दूषण से हम आर्ष आदेशों की उपेक्षा कर कल्पित यज्ञ द्वारा अपना अनिष्ट साधन कर रहे हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। परन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका सत्कार न करना बुरा है। यही कारण है कि, यज्ञादि धर्म्मानुष्ठान न करने वाली जनता भौतिक संपत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध दिखलाई दे रही है। परन्तु ठीक इस के विपरीत

यज्ञादि धर्म्मानुष्ठानों का आडम्बर करने वाली नामपात्र की भारतीय धार्म्मिक जनता सब प्रकार से त्रस्त हो रही है। फलतः उसके मुख से इन उद्गारों का निकलना स्वाभाविक बन जाता है कि-"जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी हैं, करने वाले हम दुःखी हैं, ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करैं।"

प्रबलवेग से बढ़ती हुई इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज आङ्गिरस बृहस्पति के दिव्यात्मा का यह आदेश देने हम अपनी श्रद्धालु धार्मिक जनता के सामने उपस्थित हुए हैं कि, वह भूल कर भी यज्ञकर्म्मानुष्ठान पर अश्रद्धा न करै। हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि, यदि उसने आर्षपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया, तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अभ्युदय का कारण बनेगा, एवं इस वैध (यथाविधि सम्पादित) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राष्ट्रों में अपने लिए उच्चतम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी, और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आख्यानांश हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है।

ब्राह्मणम् ३ [५] अध्यायः ॥२॥

इति-वेदिसम्पादनम्

अथ

तृतीयाध्यायः

अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि । तद्यत् स्रुचः सम्मार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं तद्वा ऽअनु मनुष्याणां तस्माद् यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्णेनिजति । तैर्निर्णिज्य परिवेविषत्येवं वा ऽएष देवानां यज्ञो भवति यच्छृतानि हवीꣳषि क्लृप्ता वेदिस्तेषामेतान्येव पात्राणि यत् स्रुचः ॥ २ ॥

स यत् सम्मार्ष्टि । निर्णेनेक्त्येवैना ऽएतन्निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजत्येकेन मनुष्येभ्योऽद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्य आपो हि कुशा ब्रह्म यजुरेकेनैव मनुष्येभ्योऽद्भिरेवैवम्वेतन्नाना भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते । प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा ऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता ऽअरातय ऽइति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुस्तद् यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यतोऽपहन्ति ॥ ५ ॥

स वा ऽइत्यग्रेरन्तरतः सम्मार्ष्टि । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिदिति यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयादेवमेतदाह वाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मीति यज्ञियन्त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाहैतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्मार्ष्टि वाजिनीन्त्वेति स्रुचं तूष्णीं प्राशित्रहरणम् ॥ ६ ॥

स वा ऽइत्यग्रेरन्तरतः सम्मार्ष्टीति । मूलैर्बाह्यत इतीव वा ऽअयं प्राण ऽइतीवोदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्मादितीवेमानि लोमानीतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य सम्मृज्य प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयदेवं तत्तस्मात् प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि । अथेतराः स्रुचो योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवस्तस्माद् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्द्धं यन्ति य ऽएव तास्वपि कुमारक ऽइव पुमान् भवति स ऽतत्र प्रथम

ऽएत्यनूच्य ऽइतरास्तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्ट्यथेतराः स्रुचः ॥ ९ ॥

स वै तथैव सम्मृज्यात। यथाग्निं नाभिव्युक्षेद् यथा यस्मा ऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेदेवं तत् तस्मादु तथैव सम्मृज्याद् यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् प्राङिवैवोत्क्रम्य ॥ १० ॥

तद्धैके। स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति वेदस्याहाभूवन्स्रुच एभिः सममार्जिषुरिदं वै किञ्चिद् यज्ञस्य नेदद् बहिर्द्धा यज्ञाद् भवादिति तदु तथा न कुर्याद् यथा यस्मा अशनमाहरेत् तं पात्रनिर्णेजन पाययेदेवं तत् तस्मादु परास्येदेवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीꣳ सन्नह्यति। जघनार्द्धो वा ऽएष यज्ञस्य यत् पत्नी प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतद् युक्ता मे यज्ञमन्वासाता ऽइति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नह्यति। योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्त्यस्ति वै पत्न्या ऽअमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति तदेवास्या ऽएतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मध्येनैवोत्तरार्द्धेनाज्यमवेक्ष्यते तस्मात् पत्नीꣳ सन्नह्यति ॥ १३ ॥

स वा ऽअभिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वै वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेष वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासः सन्नह्यति ॥ १४ ॥

स सन्नह्यति । अदित्यै रास्नासीतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्न्येषा वा ऽएतस्य पत्नी भवति तदस्या ऽएतद्रास्नामेव करोति न रज्जुꣳ ह्विरो वै रास्ना तामेवास्या ऽएतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिर्वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयाद् यद् ग्रन्थिं कुर्यात् तस्मान्न ग्रन्थिं करोति ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वमेवोद्गूहति । विष्णोर्वेष्योऽसीति सा वै न पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीतेयं वै पृथिव्यदितिः सेयं देवानां पत्नी सा पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत् सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथो ह पत्नी ज्योग्-जीवति तदस्या ऽएवैतन्निह्नुते तथो हैनामियं न हिनस्ति तस्मादु दक्षिणात ऽइवैवान्वासीत ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रेत ऽआज्यं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते । अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्यनार्त्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाहाग्नेर्जिह्वासीति यदा वा ऽएतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा ऽइवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति सुहूर्देवेभ्य ऽइति साधु देवेभ्य ऽइत्येवैतदाह धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुष ऽइति सर्व्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवीꣳषि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ ऽआहवनीये शृतोऽसदित्यथ यदमुत्राग्रेऽधिश्रयति पत्नीꣳ ह्यवकाशयिष्यन् भवति न हि तदवकल्पते यत्सामि प्रत्यग् धरेत पत्नीमवकाशयिष्यामीत्यथ यत् पत्नीं नावकाशयेदन्तरियाद्ध यज्ञात् पत्नीं तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति तस्मादु सार्द्धमेव विलाप्य प्रागुदहरत्यवकाश्य पत्नीं यस्यो पत्नी न भवत्यग्र ऽएव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति तत्तत ऽआदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति ॥ २० ॥

तदाहुः । नान्तर्वेद्यासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्त्यवसभाऽइह देवानां पत्नीः करोति परःपुꣳसो हास्य पत्नी भवतीति तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं

पत्न्या ऽअस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परः पुꣳसो वा पत्नी स्याद् यथा वा यज्ञो व्वेदिर्यज्ञ ऽआज्यं यज्ञाद् यज्ञं निर्म्मिमा ऽइति तस्मादन्तर्व्वेद्येवासादयेत् ॥ २१ ॥

प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः । ते तत ऽआदत्ते ताभ्यामाज्यमुत्पुनात्येको वा ऽउत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति ॥ २२ ॥

स ऽउत्पुनाति । सवितुस्त्वा प्रसव ऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सोऽसावेव बन्धुः ॥ २३ ॥

(शतम्—२० कण्डिकाः)

अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति सवितुर्व्वः प्रसव ऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सोऽसावेव बन्धुः ॥ २४ ॥

तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्याम् । प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयो दधाति तदिदमप्सु पयो हितमिदꣳहि यदा व्वर्षत्यथौषधयो जायन्त ऽओषधीर्ज्जग्ध्वापः पीत्वा तत ऽएष रसः सम्भवति तस्माद् रसस्यो चैव सर्व्वत्वाय ॥ २५ ॥

अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति तदु होवाच याज्ञवल्क्यः कथन्नु न स्वयमध्वर्युवो भवन्ति कथꣳ स्वयं नान्वाहुर्य्यत्र भूयस्य इवाशिषः क्रियन्ते कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते । सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि वै चक्षुस्तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एष सत्य एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्रꣳ ह्येतदमृतꣳ ह्येतत्तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २८ ॥

इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

४

तृतीयाध्याये च प्रथमं ब्राह्मणम् ।

१

अथ द्रव्यसंस्काराः।

स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि। तद्यत् स्रुचः सम्मार्ष्टि—यथा वै देवानां चरणं तद्वा अनु मनुष्याणाम्। तस्माद् यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति—अथ पात्राणि निर्णेनिजति। तैर्निर्णिज्य परिवेविषति। एवं वा एष देवानां यज्ञो भवति—यच्छृतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिः, तेषामेतान्येव पात्राणि—यत्स्रुचः॥ स यत्सम्मार्ष्टि—निर्णेनिक्त्येवैना एतत्—निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति। तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजति, एकेन मनुष्येभ्यः। अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यः। आपो हि कुशाः, ब्रह्म यजुः। एकनैव मनुष्येभ्यः—अद्भिरेव। एवम्वेतन्नाना भवति॥ अथ स्रुवमादत्ते। तं प्रतपति—"प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो, निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः"—(१ अ० २९ मं०) इति वा॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः, तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति॥ स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि—"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्"—(१ अ० २९ मं०) इति। यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयाद्, एवमेतदाह। "वाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि"—(१ अ० २९ मं०) इति। यज्ञियन्त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाह। एतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्मार्ष्टि। वाजिनीन्त्वेति स्रुचम्। तूष्णीं प्राशित्रहरणम्॥ स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि, इतिमूलैर्बाह्यतः। इतीवं वा अयं प्राणः, इतीवोदानः। प्राणोदानावेवैतद्दधाति। तस्मादितीवेमानि, लोमानि, इतीवेमानि। स वै समृज्य-समृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति। यथावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेत्—एवं तत्। तस्मात् प्रतप्य—प्रतप्य प्रयच्छति॥ स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुचः। योषा वै स्रुग्, वृषा स्रुवः—तस्मात्। यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्द्धं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति—स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्यः इतराः। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतरः स्रुचः॥ स वै तथैव समृज्याद्, यथाग्निं नाभिन्युक्षेत। यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्स्यात्, तं

पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत्-एवं तत् । तस्मादु तथैव समृज्याद्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् । प्राङ्वैवेत्रोत्क्रम्य ॥ तद्धैके-स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति । वेदस्याहाभूवन्-स्रुचः । एभिः सममार्जिषुः । इदं वै किञ्चिद् यज्ञस्य । नेदिदं बहिर्द्धा यज्ञाद् भवदिति । तदु तथा न कुर्यात् । यथा यस्मा अशनमाहरेत्-तं पात्रनिर्णेजनं पाययेद्-एवं तत् । तस्मादु परास्येदेवैतानि ॥ अथ पत्नीं सन्नह्यति । जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राङ मे यज्ञस्तायमानो यादिति । युनक्त्येवैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ योक्त्रेण सन्नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति । अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं, यदवाचीन नाभेः । अथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति । तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ मेध्येनैवोत्तरार्द्धेनाज्यमवेक्षते । तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति ॥ स वा अभिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वै वासः, वरुण्या रज्जुः । तदोषधीरेवै तदन्तर्दधाति । तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति । तस्मादभिवासः सन्नह्यति ॥ स सन्नह्यति-"अदित्यै रास्नासि" [१ अ० ३० मं०] इति । इयं वै पृथिवी-अदितिः, सेयं देवानां पत्नी । एषा वा एतस्य पत्नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति, न रज्जुम् । हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः । वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयात्—यद् ग्रन्थिं कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थिं करोति ॥ ऊर्द्ध्वमेवोद्गूहति—"विष्णोर्वेष्प्योऽसि" [१ अ० ३० मं०] इति । सा वै न पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीत । इयं पृथिवी-अदितिः, सेयं देवानां पत्नी । सा पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद्धेमामभ्यारोहेत् । सा पत्नी क्षिप्रऽमुं लोकमियात् । तथो ह पत्नी ज्योग् जीवति, तदस्या एवैतन्निह्नुते । तथो हैनामियं न हिनस्ति । तस्मादु दक्षिणत इवैवान्वासीत ॥ अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी, रेत आज्यम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ सावेक्षते-"अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि"[१ अ० ३० मं०] इति । अनार्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । "अग्नेर्जिह्वासि" [१ अ०

३० मं०] इति । यदा वा एतदग्नौ जुह्वति, अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति । तस्मादाह- 'अग्नेर्जिह्वासि'-इति । "सजूर्देवेभ्यः" [१ अ० ३० मं०] इति । साधु देवेभ्य इत्येवैत- दाह । "धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे" [१ अ० ३० मं०] इति । सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ॥

अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति, यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति– सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदिति । अथ यदमुत्राग्नेऽधिश्रयति, पत्नीं ह्यत्रकाशयिष्यन् भवति । न हि तदवकल्पते–यत्सामि प्रत्यग् हरेत्–पत्नीमवकाशयि- ष्यामीति । अथ यत्पत्नीं नावकाशयेत्–अन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति । तस्मादु सार्द्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरति–अवकाश्य पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति । तत्तत आदत्ते, तदन्तर्वेद्यासादयति ॥ तदाहुः–नान्तर्वेद्यासादयेत् । अतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति, अवसभा अह देवानां पत्नीः करोति, परःपुंसा-उ--हास्य पत्नी भवतीति । तदु होवाच याज्ञवल्क्यः-यथा- दिष्टं पत्न्या अस्तु । कस्तदाद्रियेत–यत्परःपुंसा पत्नी स्यात् । यथा वा यज्ञो वेदिः, यज्ञ आज्यम्–यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति । तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥ प्रोक्षणीषु पवित्रे भव- तः । ते तत् आदत्ते, ताभ्यामाज्यमुत्पुनाति । एको वा उत्पवनस्य बन्धुः-मेध्यमेवैतत्करो- ति ॥ स उत्पुनाति–"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य र- श्मिभिः" [१ अ० ३१ मं०] इति । सोऽसावेव बन्धुः ॥ अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्रा- भ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति-"सवितुर्वः प्रसवउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मि- भिः" [१ अ० ३१ मं०] इति । सोऽसावेव बन्धुः ॥ तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्रा- भ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति । तदिदमप्सु पयो हितम् । इदं हि यदा वर्षति, अथोषधयो जायन्ते, ओषधीर्जग्ध्वाप: पीत्वा तत एष रसः सम्भवति । तस्मादु रसस्य चैव सर्वत्वाय ॥ अथाज्यमवेक्षते । तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति । तदु होवा-

च याज्ञवल्क्यः–कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति, कथं स्वयं नान्वाहुः, यत्र भूयस्य इवाशिषः क्रियन्ते। कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति। यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते–यजमानस्यैव सा। तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत॥ सोऽवेक्षते। सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुस्तस्मात्–यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाताम्–'अहमदर्शम्' 'अहमश्रौषम्' इति, य एव ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति–तस्मा एव श्रद्ध्याम। तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति॥ सोऽवेक्षते–"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" [१ अ० ३१ मं०] इति। स एष सत्य एव मन्त्रः। तेजो ह्येतत्, शुक्रं ह्येतद्, अमृतं ह्येतत्। तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति॥

श्रीः

मूलानुवादप्रकरण

वेदिसम्पादन कर्म्म समाप्त हो चुका है। हवनीयद्रव्य (आहुति-द्रव्य) सम्पन्न हो गया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, आग्नीध्र नाम के ऋत्विक्ने उन सब को अध्वर्यु के प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) यथास्थान रख दिया है। इतना कार्य समाप्त होजाने के अनन्तर क्या होता है ? संस्कारब्राह्मण का अङ्गभूत यह ब्राह्मण इसी जिज्ञासा को पूर्ण करता है। इस ब्राह्मण की ११ कण्डिका पर्य्यन्त एक कर्म्मसन्तान है। इस एकादशकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग में स्रुव-स्रुक्-प्राशित्रहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्मार्जन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के ऋत्विक् को (यथास्थान रखने के लिए) लौटाने का विधान है। वही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद में स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराग्र स्फ्य रखने के अनन्तर) वह (अध्वर्यु) स्रुचों का सम्मार्जन करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए स्रुक्सम्मार्जन करता है (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण-व्यवहार) है, उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इस लिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परोसने का भोज्यद्रव्य) संपन्न हो जाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकवर्ग) पात्रों को (भोज्यपात्रों को) पानी से धोकर साफ कर लेते हैं। साफ करके उन पात्रों से परोसगारी करते हैं।

(जो स्थिति मनुष्यों में भोजनप्रक्रिया में देखी जाती है, दूसरे शब्दों में मनुष्यों क भोजनयज्ञ सम्बन्ध में जो जो कार्य होते हैं) ठीक ऐसा ही यह (यजमानकृत) देवताओं का यज्ञ है। (अन्न के स्थान पर) परिपक्व हवि है, (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) वेदि संपन्न हो चुकी है। (एवं) यही इन देवताओं के (भोज्य) पात्र हैं, जो कि स्रुक् हैं ॥२॥

सो जो कि (अध्वर्यु) (इन स्रुक् पात्रों का) सम्मार्जन करता है, वह इन पात्रों का निर्णेजन। (प्रक्षालन) ही करता है। "हम निर्णिक्त (धुले हुए साफ सुथरे) पात्रों से ही [परिवेषणादि कार्य] करें" यही [सम्मार्जन का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता एवं मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन में अन्तर केवल इतना है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्णे-जन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णेजन होत है]। पानियों से [एवं] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णेजन करते हैं] [निर्णेजन कर्म्म में उपयुक्त] कुशा आप [पानी की प्रतिकृति] हैं, यजुम्मन्त्र ब्रह्म है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्णेजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एवं दैवकर्म्म का पार्थक्य होजाता है। [दोनों कर्म्म पृथक् बन जाते हैं] ॥३॥

[गार्हपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अध्वर्यु सर्वप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए] स्रुव लेता है। उसे (स्रुव को) "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा ऽअरातयः, निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" यह मन्त्र बोलता हुआ [गार्ह-पत्याग्नि में] तपाता है ॥४॥

यज्ञवितान करते हुए देवता लोग असुर एवं राक्षसों के आक्रमण से डरने लगे। सो इस (पात्रप्रतपनरूप) व्यापार से यज्ञ के आरम्भ से ही

नाष्ट्रा (नाशक)-राक्षसों को (मन्त्र एवं तपन से) इस यज्ञमण्डल से (ऋत्विक् लोग) मार भगाते हैं ॥५॥

वह अध्वर्यु—"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्—वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" (यजुः १।२९) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के बिलमध्य में कुशाग्र से मूल से आरम्भ कर मुखपर्य्यन्त (स्रुव का) सम्मार्जन करता है। बिना विलम्ब किए एक साथ ही यह स्रुव यजमान के सपत्नों का नाश करदे, "अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्" यह मन्त्रभाग, एवं 'इति' शब्द से प्रकट किया हुआ सम्मार्जन व्यापार इसी भावको प्रकट करता है। "तुम यज्ञिय हो, यज्ञ के लिए ही तुह्मारा सम्मार्जन करता हूं" 'वाजिनं०' इत्यादि मन्त्रभाग से यही कहा है। इसी उपर्युक्त (तपनमन्त्र एवं संमार्जन) मन्त्रद्वयी से सब स्रुचों का (जुहू--उपभृत्--ध्रुवा आदि का) सम्मार्जन करता है। केवल प्राशित्रहरण का सम्मार्जन तूष्णीं (बिना मन्त्रप्रयोग के) करता है ॥६॥

वह अध्वर्यु पहिले बिल से मूल पर्य्यन्त सम्मार्जन करता है, अनन्तर मूल से पृष्ठपर्य्यन्त सम्मार्जन करता है। ऊपर से नीचे आना, यह प्राणव्यापार है। नीचे से ऊपर जाना, उदान का काम है। उक्त प्रकार से सम्मार्जन करता हुआ अध्वर्यु स्रुव में प्राणोदान का ही आधान करता है। इसी [प्राणोदान के व्यतिक्रम व्यापार] से रोमावलिएं ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर हैं। अर्थात रोमस्वरूप प्राणोदान की गति के अनुसार है ॥७॥

वह आग्नीध्र अध्वर्यु के संम्मार्जन व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यथाक्रम स्रुवादि पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर अध्वर्यु को सौंपता जाता है। जिस प्रकार लोक में (मनुष्यों के दैनिक कर्मों में) मांज मांज

कर पानी मे धो* धोकर अन्त में बिना मांजे हुए पात्र संपन्न होते हैं, एवमेव यह पुनःप्रतपन उस परिक्षालन के स्थान में समझना चाहिए। इसी लिए पुनः तपा तपा कर आग्नीध्र स्रुवादि अध्वर्यु को सोंपता है ॥८॥

वह अध्वर्यु पहिले स्रुव का सम्मार्जन करता है। (स्रुवसम्मार्जन के) अनन्तर इतर (स्रुगादि) का सम्मार्जन करता है। (इस क्रम की उपपत्ति यह है कि) स्रुक् योषा (स्त्री) रूप हैं, स्रुव वृषा (पुरुष) रूप है। (इस लिए सम्मार्जन में उक्त क्रम रक्खा जाता है)। यद्यपि बहुत सी स्त्रिएं साथ जाती हैं, (साथ जानें वाली) उन स्त्रियों में जो एक बालक भी पुरुष होता है तो वह सबके आगे चलता है, शेष सब स्त्रिएं उसके पीछे चलतीं हैं। इसलिए स्रुव का पहिले सम्मार्जन करता है, इतर स्रुचों का पीछे सम्मार्जन करता है ॥९॥

वह अध्वर्यु (उक्त स्रुव स्रुचादि का) उसी प्रकार सम्मार्जन करे, जिस से [प्रतपनकाल में] गार्हपत्याग्नि में तृण पानी न गिरे। जिस प्रकार जिस व्यक्ति के लिए भोजनार्थ अन्न लाया जाता है, उसी व्यक्ति के ऊपर पात्रप्रक्षालित जल डाला जाय, वैसा यह कर्म्म होगा। अतः जिस प्रकार अग्नि में पानी तृणादि न गिरें, उसी प्रकार प्राङ्मुख होकर (बड़ी सावधानी से) उठकर सम्मार्जन कर्म्म करना चाहिए ॥१०॥

---

* इस श्रुति से यह सिद्ध हो रहा है कि, भारतवर्ष में पात्रशुद्धि जल से ही होती थी। पहिले मृत्तिकादि से पात्रों को मांजा जाता था, पीछे पानी से धोया जाता था। आज भी मरुभूमि को छोड़कर अन्यत्र यही पद्धति मान्य है। मरुभूमि में पानी की कमी होने से ही मांज कर काम चला लिया जाता है। इस के साथ यहां यह अविद्या भी चल पड़ी है कि, मांजे बाद पानी से धोने से पात्र अपवित्र हो जाते हैं। कहना न होगा कि, इस समझ में कुछ भी सार नहीं है।

किनने हीं याज्ञिक स्रुक्सम्मार्जन में उपयुक्त उदक तृणादि को अग्नि में हीं डालते हैं। (एवं ऐसा करने का कारण वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि) यह वेदाग्र (कुशाग्र) वेद के (यज्ञ के अवयव) बन गए हैं। (अपिच इन के वेदात्मक यज्ञरूप होने से ही) ऋत्विजों ने इन स पात्रों का सम्मार्जन किया है (ऐसी) अवस्था में यह वेदाग्र भी यज्ञ का ही कुछ भाग है। यह यज्ञप्रत्यंशरूप वेदाग्रभाग यज्ञ (सीमा) से बाहर न रहे, (अतः इसे अग्नि में ही डाल देना चाहिए)। (याज्ञवल्क्य कहते हैं) ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। (यह कर्म्म ऐसा होगा कि) जैसे जिस व्यक्ति के लिए भोजन दिया जाय, उसी को पात्रों का प्रक्षालित जल पिलाया जाय। इस लिए इसे (अग्नि में न डाल कर) उत्करादि में (मतान्तर से आहवनीय में) हीं फैंक देना चाहिए ॥११॥

स्रुव-स्रुक्सम्मार्जनानन्तर पत्नी-(यजमानपत्नी)-संनहन (बन्धन, यज्ञ में योग) करते हैं। यह यज्ञ का पश्चिम भाग है, जो कि यजमानपत्नी है। मेरा यज्ञ पूर्व की ओर वितत होता हुआ आगे चले, (इसी अभिप्राय से पत्नीसंनहनकर्म करते हैं)। (इस संनहनकर्म्म से) पत्नी को (यज्ञ में) युक्त ही करते हैं। "यज्ञ में युक्त होकर यह पत्नी यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त (यज्ञ में) प्रतिष्ठित रहै" (इसीलिए यह बंधनकर्म्म किया जाता है) ॥१२॥

(इस पत्नी का) योक्त्र (मुञ्जमयी रज्जू) स संनहन करते हैं। योक्त्र से ही ठीक ठीक योग (बंधन) करते हैं। पत्नी का नाभि से नीचे का भाग अमेध्य (असंगमनीय) है। (एव अभी कुछ काल में हीं) यह पत्नी आगे जाकर घृतदर्शन करने वाली है। योक्त्रबन्धन से इस पत्नी

के उस अमेध्यभाग को ही आवृत करते हैं। (ऐसा करने से) शेष मेध्य उत्तर भाग से ही आज्यदर्शन करती है। अतएव पत्नीसंनहनकर्म्म करते हैं ॥१३॥

वह ऋत्विक् वस्त्रों के ऊपर ही (योक्त्र से) संनहन करता है। वस्त्र ओषधिरूप हैं। यह योक्त्ररूप रज्जू वरुणदेवतामयी है। वस्त्र के ऊपर योक्त्र संनहन करता हुआ अध्वर्यु पत्नी को वारुण बन्धन से ही अन्तर्हित (बचाता) करता है। ऐसा करने से यह वरुणदेवतामयी रज्जू पत्नी को पीड़ा नहीं पहुंचाती। इसी प्रयोजन के लिए वस्त्रों से ऊपर योक्त्र का संनहन करते हैं ॥१४॥

ब्राह्मण (विज्ञान) बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वयु "अदित्यै रास्नासि" यह मन्त्र बोलता हुआ संनहनकर्म करता (योक्त्र बांधता) है। यह पृथिवी ही अदिति है। यह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है। सो इस (संनहनकर्म) से यजमानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति पृथिवी) को ही रास्नायुक्त बनाते हैं। (ध्यान रहै) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। संनहन द्वारा इसे (अदिति को) मेखला युक्त ही करते हैं ॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि, वह योक्त्र के गांठ न लगावे। कारण ग्रन्थि (गांठ) वरुणदेवतामयी है। (एसी अवस्था में) यदि ग्रन्थि लगादी जायगी तो, वरुण देवता इस पत्नी को अपने पाश से बांध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिये ग्रन्थि बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे ? इस विप्रति पत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है) वह अध्वर्यु योक्त्र के मूलाग्रों को परस्पर मिलाकर (दोनों मूलों को परस्पर में बटकर) ऊपर की ओर यों ही लम्बित कर देता है । इस कर्म्मकाल में 'विष्णो र्व्वेष्योऽसि" यह मन्त्र बोलता है । वह यजमान पत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर झुककर न बैठै । यह पृथिवी अदिति है । यह देवताओं की पत्नी है । यह पश्चिम दिशा में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित हो रही है । ऐसी अवस्था में पश्चिम दिक् में प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ युक्त हो जायगी । परिणाम इस का यह होगा कि, वहां बैठने से बहुत जल्दी (एक वर्ष के भीतर भीतर) यजमानपत्नी मर जायगी । ऐसा न-करने से (पश्चिम को ओर प्राङ्मुखा होकर न बठन से) यजमानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है । सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु सुरक्षित करते हैं । ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु धारण करने में समर्थ हो जाती है । इसलिए पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिण भाग में (नैऋतकोण में) ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आज्यदर्शन करती है। अर्थात् घृत में अपना मुख देखती है । यह पत्नी योषा है, आज्य रेत है । आज्यदर्शन से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूप योषा मिथुनलक्षण प्रजनन-(प्रजोत्पत्ति)-भाव को ही संपन्न करती है । इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पत्नी आज्यदर्शन करती है ॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह पत्नी-"अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि, अग्नेर्जिह्वासि, सजूर्देवेभ्यः, धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे" यह मन्त्र बोलती हुई आज्य देखती है। "मैं निर्दुष्ट पीड़ारहित पवित्र चक्षु से आज्य देखती हूं" मन्त्र से पत्नी का यही कहना है। 'अग्नेर्जिह्वासि' यह मन्त्रशेष बोलाती है। जिस समय आज्य की अग्नि में आहुति डालते हैं, उस समय अग्नि की (ज्वालारूप) जिह्वासी निकलती है। इसी अभि-प्राय से 'अग्नेर्जिह्वासि' यह कहा गया है। 'सजूर्देवेभ्यः' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्पर्य बतलाते हुए कहते हैं-देवताओं के लिए यह (प्रजननरूप) आज्यदर्शन शुभ हो। 'सजूः०' इत्यादि से यही कहा गया है। "धाम्ने धाम्ने" इत्यादि से "हे आज्य ! आप मेरे सम्पूर्ण यज्ञकर्म के लिए तत्पर बनें" य ही कहा है ॥१८॥

आज्यदर्शनानन्तर अध्वर्यु आज्य को लेकर पूर्व की ओर (आहव-नीय की ओर) चलता है। आगे चलकर आहवनीयाग्नि पर (तपाने के लिए) उसे रखदेता है, जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि में परिपक्व करते हैं। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ (यज्ञिय हविर्द्रव्य) आहवनीय में ही परिपक्व हो, इसी लिए हविर्द्रव्यरूप आज्य को भी आहवनीयाग्नि में ही परिपक्व करते हैं। (यहां पर एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि जिस समय अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में परिपाक किया जाता है, क्यों नहीं उसी समय आज्य का भी परिपाक कर लिया जाता ?। इस पूर्वपक्ष का समाधान क-ने के अभिप्राय से श्रुति कहती है) पत्नी को यज्ञ कर्म्म में युक्त होने का अवसर (अवकाश) हम आगे देलेंगे, इस विचार से यदि अध्वर्यु उसी समय [पत्नी संनहनकर्म से बहुत पहिले ही, जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का

परिपाक किया जाता है] आज्य परिपाक भी करलेता है तो-"पत्नी को आगे यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर दूंगा" यह विचार कर बीच में ही [पत्नी के यज्ञ में प्रविष्ट होने से पहिले ही] अधिश्रयणार्थ आज्य हरण करना ठीक नहीं होता। यदि पत्नी को यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अध्वर्यु आज्य हरण करलेगा तो वह एक प्रकार से पत्नी को यज्ञसीमा से बहिर्भूत कर देगा। ऐसा न हो, इसलिए पत्नी के आज्यदर्शनरूप यज्ञसंयोग के अनन्तर ही आज्याधिश्रयण कर्म करते हैं] ऐसा करने से वह अध्वर्यु पत्नी को यज्ञसीमा से बाहर नहीं निकालता है। [इसी सार्द्धभावका स्पष्टीकरण करती हुई सर्वान्त में श्रुति कहती है] इस लिए [पत्नी यज्ञसीमा में अन्तःप्रविष्ट होजाय, इस लिए] पत्नीसंनहन कर्म के साथ ही आज्य को पहिले गार्हपत्याग्नि में तपा कर, पत्नी को आज्यदर्शनद्वारा यज्ञ में प्रविष्ट कर अनन्तर अधिश्रयणार्थ आज्य को पूर्व की ओर [आहवनीय की ओर] ले जाते हैं। जिस यजमान के पत्नी नहीं होती, उस यजमान के यज्ञ में उसी समय [जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में अधिश्रयण किया जाता है] आज्य का भी आहवनीय में अधिश्रयण कर लेते हैं। अधिश्रयणानन्तर वहां से आज्य उठा कर उसे वेदि की सीमा में रख देते हैं ॥२०॥

कितने हीं आचार्यों का मत है कि, इस अधिश्रित आज्य को अन्तर्वेदि में नहीं रखना चाहिए। (कारण इसका यह बतलाया जाता है कि) इसी अधिश्रित (परिपक्व) आज्य से देवपत्नियों का यजन करते हैं (वेदिस्थान पर सारे देवता आए हुए हैं, ऐसी अवस्था में उस प्रदेश में देवपत्नीयागसाधक आज्य को देवमण्डलीयुक्त वेदिस्थान में रखता हुआ अध्वर्यु)

देवपत्नियों को जनसमूह में उपस्थित करता है। (यजमानपत्नी भी देवपत्नियों से युक्त रहती है। ऐसी अवस्था में देवपत्नियों के साथ साथ यजमानपत्नी का भी देवसभामण्डपरूप वेदिस्थान में प्रवेश अनिवार्य होगा। ऐसा होने से) यजमान पत्नी परःपुंसा (अन्यपुरुषों के समूह में उपस्थित) होजाती है। [एक कुलीन स्त्री के लिए परपुरुषों के सामने उपस्थित होना लज्जास्पद है। ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः वेदिस्थान पर देवपत्नीयागसाधनभूत आज्य नहीं रखना चाहिए]।

प्राचीनों के इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, आज्य अधिश्रयण, उस का वेदिस्थान में स्थापन, आदि पत्नीसम्बन्धी सारा कर्म्म शास्त्र से इसी प्रकार विहित है। अतः वह कार्य वैसे ही हो, इसी में यज्ञसिद्धि है। "ऐसा होने से पत्नी पुरुष समूह में आजायगी, एवं यह अनुचित होगा" इस निरर्थक युक्ति का शास्त्रादेश के सामने क्या महत्व है। कौन बुद्धिमान इस विषय को अच्छा एवं युक्ति संगत कहेगा। वेदि और आज्य दोनों ही यज्ञसाधन होने से यज्ञरूप हैं। हम यज्ञ से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न करें, यही आदरणीय एवं यथादिष्ट [शास्त्रसिद्ध] पक्ष है। अतः वेदिस्थान में ही आज्य रखना चाहिए ॥२१॥

प्रोक्षणी पात्र में कुशा रक्खीं हुई हैं। वहां से कुशा लेकर उनसे आज्य का प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षण का एकमात्र तात्पर्य्य है, वस्तु को मेध्य [संगमनीय] करना। इस प्रोक्षण कर्म्म से आज्य को मेध्य [देवसंगमनीय] ही करते हैं ॥२२॥

उत्पवन कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है—

वह अध्वर्यु—'सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र बोलता आज्य का प्रोक्षण करता है ॥२३॥

आज्यप्रोक्षणानन्तर—"सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु [प्रोक्षणकर्म्म से] घृत से संश्लिष्ट बनीं हुईं पवित्रों से [दर्भ से] प्रोक्षणी पानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का तात्पर्य्य वही है, जो कि पूर्व के प्रोक्षण कर्म्म में सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है ॥२४॥

सो जो कि अध्वर्यु आज्यलिप्त पवित्र से प्रोक्षणी का प्रोक्षण करता है, इस कर्म्म से पानी में पय [दुग्ध] का कार्यभूत, अतएव पयोरूप आज्य ही प्रतिष्ठित करता है। [प्रकृति में] यह पय पानी में ही प्रतिष्ठित है। जैसे कि—जब पानी बरसता है तो औषधिएं उत्पन्न होतीं हैं, औषधिएं खा कर, पानी पीकर अनन्तर यह रस [पय—आज्य] उत्पन्न होता है। इस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षण कर्म्म करते हैं ॥२५॥

प्रोक्षणीप्रोक्षणानन्तर अध्वर्यु आज्य दर्शन करता है । कितन हीं आचार्य यजमान को ही घृत दर्शन करवाते हैं। [अर्थात् इनके मत से आज्य-दर्शन यजमान का कर्म्म है] इस पक्ष का निराकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, यजमान स्वयं ही अध्वर्यु बनते हुए आध्वर्यव कर्म्म क्यों नहीं करलेते ? यजमान ही होता बन कर क्यों नहीं अनुवाक्यादिरूप हौत्रकर्म्म करलेते ? फिर ऋत्विजों की आवश्कता ही क्या ह। [यदि अन्य आध्वर्यव, हौत्र, औद्गात्रादि यज्ञस्वरूपसमर्पक कर्म्म ऋत्विक कर लेते हैं, तो फिर] प्राचीनों की इस आज्यदर्शन कर्म्म में हीं यह धारणा कैसे हो गई कि.

यह कर्म्म तो यजमान को ही करना चाहिए । ऋत्विक लोग अपने अपने कर्म्म में जो भी फल प्राप्त करते हैं, वह यजमान को मिलता है। [ऐसी अवस्था में अध्वर्युकर्तृक आज्यदर्शन का फल यजमान को कैसे मिल जायगा] अतः—अध्वर्यु को ही दर्शन करना चाहिए । ॥२६॥

वह अध्वर्यु आज्य दर्शन करता है। चक्षुरिन्द्रिय सत्यरूप इसलिए है कि, जब दो आदमी आपुस से झगड़ा करते हुए हमारे सामने आते हैं, और उनमें से एक कहता है कि—मैंनें ऐसा आखों से देखा है, दूसरा कहता है कि, मैंनें ऐसा अपनें कानों से सुना है, तो इन दोनों में स जो व्यक्ति "मैंनें ऐसा अपनी आखों स देखा है" यह कहता है हम उसी के कथन पर श्रद्धा करते हैं। (अतः चक्षु अवश्य ही सत्य है) इस सत्यचक्षु से आज्यदर्शन करता हुआ अध्वर्यु सत्यतत्व से ही आज्य को समृद्ध करता है ॥२७॥

आज्यावेक्षण की उपपत्ति बतलादी गई, अब पद्धति बतलाते हैं—वह अध्वर्यु—"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य पर अपनी दृष्टि डालता है। [आज्य के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवश्य ही सत्यस्वरूप है। यह आज्य तेजःस्वरूप है, यह आज्य शुक्रस्वरूप है, यह आज्य अमृतस्वरूप है। इसी सत्य से यह अध्वर्यु आज्य को समृद्ध करता है ॥२८॥

इति—अनुवादप्रकरणम्

* श्रीः *

सूत्रप्रदर्शितपद्धतिप्रकरण

स्रुव–स्रुक् (जुहू-उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री, इडापात्री का प्रतपन एवं संमार्जन कर वेदि पर रखने के लिए आग्नीध्र को समर्पण

वेदिनिर्म्माणानन्तर इध्म-बर्हि-आज्य आदि का यथास्थान सन्निवेश कर दिया जाता है। तदनन्तर "स्रुवं प्रतप्य पूर्ववद्वेदाग्रै-रन्तरतः प्राक् संमार्ष्टि "अनिशत" इति, विपर्ययस्य बर्हिर्मूलैः प्राकुत-क्रम्य" [० श्रौ० सू० २।६।३९] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गार्हपत्यकुण्ड के पश्चिम भाग में बैठकर अध्वर्यु पहिले गार्हपत्याग्नि में "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः। निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" [यज्ञकर्म्म का अवरोध करने वाले राक्षस तपा दिए गए हैं, यज्ञसंपत्ति का आगमन रोकने वाले अराती तपा दिए गए हैं. और विशेषरूप से तपा दिए गए हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ शूर्प एवं अग्निहोत्रहवणी की तरह स्रुव को तपाता है। स्रुव के तपाने के अनन्तर उसी स्थान में बैठा बैठा ही अध्वर्यु थोड़ा सा पूर्व की ओर झुकता हुआ अपने बाएं हाथ में तो प्रतप्त स्रुव ले लेता है, एवं दक्षिण हाथ में कुशाग्र लेकर–"अनिशितोऽसि सपत्नाक्षित्, वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" [हे स्रुव ! तुम [शत्रु के लिए महानिशित [तीक्ष्ण] होते हुए भी] हमारे [यजमान के] लिए सर्वथा अनिशित [शान्त] हो। सपत्नों [शत्रुओं] का नाश करने वाले हो, यज्ञमूर्त्तिरूप तुम्हारा

[स्रुव का] यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं [अध्वर्यु] तुम्हारा सम्यक् प्रकार से शोधन करता हूं] यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्तगृहीत उन कुशाओं से स्रुव के मूल से आरम्भ कर मुख पर्यन्त स्रुव का सम्मार्जन करता है। मूल से मुखतक कुशा से स्रुव को साफ कर देना ही सम्मार्जन कर्म्म है। इस प्रकार एकबार तो वेदाग्रों से सम्मार्जन होता है। अनन्तर अध्वर्यु फिर कुछ पूर्व की ओर झुकता हुआ वही उक्त [अनिशितोऽसि०- इत्यादि] मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरम्भ कर मूलभाग तक कुशामूल से स्रुव का सम्मार्जन करता है। अध्वर्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्मार्जन कर्म्म में ही होता है, प्रतपन कर्म्म में उत्क्रमण नहीं होता। कारण—"तस्माद् तथैव संमृज्याद्यथाऽग्निं नाभि-व्युदेत प्राङिवैवोत्क्रम्य" इत्यादि रूप से श्रुति ने सम्मार्जन कर्म्म के साथ ही उत्क्रमण का सम्बन्ध माना है। स्रुवप्रतपन और सम्मार्जन के अनन्तर जुहू-उपभृत-ध्रुवा इन स्रुचों का "अनिशिते" ति स्रुचः" [का० श्रौ० सू० २।६। ४१] इत्यादि सूत्रानुसार "प्रत्युष्टं रक्षः "इत्यादि से पहिले गार्हपत्य में प्रतपन, अनन्तर "अनिशितोऽसि०" इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र से सम्मार्जन करता है।

स्रुव स्रुचों के सम्मार्जनानन्तर—"प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति" [का० श्रौ० सू० २।६।४०] के अनुसार "प्रत्युष्टं रक्षः०" इत्यादि उक्त मन्त्र बोलकर स्रुवादि को पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर [वेदिपर रखने के लिऐ] पुनः प्रतप्त स्रुवादि को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता जाता है। स्रुव-स्रुच (जुहू-उपभृत-ध्रुवा) इन चार के अतिरिक्त प्राशित्रहरण, शृतावदान, पुरोडाशपात्री, इड़ापात्री इनका प्रतपन एवं सम्मार्जन (बिना मन्त्र बोले तूष्णीं ही) किया जाता है, जैसा कि—

"तूष्णीं प्राशित्रहरणं, शृतावदानं, पात्रीं च" (का०श्रौ०सू० २।६।४०) इत्यादि सूत्र से स्पष्ट है। इस प्रकार 'पहिले प्रतपन, फिर कुशाग्र-कुशामूल भेद से नीचे से ऊपर तक-ऊपर से नीचे तक सम्मार्जन, फिर प्रतपन, सर्वान्त में आग्नीध्र को समर्पण"--- (वेदिस्थान में रखने के लिए) इस कर्म्मकलाप की समष्टि का नाम ही "पात्रसम्मार्जन" कर्म्म है।

जिन वेदाग्र एवं वेदमूलों से उक्त सम्मार्जन कर्म्म किया जाता है, उन्हें--"सम्मार्जनान्यपास्यति" (का०श्रौ०सू० २।६।४३) इस के अनुसार उत्कर में फैंक देते हैं। यद्यपि--"आहवनीये प्रासनमेके" (का०श्रौ०सू० २।६।४४) के अनुसार किन्हीं आचार्यों के मतानुसार सम्मार्जन साधनभूत वेद को आहवनीयाग्नि में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है। परन्तु श्रुति ने जो विप्रतिपत्ति गार्हपत्याग्नि में दर्भ डालने के सम्बन्ध में बतलाई है, वही दोष आहवनीयाग्नि में डालने से प्राप्त होता है। अत एव श्रुति ने "तदु तथा न कुर्य्यात्" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अग्नि में डालने का निषेध किया है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक दशा में इन दर्भतृणों को उत्कर में ही डालना चाहिए।

इति—द्रव्यसम्मार्जनम्

(ब्रा० की १ कं० से ११ कं० पर्य्यन्त)

त्रिवृत्मुञ्जमय योक्त्र से यजमानपत्नी का सन्नहन

द्रव्यसम्मार्जनानन्तर—"पत्नीं सन्नह्यति प्रत्यगुदक्षिणात उपविष्टां गार्हपत्यस्य, मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता. परिहरत्यधिवासो—"ऽदित्यै रास्ने" ति" (का०श्रौ०सू० २।७।१।) इस सूत्र सिद्धान्तानुसार गार्हपत्याग्निकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैर्ऋतकोण में पूर्वाभिमुख बन कर बैठी हुई यजमानपत्नी को अध्वर्यु त्रिगुणित मुञ्ज ['मूंज' नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध] से बने हुए योक्त्र [रज्जू] से [पत्नी के वस्त्रों के ऊपर] नाभि से नीचे के कटि भाग में "अदित्यै रास्नाऽसि" (हे योक्त्ररूप रज्जु ! तुम अदिति पृथिवीरूपा यजमानपत्नी के लिए रास्ना—मेखलारूप-हो) यह मन्त्र बोलता हुआ बांधता है। योक्त्रबन्धनकाल में—"दक्षिणापाशमुत्तरे, प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहति "विष्णोर्वेष्य" इति" [का०श्रौ०सू० २।७।२] के अनुसार योक्त्र के दक्षिणाग्रपाश को उत्तराग्र पाश में ऊपर से पिरोकर नीचे खैंच कर पाश को द्विगुणित वेष्टित कर उत्तरपाश से प्रोत होकर ऊपर की ओर निकले हुए दक्षिण पाशाग्रभाग को—"विष्णोर्वेष्योऽसि" [हे दक्षिणपाशाग्र ! आप यज्ञ का वेष्टन करन वाले हो] यह मन्त्र बोलता हुआ योक्त्र के मध्य में खचित कर देता है। "न ग्रन्थिं करोति" [का० श्रौ० सू० २।७।३।] के आदेशानुसार योक्त्र में गांठ नहीं लगाई जाती।

इति—पत्नीसन्नहनकर्म

(ब्रा० की १२ कं० से १७ कं० पर्यन्त)

घृत ठंढा करने के पश्चात् अध्वर्यु द्वारा भेजी गई यजमानपत्नी का समन्त्रक आज्य दर्शन

त्नीसन्नहन कर्म्म के अनन्तर–"ऊर्जेत्वे" त्याज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षय "त्यदब्धेने"ति" (का०श्रौ०सू० २।७।४) इस के अनुसार अध्वर्यु—"ऊर्जे त्वा" [हे आज्य ! बलप्रद रस की प्राप्ति के लिए तुम्हें उद्वासित करता हूँ] यह मन्त्र बोलता हुआ पहिले से ही गार्हपत्याग्नि पर पात्र में रक्खे हुए द्रुत घृत को अग्नि पर से उतार कर ठंढा करता है। अनन्तर "पत्न्याज्यमवेक्षस्व" [हे पत्नी ! आज्य के दर्शन करो, अर्थात् इस में अपना मुख देखो] यह प्रैष करता हुआ पत्नी से "अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि । अग्नेर्जिह्वासि, सुहूर्देवेभ्यो, धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे"[हे आज्य मैं निर्दुष्ट नेत्रों से तुम्हारा दर्शन कर रही हूं । हे आज्य ! तुम अग्नि की जिह्वा हो , अत एव [जिह्वारूप होने से ही] तुम देवताओं के अच्छे बुलाने वाले हो । ऐसे आप प्रत्येक कर्म्म कर्म्म के लिए, मन्त्र मन्त्र के लिए सन्नद्ध बनें] यह मन्त्र बुलवाता हुआ पत्नी से आज्य दर्शन करवाता है। यदि पत्नी किसी आवश्यक प्रतिबन्ध के कारण यज्ञ में उपस्थित न हो, तो ऐसी अवस्था में अध्वर्यु को ही आज्य दर्शन कर लेना चाहिए, यह सूत्रकार का मत है। ब्राह्मणश्रुति के अनुसार तो पत्नी के अभाव में आज्य बिना देखे ही यथास्थान रख दिया जाता है। आज्यावेक्षणानन्तर–' वेद्यां करोत्यपरं प्रोक्षणीभ्यः"(का०-श्रौ०सू० २।७।५) के अनुसार अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र से पश्चिम भाग में वेदि पर आज्य रख देता है। यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयाग्नि में ही हविर्द्रव्यों का परिपाक होता है, तो इस आहवनीयाधिश्रयण पक्ष में–"आ

हवनीये वा कृत्वा तच्छ्रापिणः" (का०श्रौ०सू० २।७।६) के अनुसार पत्न्यवेक्षणानन्तर पहिले आज्य को आहवनीय पर रक्खा जाता है, फिर उद्वासन कर पूर्वकथनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वेदि पर रक्खा जाता है।

इति—आज्यावेक्षणकर्म्म

(ब्रा. की १८ कं० से २१ कं० पर्य्यन्त)

आज्य और प्रोक्षणी का उत्पवन, एवं अध्वर्युकृत आज्यदर्शन

आज्य रखने के अनन्तर वह अध्वर्यु—"सवितुस्त्वे" त्याज्यमुत्पुनाति, प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्" (का०श्रौ०सू० २।७।७) इस के अनुसार प्रोक्षणी पानी में रक्खे हुए पवित्र (दर्भ) से "सवितुर्व०" इत्यादि पूर्वोपात्त मन्त्र बोलता हुआ पहिले आज्य का प्रोक्षण करता है, अनन्तर आज्य सम्बन्ध से आज्ययुक्त बनें हुए इन्हीं पवित्रों से वही मन्त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रकार आज्य एवं प्रोक्षणी उत्पवनानन्तर— 'आज्यमवेक्षते "तेजोसी" ति यजमानो वा" (का०श्रौ०सू०२।७।८) के अनुसार वह अध्वर्यु, अथवा यजमान (दोनों में से कोई भी) "तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" (हे आज्य! आप तेजोमय हैं, शुक्ररूप हैं, अमृतभावापन्न हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यदर्शन करता है। सूत्रकारने पक्षान्तर का आदर करते हुए "यजमानो वा" भी कह

दिया है। वस्तुतः शतपथब्रा० के मतानुसार यह आज्यावेक्षण कर्म्म अध्वर्यु को ही करना चाहिए।

इति—आज्यावेक्षणम्

(ब्रा० की २२ कं० से २८ पर्य्यन्त)

ब्राह्मणोक्तकर्म्मसंग्रह

१—द्रव्यसस्कार

२—पत्नीसन्नहन

३—पत्नीकृत आज्यावेक्षण
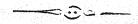
४—आज्यस्थापन

५—आज्य एवं प्रोक्षणी का पवित्रों से उत्पवन

६—अध्वर्युकृत आज्यावेक्षण

इति—पद्धतिप्रकरणम्

॥ श्रीः ॥

उपपत्तिप्रकरण

१–द्रव्यसंस्कारोपपत्तिः

स्त्रुव-जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-पुरोडाशपात्री-इडापात्री आदि यज्ञिय-
पात्र प्राणदेवताओं के आहुतिसाधक बनते हुए इनके (दे-
वताओं के) भोजन करने के पात्र हैं। लोकव्यहार में
जिन पात्रों में मनुष्य भोजन करते हैं, भोजनपरिवेषण
(परोसने) से पहिले पात्रों को पानी* से धोकर साफ कर लिया जाता है,
अनन्तर इन पात्रों में भोजन परोसा जाता है। भोजनपरिवेषण से पहिले
पात्रशुद्धि सर्वथा अपेक्षित है--यही कहना है। इसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृ-
तयज्ञ में देवताओं के भोजनसाधन पात्रों का संस्कार करना आवश्यक
होजाता है। देवता सौर मण्डल की वस्तु है। इधर साधारण पानी पार्थिव
है। इस लौकिक पेय पानी से देवपात्रों का सम्मार्जन करना ठीक नहीं।
जिस प्रकार लौकिक मनुष्य और प्राणदेवताओं के स्वरूप में भेद है, जैसे

---

* मरुभूमि में, विशेषतः राजपूतानें में पानी की कमी के कारण मृत्तिका--रक्षा-
(राखड़) आदि से ही पात्र पवित्र मान लिए जाते हैं। इस पद्धति की इतनी प्रधा-
नता होगई है, कि यदि मज्जन (मांजने) के अनन्तर पात्र धो लिए जाते हैं, तो वे
सर्वथा अपवित्र मान लिए जाते हैं। ऊक्त श्रुति के आधार पर हम कह सकते हैं कि,
यदि पानी पर्य्याप्त मात्रा में मिले तो मज्जन के अनन्तर पात्रों को अवश्य ही धो डा-
लना चाहिए। बिना पानी से धोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले तो
प्रचलित पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, जैसा कि पूर्व टिप्पणी में भी स्पष्ट
कया जाचुका है।

इनके भोजनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है, तथैव सम्मार्जनीय पानी में भी भेद होना आवश्यक है। इसी पृथक्करण के लिए पानी के स्थान में यहां 'कुशा' का ग्रहण किया जाता है। सौररश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्य 'अम्भः' नाम का पवित्र पानी 'वेन' कहलाता है। इसी ज्योतिर्मय वेन पानी से कुशा का निर्माण होता है, जैसा कि पूर्व के दर्भोत्पत्तिप्रकरण म विस्तार से बतलाया जाचुका है। दर्भ साक्षात् दिव्य पानी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने--"आपो वै कुशा" यह कहा है। साथ ही म जहां मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मार्जन तूष्णीं किया जाता है, वहां प्रकृत यज्ञिय पात्रों का सम्मार्जन "अनिशितोऽसि" इत्यादि मन्त्र से किया जाता है। इस प्रकार कुशारूप दिव्यपानी, एवं दिव्यमन्त्रबल इन दोनों से सम्मार्जन होने स दिव्यकर्म्म का मनुष्यकर्म्म से सर्वथा पृथक्करण होजाता है। १-२-३।

सम्मार्जन से पहिले पात्रों को तपाया जाता है। अन्तरिक्ष में बहने वाले वारुण वायु में आसुरप्राण व्याप्त रहता है। यह वारुणअसुर ऐन्द्रयज्ञ का विरोधी है। जहां दिव्य प्राण का संचार होता है, वहीं सहजवैर के सम्बन्ध से वह इस दिव्यकर्म्म (दिव्यकर्म्म में युक्त पात्रादि वस्तुओं) में आक्रमण करने लगता है। इधर अग्नि और मन्त्रबल दोनों हीं आसुरप्राण के विघातक हैं। पात्रों में वायुद्वारा आगत प्राणरूप, अतएव चर्म्मचक्षु से अदृश्य इन असुरों का यज्ञोपक्रम में ही नाश करने के लिए मन्त्रबलयुक्त प्रतपनकर्म्म किया जाता है। *अग्निपरिताप स अवश्य ही अदृष्ट दोष, एवं सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होजाते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। ४-५।

---

*—यदि किसी पात्र में रजस्वला स्त्री प्रमादवश भोजन करलेती है, तो वह पात्र अशुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार पङ्क-मल-मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से भी

आरम्भ में बतलाया जा चुका है कि, यह सम्मार्जन अलौकिक है। यज्ञ में ऐसा कोई भी कर्म्म नहीं-जो निरथक हो, जिस का प्राकृतिक भाव के साथ सम्बन्ध न हो। यज्ञ से एक अलौकिक नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है, जसा कि पूर्वप्रकरणों में कइ बार कहा जा चुका है। इस दिव्यात्मा का स्वरूप निर्म्माण जिन जिन तत्त्वों से होता है, यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों को उन उन त वों की प्रत्येक कर्म्म में भावना करनी पड़ती है। प्रकृत सम्मार्जन कर्म्म भी उस भावना से खाली नहीं है। एक बार सम्मार्जन स्रुव के मूल से ऊपर तक होता है, दुबारा पृष्ठभाग में ऊपर से नीचे की ओर होता है। इसी ऊर्ध्व-अधोभाव का अंगुली से निर्देश करते हुए-"इति-अग्ररन्तरतः" "इति-अग्रैरन्तरतः" यह अभिनय किया गया है। आना प्राणव्यापार है, जाना उदान (अपान) व्यापार है। शतपथ में उदान शब्द से सर्वत्र अपान ही अभिप्रेत है। प्राण आगतिधर्म्मा है, अपान गतिधर्मा है। संमार्जन में आगति-गतिभावों का समावेश करता हुआ अध्वर्यु भावना द्वारा स्रुव में प्राणोदान (प्राणापान का) ही आधान करता है। इसी स्रुव से देवयजन होने वाला है, आहुति से दिव्यात्मा का जन्म होने वाला है। ऐसी परिस्थिति में स्रुव सम्बधी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दिव्यात्मा के प्राणोदानोत्पत्ति का कारण बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "प्राणोदानावेवैतद्दधाति" यह कहा गया है। ध्यान रहे-स्रुवस्थित प्राणोदान से ही दिव्यात्मा के शरीर के रोम का निर्म्माण होने वाला है। रोमावली में प्राणोदान-

---

आसुरभाव युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र हो जाते हैं। ऐसे अपवित्र पात्रों को आज भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर बाद में व्यवहार में लाते हैं। इन के इस व्यवहार का मूल उक्त श्रौत प्रतपन कर्म ही है।

वर्ते (एक इधर झुका हुआ, एक उधर झुका हुआ; यह) परिस्थिति रहती है। दूसरे शब्दों में रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदानव्यापार की प्रतिकृति (नकल) है। प्राकृतिक यज्ञ से उत्पन्न रोम प्राणोदानयुक्त हैं। इधर स्रुवप्रदत्त आहुति द्रव्य ही दिव्यात्मा के रोमयुक्त शरीर का उपादान बनने वाला है। अतः "पुरुषो वै यज्ञः" इस सिद्धान्त के अनुसार यहां सम्मार्जन कर्म की विशेष प्रक्रिया में प्राणोदान का समावेश करना परम आवश्यक है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि" यह कहा गया है।

जिस प्रकार प्राणोदानरूपा (प्राणापानमयी) सौररश्मिएं देवप्राण के लिए उपादय एवं शान्त रहतीं हुईं तमोमय आसुर प्राण के विनाश का कारण बनीं रहतीं हैं, तथैव प्राणोदानयुक्त स्रुव जहां यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए अनिशित (शान्त-उपकारक-यज्ञस्वरूपसाधक) है, वहां यजमान के शत्रुओं के लिए वही विनाश का कारण है। स्रुव की इसी स्वाभाविकी शक्ति का निरूपण करते हुए—"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्" यह कहा गया है

राजा-वाज-हवि-ग्रह-भेद से आहुतिद्रव्यरूप सोम की चार जातिएं होतीं हैं। प्रकृत यज्ञ (इष्टि) में जो हविद्रव्य है, वह वाजात्मक (अन्नसोमात्मक) है। अन्नरसरूप यही वाज यज्ञसाधक बनता हुआ यज्ञरूप है। यज्ञरूप इस वाज की यज्ञता स्रुव पर अवलिम्बत है। अतः हम इस स्रुव को अवश्य ही वाज (यज्ञस्वरूपसमर्पक) कहने के लिए तय्यार हैं। यह वाजरूप स्रुव वाजरूप (अन्नरूप) यज्ञ का दो प्रकार से समिन्धन (प्रज्वलन) करता है। अग्नि में आहुत करना पहिला समिन्धन है, स्वगत प्राणोदान को भूतमय वाज (पुरोडाश) में समाविष्ट करना दूसरा समिन्धन है। स्रुव के इसी स्वरूपधर्म को लक्ष्य में रखकर "वाजिनं त्वा वाजेध्यायै

संमार्ज्मि" यह कहा गया है। प्राशित्रहरणपात्री एवं इडापात्री का प्राणदेवताओं से विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः इन का सम्मार्जन तूष्णीं (अमन्त्रक) ही होता है ॥ ६।७ ॥

पहिले अध्वर्यु स्रुव-स्रुचादि पात्रों को तपाता है.फिर सम्मार्जन करता है। सम्मार्जनानन्तर आग्नीध्र फिर एक एक बार गार्हपत्याग्नि में पात्रों को तपाता है। आग्नीध्रकृत प्रतपन में वैज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नहीं है। केवल लौकिक व्यवहार की समतादृष्टि से ही यह पुनःप्रतपनकर्म्म किया जाता है। हम देखते हैं कि, लोक में कांस्य-पित्तलादि (कांसी-पीतल आदि) के पात्रों का पहिले अवमर्शन(खूब रगड़ रगड़ कर धोया जाता) किया है। इस क्रिया से जब पात्र बिलकुल स्वच्छ हो जाते हैं, तो सर्वान्त में बिना अवमर्शन के (बिना घर्षण के) केवल पानी में डुबोकर पात्र अलग रखदिए जाते हैं— (यथामवर्शं निर्णिज्य-अनवर्शमुत्तमं परिक्षालयेत्)। ठीक वही स्थिति यहां है। दर्भ से सम्मार्जन करना—अवमर्श-(घर्षण)-पूर्वक पात्रों का निर्णेजन करना है। एवं पुनः अग्नि में तपाना अनवर्शपूर्वक पानी से प्रक्षालन करने के स्थान में है ॥ ८ ॥

स्रुव-जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि पात्रों में से पहिले स्रुव का सम्मार्जन होता है, अनन्तर स्रुचों का सम्मार्जन किया जाता है। स्रुव शब्द पुंस्त्वभावापन्न होता हुआ 'वृषा' है, स्रुक् शब्द स्त्रीत्व युक्त होता हुआ 'योषा' है। पुरुष के शुक्र में रहने वाला, रेतःसेक का अधिष्ठाता पुम्भ्रूण वृषा कहलाता है, एवं स्त्री के शोणित में रहन वाला रेतोग्राहक स्त्रीभ्रूण योषा नाम से प्रसिद्ध है। वृषा आग्नेय है, योषा सौम्य है। दोनों में वृषा

का प्राथम्य है। वैधयज्ञ में ही देखिए।

वृषारूप अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रतिष्ठित रहता है। अनन्तर इसमें योषारूप सोम (आहुतिद्रव्य) की आहुति होती है। अग्निरूप वृषा प्रथमज है। भूतज्योतिर्म्मय विश्व में सर्वप्रथम अग्नि का ही विकास होता है। "सर्वस्याग्रमसृज्यत" इस निर्वचन से ही इसे अग्नि कहा जाता है। अग्नि ही देवताओं की परोक्षभाषा में अग्नि नाम से प्रसिद्ध है-(देखिए शत० ब्रा० ६।१।१।११)।

अपिच अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है। सोम अन्न है, भोग्य है। दोनों में भोक्ता प्रधान है, भोग्य गौण है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि, एक भोक्ता के लिए अनेक भोग्य पदार्थ रहते हैं। इसी भोक्ता अग्नि से पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है एवं भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप निष्पत्ति होती है। अग्निप्रधान पुरुष अग्रेसर है, सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुगायिनी है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, जब किसी उत्सवादि में-१०-२० स्त्रिएं सम्मिलित होकर जातीं हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक ५-७ वर्ष का लड़का) होता है तो वह स्त्रियों के झुंड के आगे आगे चलता है। यदि वह क्रीड़ावश पीछे भी रहता है तो स्त्रिएं बलात् उसे अपने आगे कर लेतीं हैं। कारण वही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निमय पुरुष आगे रहें, सौम्य स्त्रिएं इनके अनुगत बनीं रहें। यही परिस्थिति यहां समझिए। स्रुव एक पुरुष है, अनेक स्रुक् स्त्रिएं हैं। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृषा-योषा के नित्यसिद्ध पूर्वापर्य को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुव का सम्मार्जन पहिले, योषास्थानीय स्रुक् का सम्मार्जन पीछे ही करना प्राकृतिक नित्ययज्ञ समृद्धि का कारण बनता है। इसी वृषा-योषा-

त्मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर—स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुच०:" इत्यादि कहा गया है ॥ ९ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अध्वर्यु उक्त पात्रसम्मार्जन कर्म करता है। सम्मार्जन करते समय अध्वर्यु को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मार्जनसाधकभूत कुश-तृण गार्हपत्याग्नि में न गिर जांय। कारण इसका यह है कि, यह दर्भतृण पात्रीनिर्णेजन (पात्रों के साफ करने का पानी) है। उधर गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्त्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा, जैसे भोजनार्थ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रों के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन-अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना। अतः--बड़ी सावधानी से प्राङ्मुख रह कर अग्नि से कुछ हटकर ही सम्मार्जनकर्म्म करना चाहिए ॥ १० ॥

तैत्तिरीय सम्प्रदाय का मत है कि- 'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदराशि (कुशमुष्टि यज्ञरूप है। कुश को वेद नाम से व्यवहत करने का कारण यह है कि, पूर्वकथनानुसार (देखिए श०वि०भा० २ वर्ष, पृ० ५२९ से ५५१ पर्य्यन्त यह दर्भ सौर वेन पानी से उत्पन्न हुए हैं। इधर महोक्थ-महाव्रत-एवं पुरुष की समष्टिरूप यज्ञप्रवर्त्तक सूर्य्य "सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत० १०।५।२।२) के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय है। वेदमय सौर पानी से (वेदावच्छिन्न सौर प्राण से) दर्भ उत्पन्न हुए हैं, अतः इन्हें अवश्य ही 'वेद' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। इधर सम्मार्जन कर्म्म में उपयुक्त होने वाले दर्भतृण वेद-(कुशमुष्टि)-रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही हैं। उत्कर में वह वस्तु फैंकी जाती है, जिस का यज्ञ से कोई

सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यज्ञरूप, किंवा यज्ञांशरूप इन दर्भतृणों को उत्कर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहर डालना होगा, और ऐसा करना यज्ञमर्य्यादा से विरुद्ध होगा। अतः (यज्ञांशरूप दर्भतृणों को) यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय अग्नि में ही डाल देना चाहिए। गार्हपत्याग्नि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया, इस लिए तो "यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात, तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत्" यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा, एवं आहवनीय में इनका प्रासन (प्रक्षेप) होगया, इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ"। सूत्रकारने "आहवनीये प्रासनमेके" इत्यादि रूप से इसी पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे पृथवीस्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, तथैव द्युस्थानीय आहवनीयाग्नि में सौरप्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता घरके हैं, सौर देवता प्राघुणिक (पाहुनें) हैं। इन्हीं के यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अतः जो दोष गा० में प्रक्षेप का था, उस से भी अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर देवता हविर्द्रव्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्मार्जन साधन भूत दर्भतृणों की आहुति देते हुए उन्हें पात्रों का प्रक्षालित जल पिला रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा? कभी नहीं। रही यज्ञांशभूत दर्भ-तृण की यज्ञसीमा से बाहर निकलने की बात। इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यता नहीं है। जो वस्तु देवताओं के उपयोग में आती है, वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं तो प्राप्त हविर्द्रव्य के तुषों को क्यों उत्कर में डाला जाता है। हविःसम्पादन के लिए शकट से धान लिया जाता है। उलूखल में मुसलद्वा-

रा उनके तुषों को पृथक किया जाता है । तुषों को उत्कर में ही डाला जाता है । चूंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नहीं है, अतएव इन्हें यज्ञिय नहीं माना जासकता। यही परिस्थिति इन दर्भतृणों की है। पात्र साफ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रहता । अतः इन्हें यज्ञियपदार्थ नहीं माना जासकता । ऐसी अवस्था में इन्हें यज्ञसीमा से बाहर उत्कर में ही फैंक देना चाहिए ॥११॥

इति–द्रव्यसंस्कारोपपत्तिः

२–पत्नीसन्नहनोपपत्तिः

प त्नीसन्नहन कर्म्म का तात्पर्य्य है पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। यजमानपत्नी पत्नी है। "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" इस पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार यज्ञसम्बन्ध से ही पत्नी' शब्द निष्पन्न हुआ है। यह पत्नी शब्द ही इस बात का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध कराया जाय। विना पत्नी के यजमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण (अधूरा) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञद्वारा सृष्टिरूप प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर पति-पत्नी रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है, जैसा कि निम्न लिखित स्मार्त्तवचन से स्पष्ट है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनुः१अ० ३२श्लोक)।

स्वयम्भू प्रजापति वेदमूर्ति हैं। वेदतत्त्व ऋक्-साम-यजुः भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में यजु वास्तव में यज्जू(यत्-जू)है। यत्भाग वाक् है, यही अग्नि है। इसी को याज्ञिक परिभाषानुसार "सार्वयाजुषअग्नि" कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वागग्नि-"सत्याग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। जूभाग प्राण है, यही वायु है। यह वाक्-प्राण-(अग्नि-वायु)-मूर्त्ति यज्जू, किंवा यजुर्वेदमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति ऋक्सामरूप छन्दों से नित्य छन्दित (वेष्टित) रहता है। यजु ही स्वयम्भू प्रजापति का शरीर है। इस यजुर्म्मय शरीर का यत्रूप वाक्-(अग्नि)-भाग जूरूप प्राण (वायु) के व्यापार से

आंशिकरूप से द्रुत हो जाता है। अग्नि पर जब वायु का प्रसर (दबाव) होता है, तो तत्काल अग्नि पानी के रूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि-"अग्नेरापः" इत्यादि श्रुसन्तर से स्पष्ट है। ग्रीष्मऋतु के अनन्तर वर्षा का आगमन भी इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है। प्रजापति का वाक् भाग ही अंशरूप से पानी (पारमेष्ठ्य सोम) बना है, इसी अभिप्राय से-"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत" (श०ब्रा० ६।१।१।६) यह कहा गया है। वाङ्मय शरीर के अग्नि-सोम ये दो विभाग ही पति-पत्नी हैं। अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जा चुका है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही सूर्य्यरूप विराट् पुरुष का जन्म हुआ है। सौर सम्वत्सर में भी यही दाम्पत्यभाव है। सम्वत्सर की वसन्तादि ६ ऋतुओं में तीन ऋतुएं (वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा) आग्नेय हैं, एवं तीन ऋतुएं (शरत-हेमन्त-शिशिर) सौम्य हैं। दोनों के समन्वय से सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, एवं इसी सम्वत्सरयज्ञ से पार्थिव प्रजा की उत्पत्ति हुई है। पार्थिव प्रजा में भी यही मिथुनभाव है। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। शोणिताग्नि में शुक्रसोम की आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्वायम्भूवयज्ञ--सम्वत्सरयज्ञ--आध्यात्मिकयज्ञ तीनों में उक्त दाम्पत्यभाव विद्यमान है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

दाम्पत्यभावपरिलेखः

१ वाक्.........अग्निः (पुरुषः)		
२ आपः.........सोमः (स्त्री)		स्वायम्भुवयज्ञः १
१ वसन्तः-ग्रीष्मः-वर्षाः...अग्निः (पुरुषः)		
२ शरत-हेमन्तः-शिशिरः...सोमः (स्त्री)		सम्वत्सरयज्ञः २
१ शोणितम्.........अग्निः (पुरुषः)		
२ शुक्रम्.........सोमः (स्त्री)		आध्यात्मिकयज्ञः ३

प्रकारान्तर से अग्नीषोमात्मक प्राकृतिक यज्ञ का विचार कीजिए। सम्वत्सरमण्डल में सूर्य्य और चन्द्रमा ये दो ग्रह प्रधान हैं। सूर्य्य आग्नेय है, चन्द्रमा सौम्य है। विष्वदुवृत्त के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। यही विषुवमण्डल हमारे खगोल का स्वरूप सम्पादक है। इसी खगोलीय विष्वद्वृत्त से हमारा स्वरूप निर्म्माण होता है। सम्वत्सर को महासुपर्ण माना गया है। उत्तरायण- दक्षिणायण इस महासुपर्ण के दो पक्ष हैं,एवं मध्यस्थ विष्वदुवृत्त आत्मा है। पूर्व की ओर मुख करके खड़े होजाइए। पूर्वभाग में दृश्य खगोलीय (सूर्ययुक्त) विष्वत है, पश्चिमभाग में अदृश्य खगोलीय (चन्द्रयुक्त) विष्वत् है। पूर्वीय खगोल सूर्यपुरुष से युक्त बनता हुआ पुरुष है, पश्चिमीयखगोल चन्द्रस्त्री से युक्त होता हुआ स्त्री है। दोनों की समष्टिरूप विष्वदुवृत्तीय पूर्ण खगोल 'सम्वत्सर' रूप यज्ञप्रजापति है। इस में से पुरुष का निर्म्माण सूर्य्यप्रधान दृश्यखगोल से होता है, एवं स्त्री का निर्म्माण चन्द्र-प्रधान अदृश्य खगोल से होता है। पुरुष की रीड की हड्डी विष्वदुवृत्त है। परन्तु आधे विषुव का ही रस आता है। अतएव चारों ओर वृत्तरूप से रीड का निर्म्माण नहीं होता। आधा अदृश्य भाग स्त्री का निर्म्माण करता है। दूसरे शब्दों में आधा आकाश पुरुष के अधिकार में आता है, एवं आधा आकाश स्त्री के अधिकार में आता है। एक ही सम्वत्सराकाश पुरुष और स्त्री में विभक्त है, अतएव स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है।

पुरुष के शून्य अर्द्धाकाश की पूर्त्ति स्त्री से ही होती है। जबतक यज्ञ में स्त्री का समन्वय नहीं होता,तबतक यज्ञस्वरूप अपूर्ण रहता है। "देवो भूत्वा देवं भावयेत्" यह निश्चित सिद्धान्त है। सम्वत्सररूप यज्ञदेव की प्राप्ति के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को पहिले यज्ञरूप बनना पड़ेगा। यज्ञरूप बनने के लिए

पहिले इसे पत्नी का यज्ञ में योग करना पड़ेगा। पत्नीसंयोग से जब यह पूर्ण होजायगा, तभी यह उस पूर्णेश्वर यज्ञविष्णु के साथ सम्बन्ध करने का अधिकारी बनेगा। यदि बिना पत्नी के ही यजमान यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होजायगा, तो एक वर्ष के भीतर भीतर इसकी मृत्यु होजायगी। यदि एक दर्पण आधे भाग में गरम, आधे में ठंढा होजाता है, तो इस विषमता से तत्काल दर्पण के खण्ड खण्ड होजाते हैं। यही अवस्था अपत्नीक यजमान की होती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ में पत्नी का संयोग करना परम आवश्यक होजाता है। सूर्योपलक्षित द्युलोक पिता है, चन्द्रोपलक्षित पृथिवीलोक माता है. दोनों की समष्टि द्यावापृथिव्य यज्ञ है. पृथिवी पश्चिमार्द्ध (भाग) है, द्यु पूर्वार्द्ध (भाग) है। द्युरूप सूर्य्य से उत्पन्न होने वाला पुरुष यज्ञ का पूर्वार्द्ध है, पृथिव्युपलक्षित चन्द्रप्रधाना स्त्री यज्ञ का जघनार्ध (पश्चिम का आधा भाग) है। बिना इसके यज्ञ आधा रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर—"अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः—यत्पत्नी" (तै० ब्रा० ३।३।३।५।)—"अयज्ञो वा एषः, योऽपत्नीकः" (तै० ब्रा० २।२ २।६।)—"सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्यते" इत्यादि कहा गया है। पत्नी का यज्ञ में क्यों योग किया जाता है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है। पुरुष यज्ञाधिकारी है। यज्ञ बिना पत्नी के होता नहीं। यज्ञ की इस अवश्यकर्त्तव्यता को लक्ष्य में रख कर ही पुरुष के लिए बहुविवाह का विधान शास्त्रसिद्ध माना गया है।

पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्द्ध है। इधर यजमान का यज्ञ पश्चिम से पूर्व की ओर ही वितत होता आ नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यदि पत्नी न होगी तो पश्चिम भाग ही न रहेगा। पश्चिम भाग न रहेगा तो प्रतिष्ठा

विरहित यज्ञ किस के आधार पर पूर्व की ओर वितत होगा। अतः यज्ञ-वितान के लिए, यज्ञ की पूर्णतालक्षण समृद्धि के लिए यज्ञ में पत्नी का संयोग करना नितान्त आवश्यक होजाता है। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर "जघनार्द्धो वाऽएष०" इत्यादि कहा गया है ॥१.२॥

साधारण रूप से पत्नी का योग नहीं किया जाता, अपितु उसे योक्त्र से बांधा जाता है। योक्त्र एक ऐसा दृढ बन्धन है कि, उस में बद्ध होने के पश्चात् पलायित हो जाना असंभवसा हो जाता है। जानना चाहते हैं आप इस बंधन रहस्य को? सुनिए! स्त्री सोमप्रधाना होती है, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। सोम ऋततत्व है। अतएव यह सत्यभाव से शून्य है। अतएव च ऋतप्रधाना स्त्री का निग्रह सतत अपेक्षित है। स्त्री के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रखकर भारतीय समाजशास्त्रियों न स्त्रीस्वातन्त्र्य का पूर्ण विरोध किया है। स्त्री की बाल-युवा-वृद्ध इन तीनों अवस्थाओं में पिता-पति- पुत्र-की- अर्गला लगाई गई है। ऋतरूप सोम में आत्मप्रतिष्ठा का अभाव है। यह भोग्य वस्तु है। अतः सर्वदा संरक्षणीय है। इसे निरन्तर परप्रतिष्ठा अपेक्षित है। प्रतिष्ठासूत्र में रहते रहते भी अपने ऋतस्वभाव के कारण स्त्री उच्छृङ्खल बन जाती है। यदि प्रतिष्ठासूत्र न रहे तो फिर क्या कहना है।

ऋतप्रधाना, अतएव अनृतरूपा स्त्री के इस अप्रतिष्ठाभाव की रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रवृत्ति को परतन्त्र बना कर उसे सीमित करने के लिए ही पत्नीसन्नहन कर्म्म किया जाता है। इस कर्म्म के साधनभूत योक्त्रबन्धन से सौम्या यजमानपत्नी की सौम्यवृत्ति शान्त होजाती है, ऋत के स्थान में सत्यभाव का समावेश हो जाता है, अप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा के रूप में परिणत हो जाती है, अनृत अयज्ञियभाव सत्ययज्ञरूप में परि-

णत हो जाता है। यजमान का अर्द्धाकाश परिपूर्ण हो जाता है, पूर्णयज्ञ की पूर्णसमृद्धि प्राप्त हो जाती है। सन्नहन कर्म्म का यही मौलिक रहस्य है।

हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, स्त्रीजाति के सम्बन्ध में विहित उक्त श्रौतसिद्धान्त वर्त्तमान युग के लिए सर्वथा कलङ्क का ही द्योतक सिद्ध हो रहा है। सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तो थोड़ी देर के लिए एक वेदभक्त का हृदय भी श्रुति की इस संकुचितवृत्ति से क्षुब्ध हो पड़ेगा। जब कि ईश्वरीयसृष्टि में सामान्यप्राणियों को भी स्वतन्त्र विचरण करने का (जन्मसिद्ध) अधिकार प्राप्त है, तो सृष्टि के सर्वसभ्य, बुद्धियुक्त मानव-समाज के इस स्त्रीवर्ग के सम्बन्ध में ईश्वराज्ञापत्ररूप इन वेदों में किस आधार पर यह अमानुषिक सिद्धान्त लिपिबद्ध हुआ ? सचमुच यह एक जटिल समस्या है।

समस्या जटिल, साथ ही में सभ्यता, संस्कृति पर कलङ्क लगाने वाली, सब कुछ ठीक है। परन्तु "जिस का खाना, उस का गाना" न्याय से प्रकृतसिद्धान्त के सामने विवश होकर हमें नतमस्तक होना ही पड़ेगा। अब हमें इस सम्बन्ध में देखना केवल यही है कि, उक्त वेदभक्ति हमारी कल्पना तक ही सीमित है, अथवा इस में कुछ तथ्यांश भी है, जिस के कि बल पर वेदविरोधियों का, साथ ही में उन वेदभक्तों का भी, जो कि ऐसे सिद्धान्तों को देख कर क्षुब्ध हो पड़ते हैं, अन्तःकरण भी उक्त सिद्धान्त की ओर आकर्षित किया जा सके। आइए ! इस स्वतन्त्रता-परतन्त्रता की मौलिकता का विचार करें, और तद्द्वारा किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करें। विचारशून्य सामान्यदृष्टि कभी कभी हमें धोका दे डालती है। और इस धोके में पड़ कर माननीय ऋत-मन कभी कभी सत्य को

असत्य समझने की भूल कर बैठता है। कोई आश्चर्य नहीं, हम भी कुछ एसी ही भूल कर रहे हों।

(१) इस में तो कुछ भी सन्देह नहीं है कि, सनातनधर्म्म से प्रेम रखने वाला वर्त्तमान युग का सनातनधर्म्मीजगत् प्रसन्न, किंवा अप्रसन्नरूप से धर्म्म के बहाने विशुद्ध रूढिवाद का ही समर्थक बन रहा है। बाह्याडम्बरभक्त हम सनातनधर्म्मियों नें धर्म्मादेशों को रूढिवाद के रंग में रंग कर उन्हें अधर्म्म का रूप देडाला है, यह स्वीकार कर लेने में किसी भी सनातनधर्म्मी को आनाकानी नहीं करना चाहिए।

(२) इस में भी कोई सन्देह नहीं कि सनातनधर्म्म के प्रचलित रूढिवादों से घोर शत्रुता रखने वाला वर्त्तमानयुग का समाजसुधारक जगत् प्रसन्न, किंवा अप्रसन्नरूप से सुधार के बहाने विशुद्ध अधर्म्मपथ का ही समर्थक बन रहा है। पश्चिमाडम्बरभक्त हम सुधारकों नें सुधारमार्ग को पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंग कर उसे अधर्म्म का रूप दे डाला है, यह स्वीकार कर लेने में किसी भी सुधारक को आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

(३) यह भी निःसंदिग्ध विषय है कि, सनातनधर्म्म के उपदेशकों, प्रचारकों, रक्षक सन्त महन्तों, आचार्यों, मठाधीशोंनें धर्म्मादेशों के मौलिक रहस्य का प्रतिपादन करने वाले विज्ञानसिद्ध वेदशास्त्र की उपेक्षा करते हुए, अतएव धर्म्मरक्षा के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित सम्प्रदायभक्ति को साधनरूप से आगे करते हुए वर्त्तमानयुग की

सुधारक जनता का परितोष करने में अपन आप को सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध किया है।

(४) अब हमें यह भी मान ही लना चाहिए कि, सुधारक समाज के उपदेशकों, मार्गप्रदर्शकों, नेताओंनें सुधार के मूलप्राणरूप मौलिकधर्म्म, मौलिकसस्कृति, मौलिकसाहित्य की उपेक्षा करते हुए, अतएव समाजव्यवस्थासञ्चालन के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित कल्पनाभक्ति को साधनरूप से आगे करते हुए वर्त्तमान युग की धार्म्मिक जनता का परितोष करने में अपने आपको सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध किया है।

उक्त प्रत्यक्षदृष्टि ही हमें यह मान लेने के लिए भी बाध्य कर रही है कि, वर्त्तमान में भारतवर्ष के जनसमाज को १—धर्म्मप्रेमीसनातनधर्म्मी, २—सुधारप्रेमीसुधारक, ३—धर्म्मोपदेष्टाधार्म्मिकनेता, ४—मार्गप्रदर्शकसमाजनेता, इन चार श्रेणियों में विभक्त मानें। यद्यपि एक पाचवां राष्ट्रीय समाज और है। परन्तु प्रचलित प्रगति के अनुसार उसे हम समाजवर्ग में हीं अन्तर्भूत मान सकते हैं। आगे जाकर तो इन चार वर्गों का भी धार्म्मिकवर्ग, सुधारकवर्ग इन दो वर्गों में हीं अन्तर्भाव होजाता है।

दोनों ही उद्देश्य दृष्टि स समानपथ के अनुयायी बनें हुए हैं। "हम, हमारा देश, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति सुरक्षित रहे" दोनों हीं वर्गों को यह उद्देश्य सर्वात्मना मान्य है। परन्तु आश्चर्य है कि समानोद्देश्यता के रहने पर भी दोनों में परस्पर घोरविरोध देखा जाता है। धार्मिकजगत सुधारकजगत को सर्वनाश का प्रवर्त्तक बतला रहा है, सुधारकवर्ग धार्मिक जगत् को उन्नति का महाप्रतिबन्धक समझ रहा है। आदर्शभक्त, किन्तु कर्म्मशून्य

धार्मिकजगत् का धर्म्मप्रसार क्रम क्रमशः शिथिल होता जा रहा है, कर्म्मपरायण, किन्तु आदर्शशून्य सामाजिकजगत् की उच्छृङ्खलता क्रमशः वृद्धिगत प्रतीत हो रही है । इस प्रकार देश की ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति दो स्वतन्त्र दलों में विभक्त होकर तीसरी अर्थशक्ति के मूलोच्छेद का कारण बनती हुई सर्वनाश की प्रयोजिका बन रही है, यह जानकर किस भारतीय को क्लेश न होगा ।

हुआ क्या ?, एवं हो क्या रहा है ?। धार्मिक प्रजाने परिवर्त्तनशील देश-काल-पात्र-द्रव्यादि से सम्बन्ध रखने वाले तत्सामयिक (अतएव तत्समय के लिए ही उपादेय) आचार-व्यवहारों का ग्रन्थिबन्धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सभ्यता, किंवा आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्त्तन से स्मृतिगर्भ में विलीन होते रहे, आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शाश्वतधर्म्म पर बलात्कार से उन सामयिक आचारादि का लेप चढ़ता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि—धर्म्मतत्त्व सर्वथा अन्तर्हित होगया, प्रधानता रह गई केवल रूढिवाद की । शाश्वतधर्म्म अनित्य मतवाद बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का पोषक बन गया ।

भला मानवीय मन कब तक धर्म्म के इस ताण्डवनृत्य को सहन करता रहता । परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओं नें जनता को सावधान किया कि, जिसे तुमनें धर्म्म समझ रक्खा है, वह व्याजधर्म्म है, धर्म्म की ओट में रूढिवाद पनप रहा है । इसी धर्म्म के धोके ने तुह्मारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ, देश के सामने है । धर्म्मसुधार आरम्भ हुआ, बड़े जोरशोर से । परन्तु धर्म्म-

रहस्यभूत मौलिक साहित्य के विरह से इस सुधार ने बाह्य आवरण के साथ साथ गर्भीभूत मौलिकतत्त्व पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया। और मानना पड़ेगा कि, सुधारकवर्ग की यह एक महा भूल हुई। गले सड़े मांस के ऑपरेशन के साथ साथ विशुद्ध संरक्षक अङ्ग को भी तराश लिया गया। इस प्रकार इन्होंनें रही सही मौलिकता भी नामशेष में परिणत कर डाली।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है। प्रश्न है—"स्त्री-स्वातन्त्र्य" का। स्वतन्त्रता का अनन्यप्रेमी सुधारकसमाज उन आदेशों को सहन करने के लिए तय्यार नहीं हैं, जो कि आदेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं। यही कारण है कि, उन की दृष्टि में—"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" यह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही द्योतक बन रहा है। ऋत—सत्य का विवेचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमनें इस द्योतकता की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकते। अवश्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोड़ा और प्रयास करना पड़ेगा।

जहां तक हम समझते हैं—"स्वतन्त्र" शब्द का अक्षरार्थ है—"स्व—तन्त्र" (अपना तन्त्र)। यह "स्व" क्या है?, और इस "स्व" का "तन्त्र" क्या है? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। पहिले कोशकार की दृष्टि से ही दोनों पदों के अर्थों का विचार कीजिए। "स्वो ज्ञातावात्मनि" (अमर० ३।३।२११) के अनुसार बन्धुजन, और आत्मा इन दोनों को "स्व" कहा जाता है। ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबन्धु* हैं। अतः फलितांश

* "यावद्वित्तं तावदात्मा" इस सिद्धान्त के अनुसार वित्तपर्यन्त आत्मसत्ता का प्रसार माना गया है। बन्धुवर्ग, किंवा ज्ञातिवर्ग अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत है। अतएव इन्हें भी "स्व" कहना अन्वर्थ बन जाता है।

में आत्मा हीं स्वशब्द का वाच्यार्थ बनता है। शब्दार्थक "स्वन" धातु से ('स्वन'शब्दे—भ्वा०प०से.) "स्वः" शब्द निष्पन्न हुआ है। "स्वनति-इति, स्वन्यते वा" हो "स्व" शब्द का निर्वचन है। आत्मा शब्दप्रवर्तक है, दूसरे शब्दों में आत्मा से शब्द निकलता है, अतएव "स्वनति" (शब्दं करोति, शब्दमुत्पादयति वा) से अवश्य ही आत्मा को "स्वः" कहा जासकता है। इसी निर्वचन से यह भी सिद्ध होगया कि, जिस का आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है, वह आत्मा "स्वः" मर्यादा से, किंवा "स्व—धर्म्म" से वञ्चित होता हुआ "स्वः" न हो कर "परः" ही कहलाएगा।

आत्मा शब्द उत्पन्न करता है, किंवा आत्मा से शब्द निकलता है, इस का क्या तात्पर्य? क्या कोई आत्मा ऐसा भी है, जो शब्द उत्पन्न करने में असमर्थ रहता हो। हम तो देखते हैं कि—"आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया, मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्" इस पाणिनिशिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार शब्दोच्चारण की विवक्षा करने वाला आत्मा बुद्धि से युक्त हो कर अभिलषित अर्थकामना का मन के साथ योग करता है। आत्मकामना से काममय बना हुआ मन सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानर अग्नि (कायाग्नि) में क्षोभ उत्पन्न करता है। कामाघात से क्षुब्ध बने अग्नि का क्षोभ प्राणवायु पर आघात करता है। धक्का खा कर वायु उरः—कण्ठ—शिरः किसी स्थान से टकरा कर कण्ठताल्वादि स्थानों में आकर वर्णरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मकामना ही बुद्धिद्वारा मनोद्वार से शारीराग्निक्षोभव्यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारभाव में परिणत कर वर्णरूप में परिणत करती है। "वायुः खात् शब्दस्तत्" यह प्रातिशाख्य सिद्धान्त भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है।

जब कि शब्दोत्पत्ति, किंवा वर्णोत्पत्ति का यह स्वाभाविक नियम है, दूसरे शब्दों में कोई भी शब्द जब बिना आत्मकामना के विनिर्गत नहीं हो सकता, तो मानना पड़ेगा कि "स्वनति–स्वन्यते" के अनुसार सभी प्राणियों का आत्मा "स्व" है। फिर इस सम्बन्ध में यह कहना है कि–"जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है, वह स्व न कहला कर पर ही कहलाएगा" क्या महत्व रखता है। "न ह्यशब्दमिवास्ति"–"सर्वं शब्देन भासते" इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार जब सब का प्रत्यय शब्दात्मक है, शब्दप्रेरणा सब का प्रातिस्विक धर्म्म है, तो इस नित्य शब्दविनिर्गम का अनुयायी आत्मा कभी पर बन जाय, यह सम्भव नहीं।

यदि केवल "स्व–पर"–भावों का ही विचार किया जाता है, तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समावेश सम्भव हो जाता है। परन्तु जब "तन्त्र" शब्द को साथ लेकर विचार किया जायगा, तो स्वतः एव विप्रतिपत्ति का निराकरण हो जायगा। केवल 'स्वः" (आत्मा) को तो तब तक स्वः (आत्मा) कहा भी नहीं जासकता, जब तक कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नहीं बन जाता। तन्त्र को अपना आयतन बना कर ही आत्मा शब्दोत्पत्ति में समर्थ होकर "स्वः" कह लाता है। यदि वह तन्त्र आत्मानुगामी है, तो उस समय उस अपने तन्त्र का अध्यक्ष बनता हुआ आत्मा "स्वतन्त्र" कहलाएगा। यदि वह तन्त्र आत्मस्वरूप को विकृत करने वाला है, तो उस दशा में वह तन्त्र परतन्त्र कहलाएगा, एवं तदनुगत आत्मा भी परतन्त्र माना जायगा।

स्वतन्त्र–परतन्त्र दोनों हीं शब्द आत्मवाचक नहीं हैं, अपितु तन्त्रों के द्योतक हैं। आत्मा को तो न स्वतन्त्र कहा जासकता, न परतन्त्र। सर्व-

रूप के लिए किसी निश्चितरूप की अर्गला नहीं लगाइ जासकती। दोनों शब्द तन्त्रों के वाचक हैं। आत्मतन्त्र "स्वतन्त्र" कहलाएगा, आत्मविरोधी तन्त्र 'परतन्त्र" कहलाएगा। स्व-तन्त्र में रहने वाला आत्मा अपना "स्वः" भाव सुरक्षित रख सकेगा। पर-तन्त्र में रहने वाला आत्मा स्वः को खो बैठेगा। इस प्रकार स्वतन्त्र परतन्त्र शब्द तन्त्रों के ही वाचक बन जाते हैं। आगे जाकर तद्वादन्याय से इन दोनों को आत्मा का भी वाचक मान लिया गया है।

आत्मा चाहे स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित रहै, अथवा पर-तन्त्र में, उभयथा वह शब्दोत्पत्ति का प्रवर्त्तक माना जायगा। और शब्दोत्पत्तिसम्बन्ध से दोनों हीं अवस्थाओं में उसे "स्वनति" के अनुसार 'स्वः" कहा जासकेगा। अन्तर दोनों अवस्थाओं में केवल यह होगा कि स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित आत्मा की कामना मन का सञ्चालन करेगी, एवं पर-तन्त्र में प्रतिष्ठित आत्मकामना पर मानस कामना का सञ्चालन रहेगा। मन की कामना को अपने रंग में रंग कर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ वही स्वः "स्वः" कहा जायगा, एवं अपनी कामना को मन के रंग में रंगकर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ वही स्वः "परः" कहलाएगा। इस प्रकार तन्त्रभेद से शब्दायमान उस एक ही स्वः की "स्वः-परः" ये दो अवस्थाए हो जायँगीं।

स्व (अपने) तन्त्र का अध्यक्ष वही स्वः (आत्मा) "स्वः" कहलाएगा, पर (दूसरे) तन्त्र का अनुगामी वही स्वः (आत्मा) "परः" (परधर्मावच्छिन्न) कहलाएगा। बस केवल इसी भेद को लक्ष्य में रखकर "शब्दोत्पत्ति में समर्थ आत्मा स्वः, असमर्थ आत्मा पर कहलाएगा" यह कहा गया है। शब्दोत्पत्ति दोनों अवस्थाओं में होगी। परन्तु पर-तन्त्रावस्था में

उत्पन्न आत्मशब्द परधर्म्म में रंगे रहने के कारण आत्मशब्द न कहलाएगा। अब यह विचार कीजिए कि, वह "स्वतन्त्र–परतन्त्र" कौन हैं, जिन के क्रमिक सम्बन्ध से वह स्वः (आत्मा) "स्वः-पर" भावों (आत्म-अनात्म-भावों) में परिणत होजाता है।

कोशानुसार पूर्व में "स्वः" को आत्मा का वाचक बतलाया गया है। ज्ञाता आत्मा ही "स्वः" है। इस ज्ञाता आत्मा का परभाव होगा-वह विषय, जो कि आत्मभावना से शून्य होगा। ज्ञाता-ज्ञेय दोनों में ज्ञाता यदि आत्मा का स्व-भाव है, तो ज्ञेय पर-भाव माना जायगा। चैतन्य ज्ञाता आत्मा का ज्ञेय विषय सर्वथा जड़ होजाता है। जड़त्वेन हीं उसे अनात्म्य कहा जासकता है। इस दृष्टि से इस अनात्मभाव को हम "परभाव" कहेंगे। कोशकारने पर शब्द के जो दूर, अनात्मा, उत्तम, ये तीन अर्थ माने हैं, उनमें से प्रकृत में अनात्मभाव ही अभिप्रेत है–(अमर० ३।३।१६१।)। इसी भाव को आगे कर परशब्द शत्रु का भी वाचक माना गया है, एवं स्वः बन्धु का वाचक माना गया है। निष्कर्ष यह हुआ कि-आत्मा "स्वः" है, अनात्मा "पर" है। आत्मा का उपकारक भाव 'स्वः' है, आत्मा का विरोधी भाव पर है। आत्मा, और आत्मा का श्रेयोभाव–दोनों को "स्वः" कहा जायगा। अनात्मा, और आत्मा का प्रेयोभाव दोनों को 'परः' कहा जायगा।

अब तन्त्र शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालिए। अपेक्षा भेद से तन्त्रशब्द सिद्धान्त, परिच्छेद (सीमा), सूत्रवाय, कुटुम्बकृत्य, उत्तमोषधि, शास्त्रपर्व, वेदशाखा, इतिकर्त्तव्यता, **प्रधान**, आदि अनेक अर्थों का सूचक है। प्रकृत में तन्त्र शब्द से "प्रधान" ही अभिप्रेत है। प्रकृति को ही प्रधान कहा जाता है। प्रकृति

भाव के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद से दो विवर्त्त हैं। इन में पाञ्चभौतिक विश्व बहिरङ्ग प्रकृति है, विश्वसञ्चालिका प्रकृति अन्तरङ्गप्रकृति है। यही विश्व का आदिकारण मानी गई है। इसी को "प्रधान" कहा जायगा। विश्वक्षेत्र का अधिष्ठाता प्रकृतिरूप यही प्रधानतत्त्व पुरुषसहयोग से क्षेत्रज्ञ बना हुआ है। विज्ञानभाषा में यही "विज्ञानात्मा" नाम से, दर्शनभाषा में यही 'बुद्धि" नाम से प्रसिद्ध है। वाक्प्रकृतितत्त्व ही "बुद्धि" है, जैसा कि गीताभाष्यादि में स्पष्ट है।

प्रधान प्रकृति ही व्यक्तरूप से वितत होकर विश्वविस्तार का कारण बनती है। दूसरे शब्दों में यही विश्व का वितान करती है, अतएव "तन्यते-अनेन सर्वम्" इस निर्वचन के अनुसार प्रकृतिरूप इस प्रधान को अवश्य ही "तन्त्र" कहा जासकता है। "स्व—पर—तन्त्र" तीनों का अर्थ क्रमशः आत्मा-अनात्मा-प्रधान-रूप से गतार्थ हुआ है। यह अनात्मभाव वही बहिरङ्गप्रकृति है, जिसे कि हम विश्व कह सकेंगे। आत्मरूप 'स्व" पुरुष है, आदिकारण-रूप प्रधान प्रकृति है कार्य्यरूप विश्व अनात्मय परभाव बनता हुआ "विकृति" है। पहिले आधिदैविक विश्व में तीनों के दर्शन कीजिए।

स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिव्यात्मक विश्व में स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि अमृतप्रधान पुरुषसंस्था है, चन्द्रमा-पृथिवी दोनों की समष्टि-रूप मृत्युप्रधान विकृतिसंस्था है। मध्यस्थ, अतएव अमृत-मृत्युमय सूर्य्य प्रकृतिसंस्था है। पुरुषसंस्था में अव्ययात्मा का विकास है, विकृतिसंस्था में भौतिक क्षर का साम्राज्य है, एवं प्रकृतिसंस्था में अक्षर की प्रधानता है। अव्यय "स्व" है, क्षर "पर" है, अक्षर "तन्त्र" है। अव्ययपुरुष का (स्व का) तन्त्र यही अक्षर है। यदि यही तन्त्र (अक्षर) क्षररूप परभाव का अनु-

गामी बन जाता है, तो यह स्वतन्त्र (अव्ययतन्त्र) परतन्त्र (क्षरतन्त्र) बन जाता है। अव्ययात्मा का अक्षरतन्त्रद्वारा क्षर में समाविष्ट रहना "स्वतन्त्रता" है, एवं अव्ययात्मा का अक्षरतन्त्र को क्षर का अनुगामी बनाते हुए उसमें आसक्त होजाना "परतन्त्रता" है।

उक्त आत्मविवर्त्त निरूपण से यह भी सिद्ध होगया कि—सूर्य्य-स्थानीय प्रधान (अक्षर) स्वतन्त्र है। क्यों कि इस अक्षर का तन्त्र (वि-स्तरभूमि) अव्यय ही है। "स्वः (आत्मा) है तन्त्र जिसका" ऐसा केवल अक्षर ही होसकता है। यदि यह अक्षर स्व को अपना तन्त्र न बना कर परलक्षण क्षर को अपना तन्त्र बना लेता है तो "पर (क्षर) है तन्त्र जिसका" इस निर्वचन से यही 'परतन्त्र' बन जाता है।

बात जरा उलझी सी प्रतीत होती है। स्वतन्त्र–परतन्त्र शब्द आ-त्मा के वाचक हैं, अथवा अनात्मा के वाचक हैं, अथवा प्रधान के सूचक हैं? यह बात कम उलझन की नहीं है। अतएव इसका विशेषरूप से स्पष्टी करण अपेक्षित होजाता है।

आत्मा[१]———"स्व"—है, अनात्मा[२]—"पर"—है, प्रधान[३]—"तन्त्र"—है।
पुरुष[१]———"स्व"—है, विकृति[२]-—"पर"—है, प्रकृति[३]—"तन्त्र"—है।
अव्यय[१]———"स्व"—है, क्षर[२]———"पर"—है' अक्षर[३]—"तन्त्र"—है।
स्वं०पर०[१]—"स्व"—है, चं० पृ०[२]—"पर"—है, सूर्य्य[३]—-"तन्त्र"—है।

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि, किसी भी रूप से यदि स्व का तन्त्र से, किंवा तन्त्र का स्वः से सम्बन्ध है, तब तो "स्वतन्त्र" शब्द का आविर्भाव है। यदि स्व का–तन्त्र द्वारा पर से, किंवा पर का–तन्त्र

द्वारा स्व से सम्बन्ध है, तो "परतन्त्र" शब्द का आविर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि-यदि स्व का साक्षात् रूप से तन्त्र से सम्बन्ध है, तो इस दशा में स्वतन्त्र शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा। यदि इसी स्व का साक्षात् रूप से तन्त्र से सम्बन्ध न होकर पर द्वारा तन्त्र से सम्बन्ध है, तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा ऐसी दशा में "स्वतन्त्रः—परतन्त्रः" का अर्थ होगा- 'आत्मा स्वतन्त्रः" आत्मा परतन्त्रः" ।

यदि तन्त्र का साक्षात्रूप स स्व से सम्बन्ध है, तो इस दशा में स्वतन्त्र शब्द भी तन्त्र का ही वाचक माना जायगा। यदि इसी तन्त्र का साक्षातरूप से स्व के साथ सम्बन्ध न होकर पर के द्वारा स्व से सम्बन्ध है, तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी तन्त्र का ही वाचक माना जायगा। एवं उस दशा में-"स्वतन्त्रः-परतन्त्रः" का अर्थ होगा—"तन्त्रः स्वतन्त्रः"-"तन्त्रः परतन्त्रः" ।

यदि पर का तन्त्र द्वारा स्व के साथ अनुकूल (अनुयोगी) सम्बन्ध है, तो इस दशा में स्वतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा। यदि पर का तन्त्रद्वारा स्व के साथ प्रतिकूल (प्रतियोगी) सम्बन्ध है, तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा।

तात्पर्य्य यह निकला कि-तन्त्रानुगामी वही आत्मा स्वतन्त्र है, परानुगामी वही आत्मा परतन्त्र है। स्वानुगामी वही तन्त्र स्वतन्त्र है, परानुगामी वही तन्त्र परतन्त्र है। स्वानुगामी (अनुकूलभाव से) वही पर स्वतन्त्र है, एवं स्वानुगामी (प्रतिकूलभाव से) वही पर परतन्त्र है। आत्मा भी स्वतन्त्र

परतन्त्र कहला सकता है, तन्त्र को भी स्वतन्त्र-परतन्त्र कहा जासकता है, एवं पर भी स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों से व्यवहृत हो सकता है। इस प्रकार स्व-लक्षण पुरुष, तन्त्रलक्षणा प्रकृति, परलक्षणा विकृति तीनों संस्थाओं के साथ सम्बन्धभेद से स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों शब्दों का समन्वय किया जासकता है।

तीनों विवर्त्तो में से पहिले आत्मस्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह स्वः (आत्मा) स्वतन्त्र का (अपने तन्त्ररूप अक्षर, किंवा प्रकृति का) अनुगामी बनता हुआ तन्त्र द्वारा (प्रकृति के द्वारा) परभाव में (क्षर, किंवा विकृति भाव में) अनासक्तरूप से प्रविष्ट है, तो इस दशा में (तन्त्रानुगत बन कर परभाव से युक्त रहने की दशा में) इस तन्त्रानुगामी स्वः को "तन्त्रानुगतः–यः–स्वः–(आत्मा)" (तन्त्र का अनुयायी जो स्वः (आत्मा)" इस निर्वचन के अनुसार "स्वतन्त्रः" कहा जायगा। "तन्त्रानुगतः स्वः, स्वतन्त्रः" ही इस आत्मवाचक स्वतन्त्र शब्द का निर्वचन होगा।

मान लीजिए स्वः (आत्म) तन्त्रानुगामी नहीं है। उसने पर के साथ योग तो तन्त्रद्वारा ही किया है। परन्तु पर की आसक्ति के कारण उसका तन्त्र पर की प्रतिच्छाया से युक्त होकर अपना तन्त्रभाव खो बैठा है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्म्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्राति-स्विक अक्षरसम्पति से वञ्चित होगया है। क्षररूप परके नश्वरधर्म्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की विषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा, अपितु अ-क्षरतन्त्र का आसन क्षरपर ने छीन लिया। आज पर ही इसका तन्त्र बन गया।

पर की आसक्ति ने यहीं विश्राम नहीं किया। अपितु जैसे पराशक्ति ने अक्षर तन्त्र को पर बना डाला, वैसे तद्बद्ध उस स्व को भी पररूप में (क्षर ७५ में) परिणत कर डाला। परिणाम यह हुआ कि-जो पर अपने क्षरभाव से जिस स्व का तन्त्र नहीं बन सकता था, वह तो उस स्व का तन्त्र बन गया, और स्वयं स्वः-अपने स्व-भाव से आवृत होकर पर बन गया। परने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आप को तो तन्त्र बना लिया, और अपना नश्वर परभाव आत्मा को देकर (उसे स्व से बञ्चित कर) उसे पर बना डाला। स्व को पर बनाया-एक काम, तन्त्र को पर बनाते हुए तन्त्रता स्वयं छीनली-दूसरा काम। स्व बन गया पर, पर बन गया तन्त्र, तन्त्र पर बनता हुआ इस तन्त्राकाराकारित क्षर में विलीन होगया, अथवा पर बन हुए आत्मा में विलीन होगया।

इस प्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ (क्षरानुगत रहता हुआ) जो स्वः-किसी दिन "स्वतन्त्र" था, आज वही इस बनावटी तन्त्र की कृपा से पर बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर "परतन्त्र" शब्दवाच्य बन गया। "तन्त्रानुगतः-(तन्त्रप्रतिकृतिरूपक्षरानुगतः)-यः-परः-(परधर्म्मानुगतः स्वः-आत्मा)" (क्षररूप तन्त्र का अनुयायी, अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा) इस निर्वचन के अनुसार इसे "परतन्त्र" कहा गया। पूर्ववत "तन्त्रानुगतः-परः-परतन्त्रः" इस आत्मवाचक परतन्त्र शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के "स्व-(स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा)"-पर-(पररूप में परिणत आत्मा)" अवयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा। तो स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के क्रमशः उक्त (तन्त्रानुगतः-स्वः,-तन्त्रानुगतः-परः) निर्वचन हीं होंगे। यहां आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना बन्धु क-

हलाएगा, एवं आत्मा ही पराक्रान्त होकर अपना रिपु कहलाएगा, जैसा कि "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूलतन्त्रानुगत आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, एवं प्रतिकूल तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जा सकता है। आत्मा को विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा, एवं आवृत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मबन्धु को हम स्व का स्व (आत्मा का स्वजन, किंवा मित्र) कहेंगे, एवं आत्मरिपु को स्व का पर (आत्मा का परजन, किंवा रिपु) कहेंगे। परक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला तन्त्राक्षर आत्मोदय का कारण बनता हुआ आत्मा का "स्व" कहलाएगा। तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला पर क्षर आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का "पर" कहलाएगा। इसी दृष्टि से अक्षरतन्त्र आत्मा का स्वतन्त्र (अपना हितैषी तन्त्र) कहलाएगा, एवं क्षरतन्त्र परतन्त्र (विरोधी तन्त्र) कहलाएगा। स्व-तन्त्रानुगत (अक्षरानुगत) आत्मा "स्वः-तन्त्रो यस्यात्मनः-स आत्मा स्वतन्त्रः"-निर्वचन के अनुसार स्वतन्त्र कहलाएगा। एवं पर-तन्त्रानुगत (क्षरानुगत) आत्मा "परः-तन्त्रो यस्यात्मनः स-आत्मा"-इस निर्वचन के अनुसार परतन्त्र कहलाएगा।

(१)-१-तन्त्रानुगतः--(अक्षरानुगतः)-स्वः(आत्मा)"-स्वतन्त्रः—आत्मा-स्वः

२-तन्त्रानुगतः—(क्षरानुगतः)-स्वः(आत्मा)—परतन्त्रः—आत्मा-परः

—०—

१-स्वः (अक्षरः) तन्त्रो यस्य सः (आत्मा)-स्वतन्त्रः—अक्षरः-स्वः

२-परः (क्षरः) तन्त्रो यस्य सः (आत्मा)-परतन्त्रः—क्षरः--परः

—०—

आत्मपुरुषवाचक स्वतन्त्र—परतन्त्र शब्दों का विचार समाप्त हुआ। अब तन्त्रवाचक (अक्षरवाचक) शब्दों के निर्वचन का विचार कीजिए। वही तो अपना (स्व) कहलाएगा, जिस से स्वरूप रक्षा होगी। और उसे ही तो पर कहा जायगा, जो कि स्वरूपहानि करता होगा। मध्यस्थ तन्त्र-रूप अक्षर स्वस्वरूप से अविनाशी है। उधर इस के उस ओर अविनाशी अव्यय है, इस ओर नाशवान् क्षर है। यदि अक्षर दोनों की समविभुति से युक्त है, तब तो कोई झगड़ा ही नहीं है। हां यदि अक्षर क्षरभाव में आसक्त हो जाता है,तो यह अपने तन्त्रभाव (अक्षरभाव) को छोड़ कर पर-भाव में (क्षरभाव में) परिणत हो जाता है। ठीक इस के विपरीत यदि यह अव्ययभाव का अनुगामी बन जाता है, तो इस का तन्त्र सुरक्षित रहता है। अव्यययोग में अक्षर का स्व—भाव सुरक्षित रहता है, क्षरासक्ति में इस का स्व-भाव पर-भाव में परिणत हो जाता है। अक्षरतन्त्र के उस ओर अव्ययतन्त्र है, इस ओर क्षरतन्त्र है। स्वयं अक्षर अव्ययतन्त्रानुगामी बनता हुआ स्वरूपधर्म्म से युक्त बन कर "स्वः" है, क्षरतन्त्रानुगामी बनता हुआ परधर्म्म से युक्त बन कर "परः" है। आत्मवत् अक्षर भी इस दृष्टि से "स्वः-परः" दो रूप धारण कर सकता है। तन्त्रानुगत (अव्ययानुगत)स्वः (अक्षर) स्वतन्त्र है, तन्त्रानुगत (क्षरानुगत) पर (क्षररूप-अक्षर) परतन्त्र है। "तन्त्रानुगतः (अव्ययानुगतः)—तन्त्रः (अक्षरः)—स्वः-स्वतन्त्रः"—"तन्त्रानुगतः (क्षरानुगतः) तन्त्रः (क्षरात्मकोऽक्षरः)—परः—परतन्त्रः" ही निर्वचन होंगे। पूर्ववत् ये दोनों निर्वचन तन्त्ररूप अक्षर को ही "स्वः—परः" मान कर प्रतिष्ठित हैं।

अक्षर का बन्धु अव्यय ही इस का स्वः कहलाएगा, क्षर ही इस का पर कहलाएगा। इस दृष्टि से अव्ययतन्त्र अक्षरतन्त्र का स्व—तन्त्र माना जायगा, एवं क्षरतन्त्र पर-तन्त्र कहा जायगा। और इस दृष्टि की अपेक्षा से दोनों शब्दों के निर्वचन होंगे—"स्वः (अव्ययः) तन्त्रो यस्य सः—अक्षरः—स्वतन्त्रः"-"परः]क्षरः] तन्त्रो यस्य सः—अक्षरः—परतन्त्रः" य।

(२)-१—तन्त्रानुगतः [अव्ययानुगतः] तन्त्रः [अक्षरः]—स्वतन्त्र —अक्षरः—स्वः

२—तन्त्रानुगतः [क्षरानुगतः] तन्त्रः [अक्षरः]-परतन्त्रः—अक्षरः—परः

—०—

१—स्वः [अव्ययः] तन्त्रो यस्य सः [अक्षरः]—स्वतन्त्रः —अव्ययः—स्वः

२—परः [क्षरः] तन्त्रो यस्य सः [अक्षरः]—परतन्त्रः—क्षरः—परः

तीसरा परभाव है। इस का भी समन्वय कर लीजिए। योग्यता-विरह से जहां स्व पर देखा गया है, वहां पर को स्व बनता भी देखा गया है। वही नश्वर संसार किसी के लिए (आसक्तिद्वारा) बन्धन का कारण बना हुआ है, वे ही नश्वर भौतिक पदार्थ किसी उपासक के लिए उपासनासाधक बनते हुए मुक्ति का कारण बन रहे हैं। यदि पर का (क्षर का) अक्षरद्वारा अव्ययतन्त्र के साथ योग है, तो वही पर अक्षर (स्व) बनता हुआ स्वतन्त्र है। यदि इस का वैकारिकभावों की ओर अभिनिवेश है, तो अपने पर नाम को चरितार्थ करता हुआ यही परतन्त्र भी बना हुआ है। इस दृष्टि से इन शब्दों का जो निर्वचन होगा, उस में स्वः—पर क्षर क वाचक रहेंगे। अव्ययतन्त्रानुगत पर "स्वतन्त्र" कहलाएगा, वैकारिक प्रपञ्चासक्त पर परतन्त्र कहलाएगा, यही तात्पर्य है। पूर्वोक्त दूसरी दृष्टि भी यहां

समन्वय कर लेना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित निर्वचनों से स्पष्ट है।

(३)-१—तन्त्रानुगतः [अव्ययानुगतः]—परः [क्षरः] स्वतंत्रः—क्षरः—स्वः

२—तन्त्रानुगतः [विकारानुगतः]—परः [क्षरः] परतन्त्रः—क्षरः—परः

—०—

१—स्वः [अव्ययः] तन्त्रो यस्य सः [क्षरः]—स्वतन्त्रः—अव्ययः—स्वः

२—परः [विकारः] तन्त्रो यस्य सः [क्षरः]—परतन्त्रः—विकारः—परः

—०—

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि--स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों शब्द अनुगमभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं। किसी नियत वस्तुतत्त्व के लिए ये शब्द नियत नहीं हैं। अपितु परिस्थिति के तारतम्य से सभी स्वतन्त्र हैं, सभी परतन्त्र हैं। स्वतन्त्र आत्मा भी परतन्त्र बन सकता है, एवं परतन्त्र पर भी स्वतन्त्र बन सकता है। पुरुष हो, प्रकृति हो, अथवा विकृति हो, स्वस्वरूप से न इन्हें स्वतन्त्र कहा जासकता, न परतन्त्र माना जासकता। पुरुष प्रकृति के सहयोग से यदि स्वतन्त्र है, तो विकृति के सहयोग से वही परतन्त्र भी बन सकता है। प्रकृति पुरुष की अनुगामिनी बनती हुई यदि स्वतन्त्र है, तो विकृतिपथ का अनुसरण करती हुई वही परतन्त्र भी बन सकती है। एवमेव विकृति प्रकृति किंवा पुरुष की अनुगामिनी बनती हुई यदि स्वतन्त्र हो सकती है, तो विकार प्रपञ्च में आसक्त होकर वही परतन्त्र भी बन सकती है। इसी मौलिक परिभाषा के आधार पर हमें आध्यात्मिक जगत् की स्वतन्त्रता-परतन्त्रता का अन्वेषण करना पड़ेगा, एवं तदाधार को मूल मान कर ही "स्त्रीस्वातन्त्र्य" की मीमांसा हल करनी पड़ेगी।

आधिदैविक विश्व में स्व०पर०,—सूर्य्य,—चन्द्र पृ० रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)-विकृति (पशु) रूप से प्रजापति विवर्त का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मधर्म्मों के सूक्ष्म भावों की ओर जाने की आवश्यता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का विचार पर्य्याप्त होगा, जिन्हें कि प्रायः सर्वसाधारण जानते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर चारों जानें हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अव्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपपन्न पुरुष समझलीजिए। सूर्य्यांशरूप बुद्धि को प्रकृति, चन्द्रांशरूप मन, एवं पृथिव्यांशरूप शरीर दोनों की समष्टि को विकृति कहिए। पुरुष अव्यय हुआ, प्रकृति अक्षर हुई, विकृति क्षर हुई। अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अव्ययात्मक अमृत आत्मा है. इस ओर क्षरात्मक मर्त्य मन एवं शरीर है। निम्न लिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट हो जाता है।

	अधिदैवतम्	अध्यात्मम्		
१	१-स्वयम्भूः	अव्यक्तः	→आत्मा (पुरुषः—अव्ययः-स्वः	→प्रजापतिः
	२-परमेष्ठी	महान्		
२	१-सूर्य्यः	बुद्धिः	→प्राणाः (प्रकृतिः-अक्षरः-तन्त्रः)	
३	१-चन्द्रमाः	मनः	→पशवः (विकृतिः-क्षरः—परः)	
	२-पृथिवी	शरीरम्		

आधिदैविकयज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविकयज्ञ में यजमान कौन? यजमान पत्नी कौन? पहिले यही देखिए। आत्मा, सूर्य्यरूप प्रकृति, चन्द्रपृथिवीरूप विकृति इन तीनों में आत्मा तो यज्ञवेदि, किंवा यज्ञधरातल है, जैसा कि "एतदालम्बनं श्रेष्ठम्"—"अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि श्रौत स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है। सूर्य्य इस यज्ञ का यजमान है, पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है। दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है, और यही यज्ञ प्रजोत्पत्ति का कारण है।

सूर्य्य अग्निमय है, चन्द्रमा सोममय है। सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग ऋत अग्नि है, चान्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतसोम है। ऋतसोम का अपना स्थान उत्तरादिक् है, ऋताग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक् है। उत्तरस्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर, एवं दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर की ओर जाया करता है। ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से वसन्तादि षड्ऋतुएं उत्पन्न होतीं हैं। षड्ऋतुसमष्टि से सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही अग्नीषोमात्मक, षड्ऋतुमूर्त्ति सम्वत्सरयज्ञ पार्थिवप्रजोत्पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिवप्रजा में सम्वत्सरयज्ञप्रजापति के अग्नि—सोम दोनों भावों का समन्वय है। परन्तु वृषासृष्टि में सूर्य्योपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का अग्नितत्त्व प्रधान रहता है, एवं योषासृष्टि में चन्द्रोपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का सोमतत्त्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है, स्त्रीसृष्टि योषा है। पुरुषनिर्म्माण में अग्नि, स्त्रीनिर्म्माण में सोम प्रधान है। अस्तु अग्नि-सोम के इन तारतम्यों का पूर्वप्रकरणों में यत्र तत्र विश्लेषण किया जा चुका है। अतः यहां पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहां केवल यही जान लेना बस होगा कि-अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है। सोम अन्न है, भोग्य है। कैसा भोग्य? पशुरूप भोग्य नहीं, अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भोक्ता है, तो सोम अग्नि का आत्म तिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के बिना न अग्नि जीवित रह सकता, न अग्नि को आधार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव में परिणत कर सकता। दोनों के इसी सख्यभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका॥

(ऋक्सं० ५।४४।१५)।

अग्नि बलवान् अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोमसहयोग पर ही निर्भर है। हृदयभाव से ही बल का विकास होता है, दूसरे शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ उक्थबल सत्य है, इस सत्य उक्थ से निकल ने वाली सत्यरश्मिएं बल है। एक ही सत्य की सत्य—बल दो अवस्था हैं। सत्य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है। सत्य स्वय काम नहीं करता, आलम्बनमात्र बना रहता है। सत्यरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर—"बलं सत्यादोजीयः"—"बलं वाव विज्ञानाद् भूयः" इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। चूंकि पुरुष में सत्य अग्नितत्त्व की प्रधानता है, अतएव इसे हम बलवान् कहेंगे। उधर सोम अबल, किंवा निर्बल है। कारण स्पष्ट है। सोम ऋततत्त्व है, हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इसे ऋत कहा जाता है। जब हृदय नहीं, तो सत्यभाव नहीं, सत्य नहीं तो

तद्विकासरूप बल नहीं। चूंकि स्त्री में इस ऋत-सोमतत्त्व की प्रधानता है, अतएव इसे "अबला" कहा जायगा।

पुरुष बलवान्, स्त्री अबला। पुरुषसत्यभावोपेत, स्त्री अनृतभावोपेता। पुरुष आग्नेय, स्त्री सौम्या। पुरुष भोक्ता, स्त्री भोग्य। पुरुष प्रतिष्ठा, स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन, स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छन्दस्क, स्त्री परच्छन्दानुवर्तिनी (पुरुषच्छन्दानुवर्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रेसर, सोमयुक्त स्त्री तत्पश्चात्गामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टिएं, जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है, एवं स्त्री की गौणता।

अब उस दृष्टि से विचार कीजिए, जिस से स्वस्वरूप से अबला होते हुए भी स्त्रीसमाज ने उपास्यदेवता का आसन प्राप्त किया है। अग्नि बलवान् है, इस में भी कोई सन्देह नहीं। सोम अबल है, यह भी निर्विवाद है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है, यह भी मान लिया। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें विदित होगा कि, जिस सोम को हम "अबल" कहते हैं, वह अनन्तर अबाह्य बलघन है। एवं जिस अग्नि को हम बलवान् कहते हैं, वह अनन्तर अबाह्य (बाहर भीतर सब ओर से) निर्बल है। निर्बल को बलवान् कहना, बलघन को अबल कहना, एक वैसा ही आश्चर्य है, जैसे कि सामान्य मनुष्यों का स्त्री को पुरुष कहना, एवं पुरुष को स्त्री कहना।

बल की परिभाषा है-संकोच, निर्बल की परिभाषा है-विकास। एक स्थान पर प्रतिष्ठित न रहकर इधर उधर फिसल पड़ना ही तो विकास है, और इस अस्थिरभाव को ही तो निर्बल कहा जाता है। एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहना संकोच है। यही संकोच बल की साक्षात् प्रतिमा है। देखिए

न ! निर्बल मनुष्य हाथ फैला देता है. उधर बलवान् मनुष्य सदा बद्धमुष्टि रहता है। ढीली धोती, ढीली कमर, हाथ खुले हुए, ये सब धर्म्म निर्बलता के ही द्योतक हैं। वीर बलवान् योद्धाओं की कमर कसी रहती है। मुट्ठी बांध कर वे प्रहार के लिए सन्नद्ध रहते हैं। शरीरपर्व यदि संकुचित हैं, चुस्त हैं, तो शरीर सबल है, श्लथ शरीर निर्बल है। संयत वाणी सबल है, स्खलित वाणी निर्बल है। इन्हीं कुछ एक निर्दशनों से यह माना जा सकता है कि, संकोच बल की परिभाषा है, एवं विकास निर्बल की परिभाषा है।

अग्नि विकासधर्म्मा है, सोम संसोचधर्म्मा है। और इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, अग्नि निर्बल है, सोम बलघन है। अब बतलाइए ! अग्नि-प्रधान पुरुष, सोमप्रधाना स्त्री दोनों में किसका आसन ऊंचा रहा। यदि ऐसा है, तो स्त्री को अबला क्यों कहा गया ? उत्तर "असत्" शब्द है। प्राण सत् है, परन्तु "सामान्ये सामान्याभावः" इस परिभाषा के अनुसार प्राण में प्राण नहीं रहता, अतएव सद्घन प्राण को "असत्" कह दिया जाता है— (देखिऐ शत० ६।१।१।१।)

सोम बलघन है। बल स्वयं बलवान् कैसे हो सकता है। जिस में बल रहता है, वह बलवान् होता है। इसी लिए बलघन सोम को "अबल" कहा गया है। बलघनात्मक इस अबल सोम को लेकर ही विकासधर्म्मा अग्नि बलवान् बनने में समर्थ हुआ है। जिस दिन बलाभिमानी अग्नि से बलात्मक सोम का आत्यन्तिक निष्काशन होजाता है, साथ ही में सोमागमन अवरुद्ध होजाता है, उसी क्षण अग्नि अपने शिवभाव को छोड़ता हुआ विशुद्ध रुद्ररूप में परिणत होकर उत्क्रान्त होजाता है।

पाठक प्रश्न करेंगे, प्रश्न था स्त्रीस्वातन्त्र्य का, और यह शिव-रुद्र-

भाव बीच म ही कहां से आकूदा ?। उत्तर में उनके सामने शिव-शक्ति का तात्त्विक स्वरूप ही रखना पड़ेगा। "अग्निर्वा रुद्रः" (शत० ५ ३।१०।) के अनुसार अग्नितत्त्व को ही रुद्र माना गया है। साथ ही में यह भी विज्ञान-सिद्ध विषय है कि, विश्वसंहार के एकमात्र अधिष्ठाता रुद्रदेवता* ही हैं। ये रुद्र जबतक शक्ति के साथ समागम नहीं करते, तब तक रोते रहते हैं। इसी आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र शब्द का "सोऽरोदीत, तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" (वह रोया, यही रुद्र का रुद्रत्व है, अर्थात रोने से ही उस का नाम रुद्र हुआ है–"देखिए शत० ६।१।३।११) यह निर्वचन हुआ है।

रुद्र रोया क्यों ? इस का बड़ा ही सुन्दर उत्तर देते हुए श्रुतिने कहा है कि, रुद्र अग्निमूर्त्ति था। अग्नि स्वभाव से ही अन्नाद (अन्न खाने वाला) होता है। जब तक इसे अन्न मिलता रहता है, तब तक तो इस का स्वरूप सुरक्षित रहता है। परन्तु अन्नावरोध पर स्वरूपनाश की आशङ्का से वह रोने लगता है। माता के गर्भ में ९ मास तक प्रतिष्ठित रहने वाला चित्या-ग्निपिण्डरूप शिशु नहीं रोता। क्योंकि उस अवस्था में उसे मातृनाल द्वारा अन्नरस मिलता रहता है। परन्तु नियत अवधि के अनन्तर एवया मरुत् के धक्के से गर्भाशय से बाहर निकल कर भूमिष्ठ होते ही बालक रोने लगता है। सम्पूर्ण इन्द्रियदेवता कांप उठते हैं। वे अपनी चेष्टारूप कृति से माता आदि को अन्नाहुति के लिए बाध्य करते हैं। शिशुमुख में गुड़ आदि के रस का सिञ्चन होता है। रुद्रदेवता शान्त हो जाते हैं। (देखिए-शत० ६।१।१-१०)।

* रुद्रविभूति का विशद विवेचन देखिए-शत०वि०भा०१वर्ष३५५ से ३६१ पर्यन्त।

यही अवस्था आधिदैविक रुद्र को समझिए। आधिदैविक रुद्र स्वयं तो रोए ही, परन्तु इन अश्रुओं से उन्होंने एक ऐसी भयानक वस्तु उत्पन्न करदी, जिसके चक्र में पड़ जाने से बड़े बड़े धीर पुरुष भी रो पड़ते हैं, रोते रहते हैं, मारे मारे फिरते हैं। शान्ति नहीं मिलती। वह वस्तु है– "रजत"–(चांदी-रुपय्या-पैसा)। वैदिकविज्ञानसिद्धान्तानुसार रुद्राग्नि की द्रुत अवस्था से ही चांदी उत्पन्न हुई है। चांदी रुद्रदेवता के साक्षात् अश्रु हैं। इसी लिए बर्हि में रजतदक्षिणा देने का निषेध हुआ है। रुद्राश्रुरूप रजतलक्षण इन धातुखण्डोंनें किसे नहीं रुलाया ? यह स्पष्ट है। हां तो यह सिद्ध होगया कि, रुद्रदेवता साक्षात् अग्नि हैं। एवं इनके इस रोदन को दूर करने का एकमात्र उपाय है, इन्हें सोमाहुति प्रदान करना। सोमाहुति से रुद्र का घोरभाव विलीन हो जाता है, शिवातनू का उदय हो जाता है। सोमसहकार से रुद्र अपनी रुद्रता छोड़ते हुए शिवस्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

मान लीजिए रुद्र को सोमाहुति न मिले, तो क्या परिणाम होगा ? परिणाम होगा यह कि, रोते रोते रुद्राग्नि अपना स्वरूप तो खो बैठेंगे, और बन जायंगे विशुद्ध सोम। अग्नि की उत्क्रान्ति चरम सीमा पर पहुंच कर सोमरूप में परिणत होजाती है। अग्नि का प्रधानस्थान केन्द्र है। केन्द्र से चारों ओर अग्नि विशकलित होता रहता है। जब तक सोमाहुति होती रहती है, तब तक तो यह विशकलन अग्नि के मूलरूप पर कोई अघात नहीं कर पाता। परन्तु आहुति बंद होजाने से, विशकलन की चरमावस्था में पहुंचते ही प्रतिष्ठा उखड़ जायगी। फैलते फैलते फैलाव की चरम सीमा पर पहुंचते ही अग्नि का अग्नित्त्व नष्ट होजायगा, सत्वभाव विलीन होजायगा, रह जायगा

ऋतरूप सोमभाव। पानी सोम की ही तो अवस्थान्तर है। और अग्नि ही तो विकास की चरम सीमा पर पहुंच कर पानी (सोम) बनता है— "अग्नेरापः" ।

यदि कोई मनुष्य रोता रहेगा, तो रोते रोते उसका सम्पूर्ण शारीराग्नि पानी बन कर बह जायगा। इधर जब अग्नि निःशेष होजायगा, तो शरीर भी ठंढा हो जायगा। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि, अग्नि अन्नाहुति के अवरोध से स्वयं अन्न (सोम) बन जाता है। दूसरी दृष्टि से देखिए। कोई मनुष्य भूखा है। यदि अन्नागमन बन्द हो जायगा, तो जो शारीराग्नि अबतक अन्नाद था, वही अन्न बन जायगा। प्राणाग्नि उत्क्रान्त हो जायगा। शिव शवान्न बन जायगा, और यह अन्न उस श्मशानाग्नि (क्रव्यादाग्नि) की तृप्ति का कारण बनेगा। तत्त्वतः अग्नि की अन्तिम अवस्था (सोम न मिलने पर) सोम ही होजाती है, यह निश्चित है। बलघन सोम को गर्भ में लेता हुआ बलशून्य जो अग्नि बलवान् बनता है, भोक्ता बनता है, वही बलघन सोम के अवरोध से स्वयं बलघन बनता हुआ दूसरे बलवानों का अन्न बन जाता है। भोक्ता भोग्य बन जाता है, शासक शासित बन जाता है।

उपर्युक्त रुद्राग्निविवेचनका निष्कर्ष यह निकला कि, अग्नि की बलवत्ता सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है। सोम बलतत्त्व है, बलघन है। इसे लेकर ही अग्निमूर्त्ति रुद्र साम्बसदाशिव बने हुए हैं। चूंकि पुरुष में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, अतएव पुरुषमात्र को हम "शिव" कह सकते हैं। उधर स्त्री में शक्तिघन सोमतत्त्व प्रधान है, अतएव स्त्रीमात्र को हम "शक्ति" कह सकते हैं। शिवशक्ति के इन व्यापक अवतारों को लक्ष्य में रखकर ही हमनें रुद्र—शिव भावों को प्रासङ्गिक माना है।

बाह्यदृष्टि को छोड़ कर पहिले अन्तर्दृष्टि से शिव–शक्ति का समन्वय कीजिए। पुरुष शिव क्यों है ? इस का उत्तर है–"सोम"। पुरुष आग्नेय अवश्य है, परन्तु इस की प्रतिष्ठा सोम ही है। भुक्तान्न की सप्तम अवस्थारूप "शुक्र" (रेत–वीर्य्य–धातु) साक्षात् सोम है। और सर्वसिद्धान्तानुसार यह सौम्यशुक्र ही पुरुष का अन्तरात्मा है। पुरुष का भौतिक दृश्य शरीर आग्नेय है, अन्तर्जगत्रूप शुक्र सौम्य है। शुक्रक्षय पुरुषनाश का कारण है, शुक्ररक्षा स्थिति का कारण है। इसी आधार पर श्रुति का— "ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इस बलघन सौम्य शुक्र से पुरुष बलवान् बना रहता है।

हां एक रहस्य और। शुक्र सोम है, सोम बलघन बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार स्वयं बलप्रयोग में असमर्थ है। अतएव इस बलघन को अबल, किंवा निर्बल कहा जाता है। पुरुषजाति का यह दुर्भाग्य है कि, यही अबलसोम (शुक्र) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अन्तरात्मा है। यही कारण है कि, पुरुष का बाह्यजगत् (आग्नेय शरीर) जहां आक्रमण का अनुयायी रहता है, वहां इसका अन्तर्जगत् उतना ही शिथिल रहता है। शरीर बलवान् (आग्नेय), आत्मा निर्बल (सौम्य), यही तात्पर्य्य है। शुक्र स्वयं निर्बल, इसी का रूपान्तर मन, इसी से संकल्प का उदय। फलतः पुरुष यदि विशेष साधनों द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है, तो अधिकांश में इसके संकल्प मिथ्या होजाते हैं। सचमुच दिवंगत श्रद्धेय श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंस की शक्त्युपासना वर्त्तमानयुग के लिए तो अवश्य ही एक शुभ, एवं आवश्यक सन्देह माना जायगा।

जब रहस्यभेद ही होने लगा, तो एक रहस्य बाकी क्यों छोड़ा

जाय। सम्भव है, पुरुष पुरुष के सामुख्य में अपने संकल्प में सफल हो सके। परन्तु सौम्यात्मापुरुष को इस आग्नेय शक्ति (स्त्री) के साम्मुख्य में तो और भी अधिक दुर्दशा का अनुभव करना पड़ता है। स्त्री सौम्या है, संकल्प भी शुक्रानुबन्धी मन से सम्बन्ध रखता हुआ सौम्य है। "नीम और गिलोय चढ़ी" चरितार्थ होजाता है। बात है सर्वथा स्पष्ट, सर्वानुभूत, फिर अधिक भण्डाफोड़ क्यों किया जाय।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि–पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीर-पिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अग्नि चूंकि वृषा होने से पुरुष है, सोम योषा होने से स्त्री है, इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही में यह भी कहलीजिए कि जिन्हें हम पुरुष कहते हैं, वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्तःप्रतिष्ठारूप शुक्रसोम की दृष्टि से, आत्मदृष्टि से स्त्रिएं हैं। "स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः" * (ऋक्सं १।१६४।१६।)यह श्रुति इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुति का तात्पर्य यही है कि, संसार में जितने भी पुरुष हैं, वे अग्निप्रधान बाह्यशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हों। परन्तु शुक्रप्रधान आत्मदृष्टि से तो उन्हें स्त्री ही कहना चाहिए। आत्मा-शरीर दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है, "तद्वादन्याय" से वह संस्था उसी के

* आत्मभावना, रश्मिभावना, शुक्रभावना, भेद से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की विशद व्याख्या ईशभाष्य में देखनी चाहिए। (ई०उ० वि०. द्वि० खं० ७८ से १०८ पर्यन्त)।

नाम से व्यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूत आत्मदृष्ट्या पुरुषसंस्था सौम्या है, तो इसे पुरुष न कह कर स्त्री ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य है कि, अज्ञमनुष्य इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। "पुरुष वास्तव में स्त्री है, स्त्री होते हुए इन्हें पुरुष कहा जाता है" इस रहस्य को आंख वाला जान सकता है, अन्धा नहीं—"पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः"।

लीजिए, अब आज से आप भी अपने आप को स्त्री समझना आरम्भ कर दीजिए और स्त्रियों को पुरुष, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। सचमुच श्रुति का उक्त सिद्धान्त पुरुष जाति को क्षुब्ध कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोभ शान्ति के लिए, पुरुष स्त्री होता हुआ भी पुरुष ही कहलावे, इस के लिए किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। निराश होने की कोई बात नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्बन्ध में आप से अधिक हमें चिन्ता है। दो उपाय ऐसे हैं, जिन से पुरुष संस्था का अग्नि तत्त्व प्रधान माना जा सकता है, एवं सोमतत्त्व गौण माना जा सकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है, यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-पानी। इति "अद्भ्यःपृथिवी" इस तैत्तिरीयसिद्धान्त के अनुसार पृथिवी स्थानीय शरीर पिण्ड का उपादान अप्तत्त्व ही है। "ऋते भूमिरियं श्रिता" भी यही सिद्ध कर रही है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप्तत्त्वरूप सोम है। इस दृष्टि का तात्पर्य यही है कि, शरीर पिण्ड में प्राण-भूत ये दो विभाग हैं। दृश्य भाग तो भूत है, भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूत भाग की प्रतिष्ठा आप्य (सौम्य) प्राण ही है।

जिस दिन शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्य प्राण निकल जाता है, शरीर नष्ट हो जाता है। प्राणात्मक इसी आप्य सोम को "पवित्र" "ब्रह्मणस्पति" "अम्भः" आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। दर्भ, गङ्गा, सुवर्ण, मृगचर्म आदि की पवित्रता इसी अम्भः पर अवलम्बित है। अम्भः से ही गाङ्गेय (गङ्गाजल) में दूषित कीटाणु नाश की शक्ति है। इसी अम्भः के अनुग्रह से दर्भ (कुशा) ससंग राहुप्राणजनित दोषभाव पदार्थों में संक्रान्त नहीं होता। इसी अम्भः के समावेश से सुवर्ण* स्पृष्ट जल रजस्वला स्त्री के स्पर्श दोष को हटाने में समर्थ होता है।

जब तक यह अम्भः पानी भूतशरीर की प्रतिष्ठा बना रहता है, तब तक शरीर में दूषित कीटाणुओं का समावेश नहीं होने पाता। जिस दिन यह निकल जाता है, शरीर सड़ने लगता है। तप्ततनू में ही इस अम्भः की सत्ता रहती है। अतप्ततनू (अग्निताप शून्य शवशरीर, मुर्दा) में यह नहीं रहता। पवित्र अम्भः ब्रह्मणस्पति के इसी स्वरूप धर्म्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

* पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभूर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समासत ॥

---

* राजपूताने में यह विज्ञान विधि आज तक प्रचलित है। यदि कोई बालक रजःस्वला स्त्री से स्पर्श कर लेता है तो सुवर्ण से जल का स्पर्श करा कर उस जल के छींटे दिए जाते हैं। प्रान्तीय भाषा में इन्हें ही–"सोनामानी का छांटा" (सुवर्ण स्पृष्ट जल के छींटे) कहा जाता है।

* सनातनधर्म्मियों के, विशेषतः रामानुजसम्प्रदाय भक्तों के हृदयों को कष्ट पहुंचाने का हमारा जरा भी अभिप्राय नहीं है। परन्तु कहना पड़ता है कि, सम्प्रदाया-

हां तो तात्पर्य्य कहने का यह हुआ कि आग्नेय भूत शरीर पिण्ड की प्रतिष्ठा "पवित्र" नामक यही आप्यप्राण है। जीवनदशा में भी असदाचरण, मिथ्याभाषण, अगम्यागमन, अभक्ष्याभक्ष्य, अस्पृश्यास्पृश्य आदि धर्म्मविरोधी कर्म्मों से इस पवित्र आप्यप्राण पर आघात होता है। इसी पतन दशा को लक्ष्य में रखकर लोक भाषा में–"अरे! इस का तो पानी उतर गया" यह किंवदन्ती प्रचलित है। सिद्ध है कि, पानी ही भूतशरीर की प्रतिष्ठा है।

दूसरा है—"सौम्यशुक्र"। शुक्र में भी भूत–प्राण ये दो विभाग हैं। शुक्र का भूत भाग तो अवश्य ही सौम्य है, परन्तु इसका प्रतिष्ठारूप प्राण आग्नेय है। यह एक सामान्य अनुगमन है कि, बाह्यधरातल यदि आग्नेय है तो, अन्तर्भाग सौम्य है। यदि बाह्यधरातल सौम्य है, तो अन्तर्भाग आग्नेय है। उदाहरण के लिए एक ज्वरार्त्त रोगी को ही लीजिए। ज्वर का तात्पर्य्य केवल यही है कि भीतर की गर्मी बाह्यशरीर में फैल जाती है, शरीर का आप्य भाग हृत्स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इसी से हृद्-

---

वेश में पड़कर हमने वेदमन्त्रों के साथ घोर अत्याचार किया है। उक्तमन्त्र से तप्त शंख-चक्र लगाने की अवैज्ञानिक, अवैदिक पद्धति प्रचलित है। अर्थ यह किया जाता है कि, जबतक शरीर को तप्त शंक व चक्र से दाग नहीं दिया जाता, तब तक शरीर अतप्त रहता है। एवं ऐसा अतप्ततनू कभी उत्तम गति नहीं प्राप्त कर सकता। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई सज्जन इस सम्बन्ध में श्रौतप्रमाणों के आधार पर, साथ ही में विज्ञानदृष्टि से भी यह सिद्ध करे कि, शरीरदाग देने से आत्मा उत्तम लोकों में चला जाता है। "अन्धेनैव ? नीयमाना यथान्धाः" दूसरी बात है, "यदेव विद्यया श्रद्धयोपनिषदा-करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" दूसरी बात है।

कम्प (हृदय का धूजना) होता है, सर्दी लगने लगती है। यही ज्वर की पूर्वावस्था है। बाहर गरम हो, भीतर ठंढा हो, इसी का नाम ज्वर है। मूलाग्नि का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता। केवल अभिभव है। इसी अभिभव से अग्नि मन्द होजाता है। तत्सन्निहित जाठराग्नि (अन्नपरिपाक करने वाला) भी मन्द होजाता है। ऐसी दशा में (ज्वरदशा में) यदि अन्नाहुति दी जायगी तो, मन्द अग्नि उसका परिपाक न कर सकेगा। फलतः वह अतप्त अन्न अग्निमात्रा को और भी अधिक निर्बल कर देगा। ज्वर का वेग अधिक बढ़ जायगा। ठीक इसके विपरीत यदि ज्वरावस्था में अन्नाहुति का सर्वथा अवरोध कर दिया जायगा तो, हृद्यमूलाग्नि की स्वाभाविक उत्तेजना से जाठराग्नि क्रमशः प्रवृद्ध हो जायगा। कालान्तर में वह प्रवृद्ध अग्नि उस वरुणरूप शीतसोम को बाहर फैंक देगा। ज्वर शान्त हो जायगा। इसी आधार पर आयुर्वेद ने उपवास (लंघन) को ज्वर की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा मानी है। बिना भूख अधिक खाजाने से जाठराग्नि उसका परिपाक नहीं कर सकता। फलतः सोम का वेग बढ जाता है, ज्वर होजाता है। इस प्रकार अजीर्ण ही ज्वर का उत्तेजक बनता है। ज्वर शान्त होने का चिन्ह है—"स्वेद"। पसीना निकला कि, ज्वर शान्त हुआ। जो पानी हृदय में चला गया था, आज वह शरीर पर आगया, शरीर की गर्मी हृदय में चली गई। शरीरताप मिटगया। इस निदर्शन से सिद्ध है कि, बाहर यदि गर्मी है तो भीतर सर्दी। बाहर यदि सर्दी है, तो भीतर गर्मी।

प्रकृतिमण्डल जब शीत रहता है, तो हमारा शरीर अग्निमय बना रहता है। सर्दी के दिनों में मुख से बाष्प निकला करते हैं। वहां जब

गर्म्मी रहती है, तो यहां सर्दी का साम्राज्य रहता है। गर्मी के दिनों में शरीर पसीनों से तर रहता है। देखिए न। जो ऊपर से बड़ा सौम्य (ठंढे मिजाज का) दिखलाई पड़ता है. उसका अन्तर्जगत महा कठोर (आग्नेय) रहता है। जो प्रत्यक्ष में क्रोधी है, वह भीतर से खोखला रहता है। रुद्रभगवान् बाहर से महाभयानक है, परन्तु भीतर से एकदम भोले बाबा। थोड़े से अनुनय विनय पर वरप्रदान कर डालना इनका स्वभाव है। उधर विष्णु भगवान् बाहर से महाशान्त, सौम्य। परन्तु भीतर से महा-कठोर! क्या मजाल, जो घोर परीक्षा के बिना इनसे कोई वरदान लेसके। विश्वास कीजिए। जो मनुष्य बातों में बड़ा मीठा है, देखने में भोला भाला है, वह महाभयानक है। जो प्रत्यक्ष में स्पष्टवादी है, देखने में क्रूर है, जिस के शब्द कटु लगते हैं, उसका अन्तर्जगत निर्म्मल है। यही खरे खोटे की अन्वर्थ कसौटी है।

इस प्राकृतिक कसौटी के आधार पर ही हमें मानना पड़ेगा कि, यदि शुक्र का बाह्यभूतभाग सौम्य है, तो इस का प्राणभाग अवश्य ही आग्नेय होगा। शुक्र का निर्म्माण हुआ है औषधिरूप अन्न से। शारीराग्नि में आहुत अन्न ही रसासृग्मांसादि की क्रमधारा से शुक्ररूप में परिणत हुआ है। ओषधिएं सौम्य हैं। परन्तु इन के गर्भ में अग्नि है। "ओषं—(उषदाहे, दाहस्तापः, तापोऽग्निः, तं धत्ते)–धत्ते" ही ओषधि शब्द का निर्वचन है। उसी ओषधि का रूपान्तर शुक्र भी अवश्य ही ऐसा होना चाहिए। भूतसौम्यशुक्र की प्रतिष्ठा यही गर्भीभूत आग्नेयप्राण है। शुक्रस्थित इसी आग्नेयप्राण को "वृषा" कहा जाता है। यही वृषा शुक्रवर्षण से (रेतःसेकसे) प्रजोत्पत्ति में समर्थ होता है। जिस पुरुष के शुक्र में वृषा

प्राण मूर्च्छित रहता है, वह प्रजोत्पत्ति में असमर्थ है । शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु वृषा है । वृषाशून्य पुरुष षण्ढ है, निर्वीर्य्य है। इसी आग्नेय वृषा के सम्बन्ध से पुरुष अपने को अवश्य ही (स्त्री न कह कर) पुरुष कह सकता है ।

पुरुष में शरीर-शुक्र दो विभाग हुए । दोनों क्रमशः आग्नेय सौम्य हैं। आगे जाकर पुनः प्रत्येक में आग्नेय-सौम्य दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्नितत्त्व रहा, उपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर, शारीरप्राण, शुक्र, शुक्रगतप्राण चारों क्रमशः आग्नेय, सौम्य, सौम्य, आग्नेय रहे। इधर अग्नि, उधर अग्नि, मध्य में दोनों सोम । अग्नि पुरुष, दोनों ओर पुरुष। बतलाइए, पुरुषसंस्था में अग्नितत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई, अथवा सोमतत्त्व की। इसी दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्नि-प्रधान मानते हुए "पुरुष" ही कहेंगे, और स्त्री (सोम) को इस के तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए परतन्त्र कहेंगे ।

१-पुरुषसंस्था
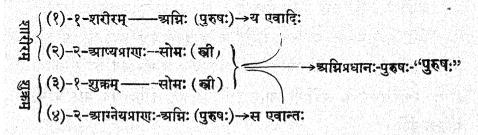
शुक्रदृष्टि से स्त्रीसंज्ञा का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से "पुरुष" बन जाता है । दूसरा उपाय है-सम्वत्सरमण्डल ।

सम्वत्सरमण्डल से ही तो पुरुष का निर्म्माण हुआ है । इसी लिए तो पुरुष को यज्ञ कहा जाता है, जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विशद निरूपण देखेंगे । दृश्य अर्द्धखगोलात्मक जिस अर्द्धसम्वत्सर से पुरुष का शरीर बनता है, उस अर्द्धसम्वत्सर के उत्तर भाग में सोम का, दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य बतलाया है । सम्वत्सर का मध्यवृत्त "विषुवद्" है । इस आधे विषुवत् से तो मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) का निर्म्माण हुआ है । विश्वत से उत्तर के सौम्य सम्वत्सर से शरीर के उत्तरपार्श्व (बायें भाग) का, दक्षिण के आग्नेय सम्वत्सर से दक्षिणपार्श्व (दहिने भाग) का निर्म्माण हुआ है ।

वर्त्तमान युग का (कल्पित) अहिंसावादी द्विजातिवर्ग घृणा अवश्य करेगा । परन्तु विज्ञान पथानुयायी की दृष्टि में ऐसी घृणा का कोई महत्व नहीं है । एक मनुष्यशव (मुर्दे) को अपने सामने रख लीजिए, और शिखान्तस्थान से आरम्भ कर मूलग्रन्थि तक ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए । दोनों दक्षिणोत्तर खण्डों के पर्वों का विशकलन कीजिए, एवं उन विशकलित पर्वों को पृथक् पृथक रखते जाइए । विशकलन प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के आकार, एवं भार की परस्पर तुलना कीजिए । आप को विदित होगा कि, दक्षिणखण्ड के सभी पर्व प्रायः उत्तरखण्ड के पर्वों से आकार में भी बड़े होंगे, एवं भार में भी अधिक होंगे ।

उत्तर खण्ड के उत्तर फुफ्फुस, प्लीहा (तिल्ली) वृक्क, क्लोम, हस्त, पाद आदि पर्वों की अपेक्षा दक्षिण खण्ड के दक्षिण फुफ्फुस, यकृत् (जिगर), वृक्क, क्लोम, हस्त, पाद आदि पर्वों को आप आकार भार दोनों में

प्रवृद्ध देखेंगे । ये प्रवृद्ध क्यों हैं? इन शरीरावयवों का ऐसा स्वरूप क्यों हुआ? इन सब प्रश्नों का सोपपत्तिक समाधान बड़े विस्तार से आगे के "यज्ञो वै पुरुषः" इत्यादि ब्राह्मण में किया जायगा । प्रकृत में केवल यही जानलेना पर्य्याप्त है कि, शरीर का दक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आकार-भार से उभयथा समृद्ध रहता है । कारण इस का यही है कि, दक्षिणभाग आग्नेय होने से बलवान् बनता हुआ प्रधान है, वामभाग सौम्य होने स निर्बल रहता हुआ गौण है ।

स्थूलपर्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग को ही आप अधिक शक्तिशाली पाएंगे । जो कर्म्मनिपुणता दक्षिण हाथ से सम्भव है, वह वाम से नहीं । उपनिषत का इन्द्र रूप "चाक्षुषपुरुष" भी दक्षिण चक्षु में ही रहता है । अतएव इसे "दक्षिणाक्षिपुरुष" भी कहा जाता है "योऽयंदक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" (बृ०आ० ५।५।४-) ।

अपनी दैनिक शरीर चेष्टाओं के अनुभव से दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रत्यक्ष कीजिए । गमन व्यापार में सब से पहिले दहिना पैर ही आगे बढ़ता है । आगे की गति में भी दहिने पैर की ही अग्रगामिता रहती है, चलकर अनुभव कर लीजिए । सीधे बैठकर अथवा खड़ होकर आप यह अनुभव करेगें कि, शिरो भाग प्रायः दक्षिण पार्श्व की ओर ही अवनत (झुका) रहता है । बाएं ओर मस्तक झुकाने में आप क्लेश का अनुभव करेंगे । चूंकि दक्षिण भाग भारी है, अतः उस ओर प्रवणता रहना स्वभाव सिद्ध है । बल प्रयोग के जितने भी कार्य्य हैं, सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है । इन्हीं सब कारणों को देखते हुए मानना पडगा कि पुरुष

का दक्षिणभागस्थ अग्निभाग शरीरसंस्था में बलवान् एवं प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है, सोमप्रधान है। साथ ही में यह दक्षिणभाग की अपेक्षा निर्बल, एवं गौण है। दक्षिणभाग जहां प्रसक्तरूप से विकसित रहता है, वहां वामभाग दक्षिणभाग में अन्वित रहता है। जब आप वक्ष-स्थल से सटाते हुए दोनो बाहू मिलाकर उन पर दृष्टि डालेंगे तो, आपको पता चलेगा कि दहिना बाहू वाम बाहू का आलम्बन बना हुआ है साथ ही में दहिने बाहू का हस्तरूप अग्रभाग बाहर निकल कर प्रसक्त बन रहा है, एवं वामबाहू का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहू के मूल में (कक्षाप्रदेश में) छुप रहा है। सीधे खड़े होने पर दहिने पैर के आधार पर बायां पैर अधिक समय तक अधर रह सकता है, बायें के आधार पर दक्षिण नहीं। कृष्णभावभङ्गी में दहिने पैर को ही आप आश्रयरूप से प्रतिष्ठित देखेंगे। वामनेत्र में ही चाक्षुष पुरुष की पत्नी प्रतिष्ठित रहती है, जोकि "इन्द्रपत्नी" नाम से प्रसिद्ध है—"य उ एव वामनीः, स उ एव भामनी" के अनुसार इस वामा इन्द्र पत्नी को भामनी भी कहा जाता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कहना पड़ेगा कि वामभागस्थ सोमभाग इस शरीर संस्था में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विकासधर्म्मा, सोम संकोचधर्म्मा बतलाया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विकासवृत्ति का अनुयायी है, वामभाग सोमप्रधानता से ही संकोचवृत्ति का अनुगामी देखा गया है। सीधे पैरों आगे बढ़ने में पहिले पूर्वकथनानुसार दक्षिण पैर आगे चलेगा। यदि आप उलटे पैरों लौटेंगे तो, इसी संकोचभाव के कारण पहिले बायां पैर पीछे हटेगा। फैंकने का काम दहिने

हाथ से, किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रहेगी वाम हाथ में।

सोम की दिक् उत्तर है, उत्तर ही ऊर्ध्व प्रदेश है। अग्नि का दिक् दक्षिण है, एवं दक्षिण ही अधः प्रदेश माना गया है। साथ ही में ऊर्ध्व-प्रदेश में रहने वाला सोम अधः प्रदेशस्थ अग्नि को आलम्बन बनाता हुआ ही प्रतिष्ठित रहता है। जब आप आलथीपालथी मारकर बैठेंगे, तो इस स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा। इस मुद्रा में दहिना पैर नीचे (आलम्बनरूप से) रहेगा। वाम पैर दहिने के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही में दक्षिण पैर का अग्रभाग प्रसक्त रहेगा, वाम पैर का अग्रभाग दक्षिण पैर में गर्भीभूत रहेगा।

जब कि पुरुष शरीर के दोनों भागों में अग्नि की प्रधानता है, और अग्नितत्त्व ही जब पुरुष है तो, स्त्री–पुरुष दोनों भावों के रहते हुए भी हम पुरुष को पुरुष न कहकर स्त्री ही कहेंगे। इस प्रकार शुक्राधारभूत उपक्रमस्थानीय आग्नेयप्राण की, भूताग्निरूप उपसंहारस्थानीय शरीर की प्रधानता से, दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि की प्रधानता से इन दोनों उपायों से पुरुष का पुरुषत्व सुरक्षित रह जाता है।

रुद्राग्नि से सम्बन्ध रखने वाले वृषातत्व का, एवं तत्प्रधान पुरुष वर्ग का विवेचन समाप्त हुआ। अब उस शक्तिघन सोमतत्व का अन्तर्दृष्टि से विचार कीजिए, जो कि योषातत्व का, एवं तत्प्रधान स्त्रीवर्ग का आलम्बन हुआ है। जो कि शक्तिघन अतएव अशक्तिशब्द वाच्य सोमतत्व रुद्र पुरुष को शिव बना डालता है।

पूर्व में (देखिए पृ० २०) यह कहा गया है कि, यदि रुद्राग्नि

में सोम की आहुति न हुई तो ये कालान्तर में सोमरूप स्त्रीभाव में परिणत होजायंगे। अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर सोम बन जायगा। ठीक यही परिस्थिति सोम सम्बन्ध में समझिए। सोम की स्वरूपरक्षा तभी तक है, जब तक कि उस का अग्नि के साथ सम्बन्ध है। जैसे अग्नि का प्रधान स्थान केन्द्र है, एवमेव सोम का व्याप्तिस्थान प्रधि (परिधि) भाग है। परिधि में रहने वाला संकोचधर्म्मा सोम क्रम क्रमशः केन्द्र की ओर आता रहता है। जबतक इसका अग्नि के साथ सम्बन्ध होता रहता है, तब तक तो इसका संकोच समतुलित रहता है। परन्तु अग्निविरह से यह संकोच की चरम सीमा पर पहुँच कर विस्फोटन का कारण बनता हुआ अग्निरूप में परिणत हो जाता है। जैसे विकास का अन्तिम परिणाम संकोच है, अग्नि का अन्तिम परिणाम सोम है, एवमेव संकोच का अन्तिम परिणाम विकास है, सोम का अन्तिम परिणाम अग्नि है।

अग्निऋतु (ग्रीष्मऋतु—गर्मी) विकास की चरम सीमा पर पहुंच कर जैसे सोमऋतु (वर्षा—और शीतर्त्तु) रूप में परिणत हो जाती है, एवमेव शीतर्त्त संकोच की चरमसीमा पर पहुंच कर ग्रीष्मर्त्तु का कारण बन जाती है। बलवान् अग्नि का आश्रय लेता हुआ बलघन जो सोम अपनी स्वरूप रक्षा में समर्थ रहता है, वही इस की उपेक्षा से स्वयं अग्नि बन कर रुद्र बन जाता है, रोने लगता है। भोग्य भोक्ता बन गया, अब भोग्य नहीं। रोदन आवश्यक। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शिवतत्त्व का विकास अग्निसोम के समन्वय पर निर्भर है। सोम की उपेक्षा कर अग्नि भी रोता रहेगा, अग्नि की उपेक्षा कर सोम भी रोता रहेगा। अग्नीसोमात्मक यज्ञ के उच्छिन्न होते ही रुद्र का अवतार होजायगा, संसार में प्रलय

का दृश्य उपस्थित हो जायगा, जिस का कि पूर्वरूप आज हमारे सामने है।

बलघन, अत एव अबल सोम का स्त्री से सम्बन्ध है। अदृश्य अर्द्धखगोलीय चान्द्रसोम ही स्त्री के स्वरूपसम्पादन का कारण बनता है, अतएव स्त्री को सौम्या कहा जाता है। इसी सोमभाव की प्रधानता से इसे "अबला" कहा जाता है। कहने को अबला अबला है, वास्तव में अबला शक्तिपुञ्ज है। कारण स्पष्ट है। स्त्री का शरीर सौम्य है, परन्तु आत्मा आग्नेय है। जैसे पुरुष की प्रतिष्ठा शुक्र है, वैसे स्त्री की प्रतिष्ठा "शोणित" माना गया है। रक्तवर्ण आग्नेय मङ्गलग्रह प्राणयुक्त शोणित साक्षात् अग्नि है, यही स्त्री का अन्तर्जगत् है। यही इस का आत्मा (जीवनीयरस) है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, स्त्री का भौतिक दृश्यशरीर सौम्य है, अन्तर्जगत्रूप शोणित आग्नेय है। शोणितक्षय स्त्री नाश का कारण है, शोणितरक्षा स्थिति का कारण है। इस बलवान् शोणिताग्नि से अबला स्त्री बलवती रहती है।

वही पूर्वरहस्य की बात (पृ० २१)। शोणित अग्नि है, अग्नि बलवान् बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार बलप्रयोग में समर्थ रहता है। अत एव इसे बलवान्, किंवा सबल ही कहा जायगा। यह भी पुरुषजाति का ही दुर्भाग्य मानना पड़ेगा कि, यही बलवान् अग्नि (शोणित) पूर्वकथनानुसार स्त्री का अन्तरात्मा बना हुआ है। यही कारण है कि, स्त्री का बाह्यजगत् (सौम्यशरीर) जहां आक्रमण में असमर्थ है, वहां इस का अन्तर्जगत् उतना ही उग्र रहता है। शरीर निर्बल (सौम्य), आत्मा सबल (आग्नेय), यही तात्पर्य्य है। शोणित स्वयं बलवान्, इसी (अग्नितत्त्व) का रूपान्तर मन, इसी में स्थिरभाव का उदय, तदनुगामी मन का संकल्प भी

स्थिर, फलतः स्त्री का संकल्प अधिकांश में सफल ही हो जाता है । इसी आधार पर इस मातृवंश के लिए—"बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा" यह कहा गया है। कौन कल्याणेप्सु बुद्धिरूपा इस मातृशक्ति की वन्दना न करेगा—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥ (सप्तशती)

सम्भव है, स्त्री स्त्री के साम्मुख्य में सजातीयानुबन्ध के कारण स्त्री का उग्ररूप शान्त रहे । परन्तु दुर्भाग्य का मारा यदि कोई पुरुष स्त्री की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा हो जायगा, अपने अविवेक से यदि वह इस के सौम्यशरीर के गर्भ में रहने वाले उग्र अग्नितत्त्व पर आघात करबैठेगा, तो नारी का स्वरूप इस के सर्वनाश का कारण बन जायगा। खैर तभी तक है, जब तक कि मातृशक्ति का अन्तर्जगत् जाग्रत नहीं होता। सौम्यात्मा-पुरुष अविवेकवश इस अग्नि को जाग्रत कर निश्चयरूप से इस में आहुत हो जायगा।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि, जब जब मनुष्य ने मूर्खतावश आर्य्य-नारी के अन्तस्तल पर आक्रमण करने की कुचेष्टा की है, तब तब ही उसे सर्वनाश का आस्वादन करना पड़ा है। ओर तो ओर, जगच्चक्र का संचालन करने वाले, त्रैलोक्यविजयी अग्नि, वायु, इन्द्र देवताओं तक को इसी हैमवती उमा के सामने परास्त होना पड़ा है। द्रौपदी के अपमान का प्रायश्चित्त आज तक नहीं हो सका है। और अतिशय खेद, महा कष्ट, महा लज्जा, महा अविवेक का विषय है कि, भारतीय पुरुषवर्ग आज पुनः उसी भूल का अनुगमन कर रहे हैं। कोई आश्चर्य्य नहीं, इसी भूलसुधार के लिए सुधारप्रेमियों की ओर से अवैज्ञानिक, अप्राकृतिक, अत एव रोगवर्द्धक

स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद का जन्म हुआ हो, और जिस के परिशोध के लिए लेखक को इस मूलवाद का आश्रय लेना पड़ा हो।

उक्त स्त्रीरूप विवेचन से स्पष्ट हुआ कि, स्त्री का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो सौम्य है. एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शोणित आग्नेय है। सोम योषा होने से स्त्री है, अग्नि वृषा होने से पुरुष है। चूँकि सोमरूप स्त्री शरीर की प्रतिष्ठा अग्निरूप शोणित है, अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष (अग्नि–शोणित) ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम "स्त्री" कहते हैं, वे सौम्य शरीर की दृष्टि से भले ही स्त्री हो, परन्तु अन्तःप्रतिष्ठारूप शोणिताग्नि की अपेक्षा से आत्मदृष्टि से तो इन्हें पुरुष ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आत्मदृष्ट्या स्त्री है। परन्तु लोग इन स्त्रियों को पुरुष कहते हैं। इस प्रकार "स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः" इत्यादि रूप से श्रुति ने पुरुषों को स्पष्ट शब्दों में स्त्री कहकर (पुरुष जाति का) अपमान करडाला। न्याय प्राप्त बात तो यह थी कि, जैसे वेदमहर्षि ने स्पष्ट शब्दों में पुरुष जाति का–"अरे! इन्हें पुरुष कौन कहता है, ये तो स्त्रिए हैं, स्त्रिए"। यह अपमान कर डाला, वैसे ही "पुरुषाः सन्तस्ते उ मे स्त्रिय आहुः" (इन पुरुषों को स्त्री कहा जाता है)। स्त्री के सम्बन्ध में भी यह कहते। परन्तु नहीं कहा। कहते भी क्यों, जब कि वे पुरुष के निर्बल आत्मा, स्त्री के सबल आत्मा से परिचित थे। पुरुष अपमान सहन कर सकता है, स्त्री नहीं। अस्तु.

जब कि प्रधानभूत आत्मदृष्टि से स्त्रीसंस्था आग्नेयी है। तो इसे

स्त्री न कह कर पुरुष ही कहा जायगा। हां तो आज से स्त्रीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आरम्भ कर द। अपना बाना किसे बुरा लगता है। यदि पुरुष जाति स्त्री की उपाधि से क्षुब्ध हो सकती है, और इसी क्षोभ शान्ति के लिए यदि वह (पूर्वप्रदर्शित दो) उपाय निकाल लेती है तो स्त्री जाति पुरुषोपाधि से क्यों शान्त रहने लगी। अवश्य ही इनकी स्वरूप रक्षा के लिए भी कोई न कोई उपाय निकालना ही पड़ेगा।

स्त्रियों का शरीर सौम्य, आत्मरूप शोणित आग्नेय यह तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रिए पुरुष कहला भी सकतीं हैं। परन्तु निरूपित पुरुष-संस्था की परिभाषा के अनुसार स्त्री के सौम्यशरीर, एवं आग्नेय शोणित दोनों में भूत-प्राण भेद से दो दो विभाग हैं। सौम्यद्रव्यशरीर भूतभाग है, इस का आधार प्राण आग्नेय है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि पुरुष शरीर अग्नि की कृपा से कर्कश होता हुआ भी हीन वीर्य्य रहता है। जरासी मोड़ तोड़ से अस्थिग्रन्थिएं (जोड़) खुल जाती है। कारण यह है कि इसका शरीर यद्यपि आग्नेय होनेसे सबल है, परन्तु इसका मूलप्राण आप्य (सौम्य) है। सोम निर्बल है। वह प्रबलाघात से पुरुष शरीर को नहीं बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर सोमानुग्रह से कोमल होता हुआ भी वीर्य्य-युक्त है। असाधारण व्याघातों को छोड़कर स्त्री शरीर साधारण व्याघातों की उपेक्षा कर देता है। कारण, इसका शरीर यद्यपि सौम्य होने से निर्बल है, किन्तु इसका मूलप्राण आग्नेय है। अग्नि बलवान् है। यह आघात से स्त्री शरीर को बचा लेता है। इस शरीर प्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री सौम्या बनती हुई स्त्री ही कहलाएगी।

शोणित का भूतभाग अवश्य आग्नेय है परन्तु शोणित गर्भ में रहने वाला प्राण सौम्य है। इसी सौम्यप्राण को "योषा" कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्भ में रहने वाले आग्नेय वृषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित के गर्भ में रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिथुन भाव होता है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष का दूषित शुक्र सन्तान का प्रतिबन्धक है, स्त्री का शोणित सन्तान का प्रतिबन्धक है। दोनों की (शुक्र शोणित की) शुद्धि से ही तद्गत वृषा योषा प्राण शुद्ध रहेंगे, एवं इन विशुद्ध रजोवीर्यों के मिथुन से ही प्रजातन्तु सुरक्षित रहेगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही "पुम्भ्रूण" है। आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही "स्त्रीभ्रूण" है। पुम्भ्रूण का पोषक शुक्र है। फलतः शुक्र जितना प्रवृद्ध होगा, पुम्भ्रूण उतना ही बलिष्ठ होगा। स्त्री भ्रूण का पोषक शोणित है। फलतः शोणित जितना प्रवृद्ध होगा, स्त्रीभ्रूण उतना ही बलिष्ठ होगा। पुम्भ्रूण पुरुष है, आग्नेय है। इस की समृद्धि एकमात्र शुक्र समृद्धि पर अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। स्त्री की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय ही पुरुष समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय का अन्यतम कारण है। उधर स्त्रीभ्रूण स्त्री है, सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित समृद्धि पर अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय पुरुष की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय पर ही अवलम्बित है। यही दाम्पत्यभाव का मौलिक रहस्य है। यही अर्द्धनारीश्वर का समृद्ध वैभव है, और यही वैभव है विश्वशान्ति की मूल प्रतिष्ठा।

जिस समय पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों का मिथुनभाव होता है, उस समय दोनों म संघर्ष चलता है। जो प्रबल होता है, वह दूसरे का निगरण कर उसे अपने रूप में परिणत कर डालता है। मान लीजिए, पुम्भ्रूण निर्बल है, स्त्रीभ्रूण सबल। तो स्त्रीभ्रूण (जो कि सौम्य होने से स्त्री सृष्टि का प्रवर्त्तक है) पुम्भ्रूण को आत्मसात् करलेता है। फलतः ऐसे स्त्रीभ्रूणप्रधान मिथुनभाव से कन्यासन्तति होती है। यदि पुम्भ्रूण सबल है तो ठीक इसके विपरीत उक्त प्रक्रिया से पुत्रसन्तति होती है। शुक्रप्रवृद्धि में पुम्भ्रूण की वृद्धि है, शोणितप्रवृद्धि म स्त्रीभ्रूण की वृद्धि है। इस का तात्पर्य्य यह हुआ कि वंशरक्षा की इच्छा रखने के नाते (जो कि इच्छा सर्वप्रिय ही) से ही पुरुष को स्त्री का समाधार करना चाहिए। स्त्री सौम्या है। उसके आशीर्वाद स शुक्रभाव समृद्ध रहेगा। शुक्रसमृद्धि पुम्भ्रूणसमृद्धि का कारण बनेगी, इच्छा सफल होगी। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही चिन्ह शेष रहते हैं। यही नपुंसक सृष्टि है। यदि दोनों में से एक भी भ्रूण मूर्च्छित है तो दाम्पत्यभाव व्यर्थ ही सिद्ध होता है—

१—आधिक्ये रेतसः पुंसः, कन्यास्यादर्त्तवाधिके ।
नपुंसकं तयोः साम्ये, यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (भावप्रकाश)।

२—पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्, पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ (मनुः ३।४९।)।

उक्त स्त्री स्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि, स्त्रीसंस्था के शरीर, आत्मा ये दोनों विभाग क्रमशः सौम्य, आग्नेय हैं। आगे जाकर

पुनः प्रत्येक के सौम्य, आग्नेय ये दो विभाग हुए। इस दृष्टि से स्त्री का उपक्रम भी अग्नितत्त्व रहा, उपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर शारीरप्राण-शोणित-शोणितगतप्राण क्रमशः सौम्य-आग्नेय-आग्नेय सौम्य रहे। इधर सोम, उधर सोम, मध्य में दोनों अग्नि। सोम स्त्री, दोनों ओर स्त्री। बतलाइए, स्त्री संस्था में सोम तत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई, अथवा अग्नितत्त्व की। इसी दृष्टि से हम स्त्री को अवश्य ही सोमप्रधान मानते हुए "स्त्री" ही कहेंगे, और पुरुष (अग्नि) को इस तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए परतन्त्र कहेंगे।

२—स्त्री संस्था

शरीरम् {
(१)-१-शरीरम्———सोमः (स्त्री)——→य एवादिः
(२)-२-आग्नेयप्राणः–अग्निः (पुरुषः)
}
शोणितम् {
(३)-१-शोणितम्——अग्निः (पुरुषः)
(४)-२-सौम्यप्राणः—सोमः (स्त्री)——→स एवान्तः
}

——→सोमप्रधान स्त्री—"स्त्री"

———

पुरुष का अपना तन्त्र अग्नि है, स्त्री का अपना तन्त्र सोम है। इस अपने अपने तन्त्र में प्रतिष्ठित पुरुष और स्त्री अपने अपने प्रातिस्विक स्वरूप से "स्वतन्त्र" हैं। इस दृष्टि से न पुरुष परतन्त्र है, न स्त्री परतन्त्र है। यदि परतन्त्र हैं भी तो दोनों। मध्यभाग आत्मा कहलाता है और यही मध्यभाग जीवन की प्रतिष्ठा माना गया है। आग्नेय पुरुष का मध्यभाग सोम-द्रवी है, सोमतत्त्व स्त्री है, यही आग्नेय पुरुष की प्रतिष्ठा है। अग्नि पुरुष की अपेक्षा यह सोमतन्त्र इसका अपना तन्त्र न होकर परतन्त्र है। पुरुष का अग्नितन्त्र इस परलक्षण सोमतन्त्र के आधार पर ही

प्रतिष्ठित है। अतः उपक्रमोपसंहारस्थानीय अग्नितन्त्र की अपेक्षा से जहां पुरुष को 'स्वतन्त्र' (स्वः—अग्निस्तन्त्रः स्वरूपो यस्य) कहा जायगा, वहां मध्य स्थानीय सोमतन्त्र की अपेक्षा से इसी पुरुष को "परतन्त्र" (परः—सोमस्तन्त्रः प्रतिष्ठा यस्य) भी कहा जायगा।

सौम्या स्त्री का मध्यभाग अग्निद्वयी है, अग्नितत्त्व पुरुष है, यही सौम्या स्त्री की प्रतिष्ठा है। सौम्या स्त्री की अपेक्षा यह अग्नितन्त्र इसका अपना तन्त्र न होकर पर—तन्त्र है। स्त्री का सोमतन्त्र इस परलक्ष अग्नितन्त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव उपक्रमोपसंहारस्थानीय सोमतन्त्र की अपेक्षा से जहां स्त्री को "स्वतन्त्र" (स्वः—सोमस्तन्त्रःस्वरूपोयस्य) कहा जायगा, वहां मध्यस्थानीय अग्नितन्त्र की अपेक्षा से इसी स्त्री को "परतन्त्र" (परः-अग्निस्तन्त्रः—प्रतिष्ठा यस्य) भी कहा जायगा। यहां तक जो आसन पुरुष का होगा, वही स्त्री का रहेगा। यदि पुरुष अपनी संस्था में स्वतन्त्र है तो स्त्री भी अपनी संस्था में स्वतन्त्र है। यदि स्त्री को मध्य-दृष्टि से परतन्त्र कहा जायगा, तो मध्यदृष्टि से पुरुष भी परतन्त्र ही कहा जायगा। अपने अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हुए दोनों वर्ग सनातन विश्व क सनातन "मित्र" ही माने जायंगे। दो मित्रों में कौन छोटा, कौन बड़ा। समानशील व्यसन ही मैत्री का उच्च आदर्श माना गया है और इसी आदर्श को भारतीय महर्षियों नें सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना है—'सहधर्म्मं चरताम्'"

बिना इस समानधर्म्माचरण के इन दोनों यात्रियों की यात्रा नीरस होजाती है, विनोदशून्य रहजाती है, यातयाम बनजाती है। यह भी निश्चित है कि इस स्व-तन्त्र की दृष्टि से "स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में कौन स्वतन्त्र है, कौन परतन्त्र ? इस प्रश्न का भी कोई महत्त्व नहीं है। क्यों कि

इस दृष्टि से दोनों को अपनी अपनी आग्नेयी, सौम्यासंस्था में रहते हुए अग्नि–सोमानुबन्धी धर्म्मों के अनुगमन करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वर्त्तमान युग का समानाधिकार यदि इस दृष्टि से स्त्रीसमानाधिकार का, किंवा स्त्रीस्वातन्त्र्य का पक्षपाती है तो, ऋषि उसका आदर करते हैं। कौन वैज्ञानिक यह न चाहेगा कि, पुरुष अपनी अग्निसंस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे, स्त्री अपनी सोमसंस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे। हां आग्नेय पुरुष का सौम्यस्त्रीसंस्था की ओर झुकना, एवं सौम्यास्त्री का आग्नेय पुरुषसंस्था की ओर झुकना अवश्य ही प्रत्येक वैज्ञानिक की दृष्टि में लाभ के स्थान में हानि का कारण सिद्ध होगा। यदि स्त्रीसमानाधिकार के पक्षपातियों के समानाधिकार का–"पुरुष अपनी अग्निसंस्था के आधार पर जो कुछ कर सकता है, करने का अधिकार रखता है, एक सौम्या स्त्री भी वह सब कुछ कर सकती है, करने का अधिकार रख सकती है। एवमेव स्त्री अपनी सोमसंस्था के आधार पर जो कुछ कर सकती है करने का अधिकार रखती है। एक आग्नेय पुरुष भी वह सब कुछ कर सकता है, करने का अधिकार रखता है" यह तात्पर्य्य है, तो कहना पड़ेगा कि, अभी वे प्रकृति के गुप्त रहस्यों से, स्त्री–पुरुष के वास्तविक स्वरूपज्ञान से उनकी प्राकृतिक योग्यता से सर्वथा अपरिचित ही हैं।

दोनों के जिन नियत अधिकारों को, अधिकारमूलक विषमताओं को प्रकृति ने अपने हाथ में रक्खा है, वे अधिकार तो त्रिकाल में भी इन समानाधिकार पक्षपातियों से नहीं बदले जासकते। वृषापुरुष ही रेतः सेक का अधिकार रखता है, वृषा पुरुष ही श्मश्रु का जन्मसिद्ध अधिकार रखता है, वृषापुरुष के शरीर का जैसा संघठन है, जैसी रचना है, जो ऐन्द्रियक

विभाग है, वही इस अधिकार, संघठन, रचना, विभाग का अन्यतम अधिकारी है। एवमेव योषा स्त्री का रेतोग्रहणाधिकार, श्मश्रु का जन्मतः अभाव-शरीर का संघठन, गर्भाधान, आदि जो वैय्यक्तिक अधिकार हैं, पुरुष जाति स्वप्न में भी इनकी कल्पना नहीं कर सकती।

दूसरी अधिकारमूला विषमता वह है, जिसका आविष्कार महर्षियों नें प्रकृतिमूलक इन दोनों के विषमस्वरूपों के आधार पर किया है। स्वतन्त्रप्रज्ञ मानवसमाज इस आविष्कृत विषमताओं की व्यवस्था में अवश्य ही हस्तक्षेप कर सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि, हस्तक्षेप से दोनों का उपकार न होकर अपकार ही होता है। समता, किंवा समानाधिकार जीवन-सत्तोपयिक आहारनिद्रादि कुछ एक परिगणित व्यवस्थाओं में हीं समान है। इस दृष्टि से स्त्री पुरुष तो क्या, ससार के प्राणिमात्र समान अधिका रखते हैं। परन्तु जिस मौलिक प्राकृतिकधर्म्म ने इन समानाधिकारियों को "अयं मनुष्यः—इयं स्त्री—अयं बालः—अयं पशुः" इत्यादिरूपा विषमताओं में, विशेषभावों में परिणत कर रक्खा है, उन विशेषधर्म्मों का एकमात्र अधिकार तत्तद्विशेष प्राणियों में हीं प्रतिष्ठित माना जायगा। और विशेषभाव-रक्षक इन विशेषधर्म्मों को समानाधिकारमर्य्यादा से युक्त करना उन समानाधिकारियों का उन्मत्तप्रलाप ही माना जायगा। साथ ही में इसी दृष्टि से प्रचलित वर्त्तमानयुग का स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद भी प्रलाप के अतिरिक्त और किसी पुरस्कार का पात्र न समझा जायगा।

जैसाकि अनुपद में बतलाया गया है, स्व—स्व संस्थानुगत स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य के सम्बन्ध में 'कौन स्वतन्त्र, कौन परतन्त्र है?' ? यह प्रश्न नहीं उठाया जासकता। इस प्रश्न का आरम्भ तब होता है, जब कि हम स्त्री

पुरुष के दाम्पत्यभाव का विचार करने के लिए-प्रस्तुत होते हैं। स्त्री-पुरुष परतन्त्र रहें, अथवा स्वतन्त्र, मित्र रहें, अथवा और कुछ, यह तटस्थ सम्बन्ध दाम्पत्यभाव से सम्बन्ध नहीं रखता।

साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि, बिना दाम्पत्यभाव के न स्त्री-सृष्टि का उदय सम्भव है, न पुरुष सृष्टि का। जबकि दाम्पत्यभाव ही स्त्री-पुरुषसृष्टि का मूल कारण है तो, हमें मानना पड़ेगा कि, स्त्री-पुरुष की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का वही निर्णय (विज्ञान सिद्ध, अतएव) मान्य निर्णय कहा जायगा, जोकि दाम्पत्य भाव का अनुगामी रहेगा। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, दाम्पत्यभावकाल में स्त्री-पुरुष दोनों में जो जिस तन्त्र का अनुगामी होगा, दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप उन प्रजात्मक स्त्री-पुरुषों का वही तन्त्र माना जायगा, फिर वह तन्त्र स्व हो, अथवा पर।

कर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता वही माना जायगा, जो कि कर्म्म प्रक्रिया में स्वतन्त्र* रहेगा। उस कर्त्ता का कर्म्म सफल हो, अथवा निष्फल, यह दूसरी बात है। प्रजोत्पत्ति एक फल है। इस फल का साधक कर्म्म पति-पत्नी का दाम्पत्यभाव (मिथुन भाव) है। दाम्पत्य कर्म्म ही प्रजोत्पत्ति का मूलकारण है। यद्यपि यह ठीक है कि, इस कर्म्म में दोनों का ही सहयोग अपेक्षित है। इसी लिए "दम्पती" शब्द से पति-पत्नी दोनों का ग्रहण होता भी है। तथापि इस कर्म्म का स्वतन्त्रकर्त्ता पति ही माना जा-

---

* "स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पा० अ० ....)-"क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् (दीक्षित)

यगा। दाम्पत्यकर्म्म की प्राथमिक प्रेरणा पुरुष की ओर से ही होती है।[A] "पुरुष एव स्त्रियमनुधावति, न स्त्रीपुरुषमनु" यह सार्वजनीन प्रत्यय है।

रेतो वर्षण से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहलाया है। कामजनित कम्पनात्मक क्षोभ ही रेत को स्वस्थान से च्युत करता है, अतएव इस रेतोवर्षक वृषा को "वृषाकपि"[B] भी कहा गया है। इस प्रथमप्रेरणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को ही इस दाम्पत्यकर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता कहेंगे। जब वृषा स्वतन्त्र है, तो योषा का पारतन्त्र्य स्वतः सिद्ध है। फलतः इस दाम्पत्य से उत्पन्न पुरुषसन्तान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी, एवं कन्यासन्तान परतन्त्र कही जायगी। एक दृष्टि।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। दो प्रतिद्वन्द्वियों में जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा, वही प्रधान माना जायगा, उसे ही स्वतन्त्र कहा जायगा, एवं विजय उसी का माना जायगा। पुरुष आग्नेय, स्त्री सौम्य। अन्नान्नादभाव के कारण दोनों प्रतिद्वन्द्वी। इन प्रतिद्वन्द्वियों के पूर्व परिभाषानुसार यद्यपि चार युग्म मानने चाहिए, परन्तु पुरुष शरीर का आधार-

---

A (१) पश्चाद्वै परीत्य वृषा (पुरुषः) योषामधि द्रवति (अनुधावति), तस्यां रेतः-सिञ्चति" (शत० २।४।४।२३।)।

(२) "तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति" शत० ३।२।१।२०।।

(३)-"तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता-आरकादिवैवाग्रऽसूयति।" (शत ३।२।१।१९)।

B. "तद्यद् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः" (गो.ब्रा..उ. ६। १ २।

भूत आप्य प्राण पुरुष शरीर में, एवं, स्त्री शरीर का आधारभूत आग्नेय प्राण स्त्रीशरीर में ही अन्तर्भूत मानलिया जाता है, अतः चार के स्थान में तीन हीं युग्म रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

पुरुष विवर्त्त	स्त्री विवर्त्त
१-आग्नेयशरीरम् (अग्निः-पुरुषः)	१- सौम्यंशरीरम् (सोम —स्त्री)-१-द्वन्द्व
२-आप्यप्राणः (सोमः-स्त्री)	२—आग्नेयप्राणः (अग्निः-पुरुषः)-२-द्वन्द्व
१-सौम्यंशुक्रम् (सोमः-स्त्री)	१—आग्नेयंशोणितम्-(अग्निः-पुरुषः)-३-द्वन्द्व
२-आग्नेयप्राणः (अग्नि -पुरुषः)	२—सौम्यप्राणः (सोमःस्त्री) – ४-द्वन्द्व

१— १-आग्नेयं पुरुषशरीरम् (पुरुषः)
२-सौम्यं स्त्री शरीरम् (स्त्री)
} प्रतिद्वन्द्विनौ (प्रथमद्वन्द्वः) ।

—————०—————

२— १-आप्यप्राणः पुरुषशरीरप्रतिष्ठा)-स्त्री
२-आग्नेयप्राणः (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा)-पुरुषः
} प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीयद्वन्द्वः) ।

—————०—————

३— १-सौम्यं शुक्रं (पुरुषप्रतिष्ठा)-स्त्री
२-आग्नेयंशोणितं(स्त्रीप्रतिष्ठा)-पुरुषः
} प्रतिद्वन्द्विनौ (तृतीयद्वन्द्वः) ।

—————०—————

४— १ आग्नेयप्राणः (वृषा)—पुरुषः) ⎫ प्रतिद्वन्द्विनौ (चतुर्थद्वन्द्वः)
२—सौम्यप्राणः (योषा)—स्त्री ⎭

———०———

१— १-आप्यप्राणगर्भितमाग्नेयं शरीरम्-(सोमाग्निमयं पुरुषशरीरम)पुरुषः ⎫ प्रतिद्वन्द्विनौ-
२-आग्नेयप्राणगर्भितं सौम्यं शरीरम्-(अग्नीषोममयं स्त्रीशरीरम्)-स्त्री ⎭ (१ द्वन्द्वः)

———०———

२— १—सौम्यं शुक्रम्—स्त्री ⎫ प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीययुग्मः)।
२—आग्नेयं शोणितम्-पुरुषः ⎭

———०———

३— १—आग्नेयो वृषा—पुरुषः ⎫ प्रतिद्वन्द्विनौ (तृतीययुग्मः)।
२—सौम्या योषा—स्त्री ⎭

———

पूर्वतालिका प्रदर्शित तीनों प्रतिद्वन्द्वियों में से कौनसा सर्वप्रथम आगे बढ़ता है ? आगे बढने वाले उस द्वन्द्व में किस की ओर से पहिले आक्रमण होता है ? एवं अन्त में किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ? पहिले यही देखिए। दाम्पत्यभावोपक्रम का मूलाधार दम्पती के स्थूलशरीर हैं। पुरुषशरीर आग्नेय है, स्त्रीशरीर सौम्य है। अग्नि सोम पर आक्रमण कर रहा है, इस का तात्पर्य हुआ पुरुषभाव स्त्रीभाव पर आक्रमण कर रहा है। इस आक्रमण में पुरुषभाव की प्रधानता है। इस प्रथमाक्रमण के अनन्तर पुरुष के शुक्र का स्त्री के शोणित में सेक होता है। सौम्यशुक्र आग्नेयशो-

णित पर आक्रमण कर रहा है। यानी स्त्रीतत्त्व पुरुषतत्त्व पर हमला कर रहा है। इस आक्रमण में स्त्रीभाव की प्रधानता है। शुक्रशोणितरूप इस दूसरे द्वन्द्वभाव के अनन्तर सौम्यशुक्र में रहने वाले आग्नेयप्राणमूर्त्ति "वृषा" का आग्नेयशोणित में रहने वाली सौम्यप्राणमयी "योषा" पर आक्रमण होता है। पुरुष भाव का स्त्रीभाव पर आक्रमण होता है। यही तीसरा, किंवा अन्तिम आक्रमण है। इस में पुरुषभाव की प्रधानता है, एवं यही अन्तिमाक्रमण त्रियुग्मात्मक दाम्पत्य कर्म्म को प्रजोत्पत्तिफलरूप से सफल बनाता है।

तीनों में से आदि में पुरुषाक्रमण की प्रधानता, अन्त में पुरुषा-क्रमण की प्रधानता, केवल मध्य में (दोनों ओर के पुरुषभावों से परतन्त्र बने हुए) स्त्री आक्रमण। इसी लिए हम पुरुष को स्वतन्त्र, कर्त्ता, प्रधान कहते हैं, एवं स्त्री को परतन्त्र, कर्त्तानुगामिनी, गौण कहते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोम संस्था में स्वतन्त्र है। परन्तु स्त्री का यह स्वातन्त्र्य तभी सुरक्षित रह सकेगा जब कि वह किसी परतन्त्र को अपना रक्षक बना लेगी। आर्यमहर्षि स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते। अपितु चाहते वे केवल यही हैं कि, उन की स्वतन्त्र संस्था सोम प्रधान होने से ऋत बनती हुई अनृत है, प्रतिष्ठा शून्य है। अतः उन्हें अपने इस अप्रतिष्ठित स्वातन्त्र्य का उपयोग किसी प्रतिष्ठित सत्य को आधार बना कर करना चाहिए। "न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति" वाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। धर्म्माचार्य्य नें—"स्त्री परतन्त्र है" यह कभी नहीं कहा है। कहते भी कैसे, जब कि पुरुषों की तरह स्वतन्त्रता स्त्रियों का भी जन्म सिद्ध अधिकार है। उक्त आदेश वचन का तात्पर्य्य

केवल इतना है कि–"स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है"। अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अन्य के आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए। यदि किसी गृहस्थ में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी तो, वह संस्था उच्छिन्न होजायगी। यक्षवेशधारी धर्म्मराज के–"कौनसा घर नष्ट होजाता है?" प्रश्न करने पर धर्म्मावतार युधिष्ठिर ने भी–"*स्त्री पुंवच्च तद्धिगेहं विनष्टम्" (महाभारत "जहां स्त्री पुरुष बन जाती है, वह घर नष्ट है") यह उत्तर देते हुए उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

सम्पूर्ण सम्वत्सर मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रतिरूप दम्पती का विचार किया जाता है, तब भी पुरुष की स्वतन्त्रता, एवं स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। सम्वत्सरीय खगोल के सौर दृश्य खगोल से (आधे खगोल से) पुरुष सृष्टि का, एवं चान्द्र अदृश्य खगोल से (आधे-खगोल से) स्त्री सृष्टि का विकास हुआ है, और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी संस्था की अपेक्षा से स्वतन्त्र भी माने जासकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्वत्सर स्वयं अग्निमूर्त्ति है। यद्यपि अग्निमूर्त्ति सम्वत्सर के

A. पश्चिमी दन्त कथाओं के अनुसार (जोकि भारतीय आख्यानों की प्रतिकृति हैं) "एडम" और "ईव"।

*अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः।

स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायकाः॥ [सूक्तिः]

जिस संस्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता, अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं, अथवा स्त्री संचालिका बन जाती है, अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं, वे नष्ट होजाती हैं"।

गर्भ में अग्निरूप पुरुष, एवं सोमरूप स्त्री दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, अतएव संवत्सर को अग्नि के साथ साथ सोममय भी कहा जासकता है, जैसा कि—"सम्वत्सरो वै सोमो राजा" (कौ० ७।१०)—"सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तै. ब्रा० १।६।८।२।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। तथापि सम्वत्सर का मौलिकरूप अग्नि हीं माना जायगा। इसी मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर "यजुःपुरुषः" कहा गया है। (देखिए शत.१०।५।२।१)। यही-"तस्य-वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" के अनुसार "वाक्" नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्त्ति वाक्प्रजापति एकाकी थे। यही आगे जाकर सृष्टि कामना से अग्निरूप पुरुष, सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं—"अर्द्धेन[A] पुरुषोऽभवत्, अर्धेन नारी" (मनुः)। स्वयं श्रुति ने भी-"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत" (शत० ६।१।१।७।) कहते हुए वागग्नि को ही आप्यसोम का उपादान माना है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर हम वाङ्मय, किंवा वाक्प्रधान संवत्सरप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इस को ही सर्वत्र व्याप्ति है। संवत्सर की अग्नि-प्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाती है—

१—"सर्वं वै संवत्सरः" (शत० ।१।६।१।१६)।

२—"सम्वत्सर एवाग्निः" (शत० १०।४।५।२।)।

३—"सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः" (शत० १।५।१।१६।)।

४—"वाक्सम्वत्सरः" ताण्ड्य० १०।१२।७।)।

५—"अग्निः सम्वत्सरः" ताण्ड्य० १७।१३।१७।)।

A इस निशान की टिप्पणी १७१ के पृष्ठ में देखिए।

संवत्सर वागग्निमूर्त्ति,इस का अपना प्रधान भाग ही आग्नेय पुरुष, एवं गौणभाग सौम्या स्त्री । इस दृष्टि से भी पुरुष ही स्वतन्त्र माना जायगा। अग्नि अन्नाद, सोम अन्न,इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधान्य,एवं स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है । अग्नि सत्य, सोम ऋत बनता हुआ अनृत, इस दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है। दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि बलवान्, उत्तरपार्श्वस्थ सोम निर्बल, इस दृष्टि से भी पुरुष का वीर्य्यशालित्व, स्त्री का अवीर्य्यत्व सिद्ध हो रहा है ।

इन्हीं सब प्रकृतिसिद्ध कारणों के आधार पर स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में परतन्त्रता, स्वतन्त्रता भावों का समावेश हुआ है । स्त्री को दायविभाग की अधिकारिणी क्यों नहीं माना गया, स्त्री को सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक व्यवहारों में पुरुष की तरह पूर्णस्वातन्त्र्य क्यों नहीं मिला, उन की बाल-युवा-वृद्धावस्थाओं में क्यों पिता-पति-पुत्रों की अर्गला लगाई गई ? इन सब प्रश्नों का एकमात्र समाधान अग्नि सोम की उक्त मौलिक व्याख्या ही है। स्मृतिशास्त्र को सामयिक, अतएव परिवर्त्तनशील मानने वाले सुधारकबन्धु समझते होंगे कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसे विधान केवल स्मृतिकारों की कल्पना है। अपरिवर्त्तनीय वेदशास्त्र का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हम उन्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि, ये सारे विधान श्रुतिसम्मत, अतएव सर्वथा वैज्ञानिक, एवं प्रामाणिक हैं। विस्तार भय से प्रकृत में वे सब श्रौतप्रमाण उद्धृत नहीं किए जासकते । उदाहरण रूप से कुछ एक निदर्शन ही सन्तोष के लिए पर्य्याप्त होंगे—

पुरुषसृष्टिः—आग्नेयी	॥ सम्वत्सरः ॥	स्त्रीसृष्टिः-सौम्या

पुरुषः	स्त्री
१-"पुरुषोऽग्निः"(श०१०।४।१।६।)।	१-"उत्तरत आयतना स्त्री"(श०८।४।४।११)।
२-"एतावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया" (तां०३।४।३।)।	२-"अनृतं स्त्री" (शत०१४।१।१।३१।)।
३-"यद्वै पुरुषवान् कर्म्म चिकीर्षति, शक्नोति वै तत् कर्त्तुम्" (श० ४।२।५।४।)।	३-"कर्म्म वा इन्द्रियं वीर्यं, तदेतदुत्सन्न—स्त्रीषु" श०१२।७।२।११।)।
४-"पुरुषः शतवीर्य्यः"(तै०ब्रा०३।८।१५।)।	४-"अवीर्य्या वै स्त्री" (श०२।५।२।३६।)।
५-"द्विप्रतिष्ठः पुरुषः" गो०पू०४।२४।)।	५-"पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा" (श०२६।-२।१४।)।

वृषा	योषा
१-"इन्द्रो वै वृषा" शत०१।४।१।२२।)।	१-"योषा वै सिनीवाली" [श० ६।५।१।१०]
२-"वृषा हिङ्कारः" (गो०पू०३।२३।)	२-"पुरन्धिर्योषा" (तै० ३।८।१३।२)।
३-"वृषा रेतः सिञ्चति"(शत०२।४।४।२३।)।	३-"योषा रेतोधत्ते" (श० ७।१।१।४४।)।
४-"दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेते" (शत०६।३।१।३०।)।	४-"योषा वै पत्नी" (श० १।३।१।१०।)।
५-"समग्निरिध्यते वृषा"(श०१।४।१।२६।)।	५-"न वै योषा कञ्चन हिनस्ति" (श० ६।३।१।३६।)

अग्निः	सोमः
१-"यो वै रुद्रः सोऽग्निः" (श०५।२।४।१३।)	१-"श्रीर्वै सोमः" (श० ४।१।३।६।)।
२-"वीर्य्यं वा अग्निः" (तै० १।७।२।२।)।	२-"पशवो हि सोमः" (शत० १२।७।२।२।)
३-"पुरुषो वा अग्निः	३-"भद्रा-तत् सोमः" [ऐ० ५।२५।]।
४-"वृषाग्निः (शत० २।१।१।४।)।	४-"योषा वा आपः" [सोमः][श.२।१।१।४]
५-"अग्निर्वै रेतोधा"(तै० १।७।२।३।)।	५-"तिरो अह्न्या हि सोमाः"(कौ०१८।५)।

अन्नादः

१-"अन्नादोऽग्निः"(शत०२।१।४।२८)।
२-"अग्निर्वै देवानामन्नादः"(तै०३।१।४।१)
३-"अग्निरन्नादो ऽन्नपतिः"(तै२।५।७।३)।
४-"अग्निमन्नादं वेद,अन्नादो हैव भवति" (श० २।२।४।१)।
५-'अन्नादा-तदग्निः" (ऐ० ५।२५)

अन्नम्

१-"अन्नंपशवः" (ऐ.५।१६।)।
२-"अन्नमुश्रीः" (श०८।६।२।१।)।
३-"श्रिया स्त्रियं (समदधात्)" (गो.पू.१।३४।)
४-"अन्नं वै सोमः" (शत.३।६।१।८।)।
५-"परममन्नाद्यं यत् सोमः" (कौ.१३।७)।

दक्षिणादिक्

१-"दक्षिणामारोह ग्रीष्म ऋतुः" (श.५।४।१।२४।)
२-"दक्षिणैव सर्वम्" (गो.पू.५।१५।)
३-"अग्निनादक्षिणाम्" (ऐ०१।७।)।
४"दक्षिणादिक्-इन्द्रोदेवता"(तै.३।११।५।१)
५-"दक्षिणांदिशिरुद्रादेवाः" (ऐ.८।१४।)

उत्तरादिक्

१-"उत्तरा ह वै सोमो राजा" (ऐ.१।८।)।
२-'एषा वै वरुणस्य दिक्"(तै०३।८।२०.४
३-'यदुत्तरतो वासि,सोमो राजा भूतो वासि" (जै०उ०३।२१।२।)।
४-"एषा उ वै शान्तादिक्" (तै०२।१।३।५।)
५ "एषा हि दिक् स्विष्टकृतः" (शा० २।३।१।२३।)।

उक्त कुछ एक वचनों को अवधान पूर्वक देखने से विज्ञ पाठक अनुभव करेंगे कि, स्त्री-और पुरुष के स्वरूपनिम्मार्ण में एक बहुत बड़ा अन्तर है। और वही अन्तर दोनों के प्राकृतिकस्वरूपों को एक धारा में प्रवाहित नहीं होने देता। अग्निप्रधान पुरुष जहां अपने स्वाभाविक विकास के कारण संकोच भाव से दूर रहता है, वहां सोमप्रधाना स्त्री का संकोच एक स्वाभाविकधर्म्म बन जाता है। संकोच को मूल में रखनें वाले लज्जा, शील आदि सद्गुण हीं स्त्री के स्वरूप रक्षक बनते हैं। अपनें इन्हीं स्वाभा-

विक गुणों के बल से स्त्री पुरुष की सामयिक उद्दण्डता का शमन किया करती है। समीकरणमूला शान्ति का मूल है—दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय। यदि पुरुष की तरह स्त्री भी आग्नेयी बन जायगी तो विस्फोटन हो जायगा। यदि पुरुष सौम्य, स्त्री आग्नेयी बन जायगी तो संस्था उच्छिन्न हो जायगी। अग्नि—सोम (उग्रता—शान्ति) का समन्वय ही दाम्पत्यजीवन की शान्ति, तुष्टि, पुष्टि का अन्यतम कारण है। स्त्री तभी अपने सौम्यरूप में प्रतिष्ठित रह सकती है, जब कि उस की रक्षा का भार पुरुषकन्धों पर रहता है। परतन्त्र को अपना रक्षक बनाकर ही स्त्री अपन स्वरूपभूत सौम्यतन्त्र को सुरक्षित रख सकती है।

जिस स्वतन्त्रता, परतन्त्रता के सम्बन्ध में इतना विस्तार किया गया, उसके सम्बन्ध में हमें अभी यह पता न लगा कि, आखिर स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है और उसकी परतन्त्रता क्या है?। उस परतन्त्रता का क्या स्वरूप है, जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है? शास्त्रकार किन अंशों में स्त्री को परतन्त्र देखना चाहते हैं?।

"स्त्री को सर्वथा अशिक्षित रक्खा जावे, पुरुष अपने किसी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक कार्य्य में स्त्री की सलाह न ले। स्त्री को घर से बाहर न निकलने दे। स्त्री सदा अपने मुख को अवगुण्ठन (घूंघट) से ढका रक्खे। पति, श्वसुर, देवर आदि की आज्ञाओं का पालन करने में कभी पीछे न हटे। यदि स्त्री इन अनुशासनों म कभी भूल कर दे, तो पुरुष बबरता पूर्वक उसे मारे, पीटे, जैसा चाहे, दण्ड दे" यदि स्त्रीपारतन्त्र्य का यही अर्थ है, अथवा शास्त्रीय पारतन्त्र्य का यही अर्थ समझा जारहा है तो, हमें कहना पड़ेगा, ऐसी परतन्त्रता का शास्त्र में गन्ध भी नहीं है।

साथ ही में—"स्त्री अपने कौटुम्बिकधर्म्म की, सन्तानपालन की, गृहकर्म्मों की सर्वथा उपेक्षा कर स्कूल कॉलेजों में पुरुषसमाज के साथ पश्चिमीशिक्षा की अनुगामिनी बनी रहे। सामाजिक, राजनैतिक कार्यों मे सलग्न रहे। पुरुष (पति) के अनुशासन का कोई मूल्य न समझे। देशाचार-कुलाचार-धर्म्माचार की सर्वथा उपेक्षा करती रहे, वेश-भूषा आदि में सर्वथा पश्चिमीदेशों का अनुगमन करे। लज्जा-शीलादि का एकान्ततः परित्याग कर निर्लज्ज बनकर पुरुष समाज में अट्टाट्टहास करती रहे। किसी के नियन्त्रण की अणुमात्र भी पर्वाह न करे।" यदि स्वतन्त्रता का यही अर्थ समझा जारहा है तो, हमें कहना पड़ेगा, ऐसी स्वतन्त्रता का भी गन्ध शास्त्र में नहीं है।

उक्त परतन्त्रता, एवं स्वतन्त्रता दोनों की व्यवहारशैली में यद्यपि भेद है, परन्तु परिणाम दृष्टि से दोनों समान हैं। उक्त परतन्त्रता में पुरुषों के द्वारा स्त्री पशुभाव में परिणत हो रही है, उक्त स्वतन्त्रता में स्त्री स्वयं अपनी इच्छा से पशु बन रही है। पशुभाव दृष्टि स दोनों समान हैं। अपनी इच्छा से जो काम किया जाता है, माननीय मन उस पर किसी अन्य का नियन्त्रण सहन नहीं कर सकता। परन्तु जो काम दूसरों की इच्छा से विवश होकर किया जाता है, उस में परेच्छा का नियन्त्रण सम्भव है। यही परिस्थिति यहां समझिए। परतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री पर पुरुषेच्छा का नियन्त्रण है। अनैच्छिक है। अतएव इस का अवरोध हो सकता है। परन्तु स्वतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री की अपनी इच्छा स्वातन्त्र्य है। यह ऐच्छिक है। अतएव इस का सुधार असम्भव नहीं, तो सम्भव भी नहीं है।

संस्कृति पर चढे हुए दूषित आवरण को हटाकर संस्कृति को बचा-

लेना सहज है परन्तु जिसने आवरण के साथ साथ अपनी मूल संस्कृति खोकर उसके स्थान में परसंस्कृति प्रतिष्ठित करली, वहां आप किस का सुधार करेंगे। पतित का उद्धार सम्भव है, पड़कर जो चकनाचूर होगया, वहां किस का सुधार, कैसा सुधार और कहां का सुधार। अपने को सुधारा जा सकता है, परन्तु जो अपना न रहकर सब तरह पराया बन गया, उसका सुधार असम्भव है। जब तक हम "हम" बने रहते हैं, तब तक हमारा सुधार सम्भव है। जब हम 'हम" ही न होंगे तो सुधार किस का होगा। इन्हीं कुछ एक तुलनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत परतन्त्रता, स्वतन्त्रताओं में परतन्त्रता चिकित्स्य है, परन्तु स्वतन्त्रता (बनाम महापरतन्त्रता) अचिकित्स्य (लाइलाज़) है।

यही अवस्था उन कुप्रथाओं की समझिए, जिन्हें जातिभोज, ओसरभोज, बालविवाह, वृद्धविवाह, कन्याविक्रय वरविक्रय अन्त्यजों के साथ होने वाला दुर्व्यवहार आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इस में कोई सन्देह नहीं, ये सभी रूढिवाद विशुद्ध रूढिवाद हैं। यह भी निर्विवाद है कि, इन सब से हम, हमारा समाज, हमारा राष्ट्र जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। अवश्य ही सुधारप्रेमी सुधारकों का तत्पथप्रदर्शक सुधारकनेताओं का यह आवश्यकतम कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वे इन सब के विरुद्ध आवाज उठावें। कौन बुद्धिमान इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करेगा। अवश्य ही हमारा स्त्रीसमाज सुशिक्षित होना चाहिए। उन के साथ होने वाले बर्बर व्यवहारों का नियन्त्रण करना चाहिए। बालविवाहादि का समाज सङ्गठन द्वारा अवरोध होना चाहिए। और हम समझते हैं, इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक समझदार व्यक्तियों नें इस सम्बन्ध में आ-

न्दोलन उठाया है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए इस सम्बन्ध में उन के सामने बड़े ही निम्न भाव से गीताचार्य की दो सूक्तिएं उद्धृत करना हम भी अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं—

१–न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत्॥

२–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्ये व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि॥

वर्त्तमान युग का भारतीय समाज अधिकांश में अशिक्षित है, यह तो सुधारवादी को भी मान्य है। साथ ही में उसे यह भी मानना ही पड़ेगा कि, उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे सुधार समाज में बुद्धिभेद उत्पन्न कर देते हैं तो वे सुधार के स्थान में बिगाड़ के कारण बन जाते हैं। रहना इसी समाज में, व्यवहार इसी समाज में, सुधार इसी समाज का फलतः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, जिस सुधार को लेकर हम आगे बढ़े हैं, देश-काल- पात्र की परिस्थिति के अनुकूल वह सुधार पनप सकेगा, अथवा नहीं। यदि सुधार लोकसंग्रह का आत्यन्तिक विरोधी है, बुद्धिभेद का अधिष्ठान है तो हमें अपने सुधार को–"विषकुम्भं पयोमुखं" बनाना पड़गा। शताब्दियों का कुसंस्कार एक हेला से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमानी हीं नहीं, महामूर्खता सिद्ध होगी। एक सुझाव।

बालविवाह बुरा, परन्तु इसके पहिले आपको यह अन्वेषण करना पड़ेगा कि बाल–युवा की परिभाषा क्या है। शीत ग्रीष्म प्रधान देशों के लिए इस सम्बन्ध में कौन परिभाषा विज्ञानसम्मत है। यदि आप स्वयं

दिव्यदृष्टि रखते हैं तो कुछ कहना ही नहीं है। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है, तो उस दशा में इन सब विवादों का निर्णय एकमात्र शब्द-प्रमाण के आधार पर ही करना होगा—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते"। दूसरा सुझाव। यदि आपका सुधारवाद दोनों सुझावों की उपेक्षा करके आगे बढ़ रहा है, तो हमें कहना पड़ेगा कि, ने यह सुधार हमारा है, न हमारे समाज का है, न राष्ट्र का। अपितु जैसे धर्म्म की ओट में धार्मिकनेता स्वार्थ साधन कर रहे हैं, वैस सुधारनेता सुधार की ओट में हमारी मूल संस्कृति को कुचलने का ही भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीजिए बिगड़ों, और सुधारों की।

१—स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित,

परन्तु कालेजों में पश्चिमीसहशिक्षा इस अशिक्षा से भी कहीं भयङ्कर.

२—पर्दे की प्रथा अशास्त्रीय,

परन्तु लज्जा-शीलशून्य अट्टाट्टहास इस से भी कहीं भयङ्कर.

३—बालविवाह बुरा,

किन्तु युवतिपरिणय इस से भी कहीं भयङ्कर.

४—जातिभोजन, ओसरभोजन (नुकता) सर्वथा अहितकर,

परन्तु प्रीतिभोज, गार्डनपार्टी, टी पार्टी आदि सर्वनाश क कारण.

५—अन्त्यजों के साथ दुर्व्यवहार अमानुषता,

परन्तु उनके सम्बन्ध में स्पृश्यास्पृश्य, खाद्याखाद्य का विवेक न रखना दोनों के सर्वनाश का कारण.

६—पतियों का असदाचरण सर्वथा निन्द्य, एवं दण्ड्य,

परन्तु "तलाक" प्रथा का अनुमोदन संस्कृति के मूलनाश का अन्यतमकारण.

७—रूढिवाद त्याज्य,

परन्तु रूढिवाद के साथ मूल संस्कृति का परित्याग सर्वनाश का कारण

८— सभी सुधार अपेक्षित,

किन्तु पश्चिमादर्श की नकल सर्वथा अनपेक्षित,

९—संक्षेपतः सुधार करना प्रत्येक सुधारक का उत्तम कर्म्म,

किन्तु लोकसंग्रह की उपेक्षा करते हुए बुद्धिभेद उत्पन्न करना जघन्य कर्म्म.

१०— शाब्दप्रमाणैकसार सुधार उपादेय,

किन्तु मानमकल्पनैकसार सुधार सर्वथा हेय,

"स्त्रियों को पूर्णशिक्षित होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि, नवमासपर्य्यन्त मातृगर्भस्थित बालक के भावी जीवन का अभ्युत्थान-पतन मातृस्वरूप के अभ्युत्थान पतन पर ही अवलम्बित है। पुरुष समाज की प्रतिष्ठा एकमात्र मातृशक्ति है। इस की स्वतन्त्रता, इस का आनन्द, इस का बुद्धिविकास ही पुरुष समाज की स्वतन्त्रता, आनन्दादि की मूल प्रतिष्ठा है। जिस घर में मातृजाति का अपमान होता है, वह घर श्मशान है। कुल का सर्वनाश है। भूति का उच्छेद है सम्पूर्ण कर्म्मकलाप निष्फल है।" ये हैं उन दकियानूसी पुराणपन्थी लकीर के फकीरों के उद्गार, जिन को बिना देखे सुने ही हमारे सुधारकबन्धु उन पर कलङ्क लगाने की भूल किया करते हैं।

जिस मनु को वे स्त्री पारतन्त्र्य का समर्थक बतलाते हैं, उन्हीं मनु के मातृ-शक्ति के प्रति कैसे आदर भाव हैं ! इस के लिए निम्नलिखित श्लोकों पर दृष्टि डालिए ।

१—पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः, पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
२—यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
३—शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥
४—जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥
५—तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
६—सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
७—स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

(म०: ३।५५-५६ ५७-५८-५९-६०-६२।)

८—प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ (मनुः ९।२६।)।
९—अपत्यं धर्म्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्चह ॥ (९।२८)।

जिसे हमारे सुधारक महाभागों नें स्त्री की परतन्त्रता मान रक्खा है, वह पारतन्त्र वास्तव में उनका स्वातन्त्र्य है । किसी व्यक्ति पर कटु-शासन करते हुए उसे ऐसे नियन्त्रण में रखना, जिस से कि उसका स्वाभाविक विकास दब जाय, वही नियन्त्रण परतन्त्रता कहलाएगा । ठीक इस के विपरीत जो नियन्त्रण मधुरशासन से युक्त है जिस नियन्त्रण से नियन्त्रितव्यक्ति के स्वरूप की रक्षा होती है, उसका आत्मविकास होता है, वह परतन्त्रता वास्तव में उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता होगी, और स्त्रियों के सम्बन्ध में मन्वादिधर्म्माचार्य्यों की ओर स्वतन्त्रतारूपा एसी परतन्त्रता का ही विधान हुआ है । जिसे कि हम परतन्त्रता न कह कर "रक्षा" कहेंगे । सौम्यबालक के प्रति पिता का जो नियन्त्रण है, सौम्यास्त्री के प्रति पिता-पति-पुत्र का वही रक्षात्मक नियन्त्रण है । बाहर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सनिक विशेष स्थलों के लिए हमारा नियन्त्रण रखता है तो इसे हम अपनी रक्षा कहेंगे, न कि परतन्त्रता । यही रक्षा हमारे स्वरूपस्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा बनेगी । तात्पर्य्य—स्त्री की रक्षा का भार आदि जिन व्यक्तियों पर डाला गया है, वे शासनबुद्धि से रक्षा नहीं करते अपितु सेवक बनकर ही इसको निभाते हैं । पद पद पर पूजाभाव, पूर्ण सत्कार, फिर मधुर नियन्त्रण ।

चमत्कार और देखिए । मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थे । वे जानते थे कि सौम्यअन्तर्जगत् रखने वाले पुरुष को तो फिर भी कटुशासन में रक्खा जासकता है । परन्तु वह सौम्या स्त्री, जिसका अन्तर्जगत् आग्नेय बनता हुआ उग्र है, उस पर कटुशासन की कथा दूर रही, मधुरशासन भी वैसा नहीं चल सकता, जिस में बलात्कार की भावना का

समावेश रहे । बलप्रयोग से इन्हें कभी नियन्त्रण में नहीं रक्खा जासकता। पूजनभावयुक्त रक्षाभाव, सम्पत्तिसंग्रहनियुक्ति, द्रव्य शरीरशुद्धि, धर्म्म-कार्य्याभिगमन आदि नतभावों को मध्यस्थ बनाकर इसके अन्तर्जगत् पर अधिकार जमाया जासकता है । देखिए !

१—न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥
२—अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्म्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ (मनुः ८।१०।११)।

समस्त भारतीय शास्त्र पर दृष्टि डाल जाइए । कहीं आपको स्त्री सम्बन्ध में "परतन्त्र" शब्द न मिलेगा । "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"-"अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः" "सर्वकर्म्मस्वस्वतन्त्रता" इत्यादि रूप से केवल यह आदेश मिलेगा कि, उनकी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए । अपनी स्वतन्त्रता को वे तभी सुरक्षित रख सकतीं हैं , जब कि किसी रक्षक को व अपनी प्रतिष्ठा बनालेती हैं । और अवश्य ही यह अंश स्त्री के सहज-सिद्ध सौम्यस्वभाव के कारण सर्वमान्य माना जायगा ।

साथ ही में जहां जहां स्त्रीपारतन्त्र्य का उल्लेख हुआ है, वहां वहां पुरुष को रक्षक घोषित किया गया है, न कि शासक । उदाहरण के लिए "पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने, रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः" स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः"- 'जायां रक्षन् हि रक्षति'-"रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः"-"यतन्ते रक्षितुं भार्याम्" इत्यादि कुछ एक वचन हीं पर्य्याप्त होंगे ।

"पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों के लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश दिए हैं" इस प्रकार का अनर्गल प्रलाप करने वाले उन सुधारक-

बन्धुओं को हम विश्वास दिलाते हैं कि, मनु भी आपके ही समान सुधार, किन्तु सच्चे सुधारक थे। स्त्री जाति के पतन का दोष आप जिस प्रकार पुरुष जाति के मत्थे मढते हैं, आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष को ही अपराधी ठहराया है। मनु नें स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करते हुए यह सिद्ध किया कि, जिस समाज में स्त्रीजाति का पतन देखो, विश्वास करो यह पुरुषजाति का अपराध है। जिस प्रकार नदी का मधुर जल क्षार समुद्र के संसर्ग से क्षार बन जाता है, एवमेव स्त्री के गुण गुणहीन पुरुष के संसर्ग से दूषित हो जाते हैं। ठीक इस के विपरीत पुरुष के सद्गुणों से दुर्गुणा स्त्री भी सुधर जाती है। अतएव स्त्री समाज का अभ्युत्थान चाहने वाले पुरुष समाज को पहिले अपना अभ्युत्थान करना चाहिए। बतलाइए, निम्नलिखित मनुवचन किसे अपराधी ठहरा रहे हैं? किस के साथ पक्षपात कर रहे हैं?

१—यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥
२—अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधम योनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
३—एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥
(मनुः ९।२२-२३-२४।)

प्रश्न हो सकता है कि, पूर्वप्रदर्शित अग्नीषोम विज्ञान के अनुसार जब सौम्या स्त्री "शक्ति"—रूपा है तो इसे पुरुषरक्षा की क्या आवश्यकता है? क्या शक्ति रूपा वह स्त्री अपने सहयोग से शक्तिशून्य पुरुष को

शक्तिमान् बना देती है, अपूर्ण पुरुष को अपने अद्धाकाश प्रदान से पूर्ण पुरुष बना देती है, वह स्वयं अपनीं रक्षा नहीं कर सकती ? प्रश्न साधारण होता हुआ भी कुतूहल वर्द्धक है।

कुतूहल वृद्धि का कारण है-हमारा बुद्धिवैभव। यदि इस सम्बन्ध में थोड़ी सी भी विचार शक्ति से काम लिया जाता, तो उक्त प्रश्न उपस्थित न होता। पहिले विज्ञान दृष्टि से समाधान कीजिए। जो तत्त्व जिस तत्त्व का घन होता है, वह स्वयं उस घनतत्त्व का उपयोग नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए मनः-प्राण-वाग्घन अव्ययात्मा को ही लीजिए मन ज्ञानशक्ति है, प्राण क्रियाशक्ति है, वाक् अर्थशक्ति है। चूंकि आत्माव्यय शक्तिघन है, अतएव यह स्वयं इसका उपयोग करने में असमर्थ है। शक्तिसञ्चार के लिए शक्ति के अतिरिक्त प्रदेश अपेक्षित है। जब वहां शक्ति के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, तो उसका प्रसार कहां हो। अतएव मनःप्राणवाङ्-मूर्त्ति, किंवा ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिमूर्त्ती अव्यय को अप्राण, अमना कहा जाता है—"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः"(मुण्डक)।

कामना मन का व्यापार अवश्य है, परन्तु मन से कामना का उदय तभी सम्भव है, जब कि वह हृदयरूप सीमाभाव को प्रतिष्ठा बनाले। उधर अव्यय मन और हृदय एक वस्तुतत्त्व है। अतएव मनोघन होते हुए भी उसे निष्काम, आप्तकाम, अकाम इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। स्वशक्ति का उपयोग स्व में (अपनें धरातल में) नहीं होसकता, यह निश्चित है। होसकता है, कब ? जब कि वह शक्ति किसी अन्य को प्रतिष्ठा बनाले। विश्वद्रष्टा चक्षु स्वयं अपना रूप तब तक देखने में असमर्थ है, जब तक कि

वह दर्पण को आधार न बनाले। क्या कोई वैद्य, अथवा डॉक्टर अपनी चिकित्सा में सफल होसकता है? दूसरों के मुकद्दमों की पैरवी करने वाला प्लीडर अपने केस में पैरवी नहीं कर सकता, नहीं करनी चाहिए।

बस ठीक यही परिस्थिति यहां समझिए। स्त्री शक्तिघना है। अतएव तब तक यह अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं कर सकती, जब तक कि किसी शक्तिमान को आश्रय नहीं बना लेती। शक्तिमान् के द्वारा ही यह शक्तितत्त्व विकसित होसकता है। इस से स्वयं का भी विकास होगा उधर अशक्त पुरुष भी शक्तिशाली बनता हुआ शिवभाव में परिणत हो जायगा। एक समाधान।

अब स्थूल दृष्टि से विचार कर लीजिए। मानसवृत्तियों के समीकरण के लिए यह आवश्यक है कि, कोश का उपयोग स्वयं कोशाधिष्ठाता न करे। जिसके पास जो वस्तु है, वह उसका उ. ेग न करे, यही तात्पर्य्य है। इसी नियम पर चलने से समाज में शान्ति रह सकती है। कहना न होगा कि, इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वर्णव्यवस्था व्यवस्थित हुइ है। ब्राह्मण ज्ञान का कोष है, क्षत्रिय पराक्रम का कोष है, वैश्य सम्पत्तिकोष है, शूद्र शिल्पकलानुगत सेवाभाव का कोष है। चारों वर्ण चारों के खजांची हैं। ब्राह्मण का ज्ञान समाज की शिक्षा में आहुत है, क्षत्रिय का पराक्रम समाज की रक्षा में आहुत है, वैश्य की सम्पत्ति समाज की भुक्ति में आहुत है, एवं शूद्र का सेवाबल समाज की तुष्टि में आहुत है। इन्हें अपनी स्वरूप रक्षा के लिए इस कोष से कुछ भी लेने का अधिकार नहीं है। लेंगे, अवश्य लेंगे, परन्तु आहुति का शेष भाग। इन्हें यज्ञोच्छिष्ट से ही स्वरूप रक्षा करने का अधिकार है–"यज्ञशिष्टाशिनः सन्त" एव ये निर्धूतकिल्विष

रह सकते हैं । "हम हमारे लिए नहीं, अपितु समाज के लिए हैं" यही सर्व-हुतयज्ञ समाजशान्ति, दूसरे शब्दों में समाजस्वातन्त्र्य की मूल प्रतिष्ठा है । पारस्परिक अनुशासन में ही स्वतन्त्र का बीज प्रतिष्ठित है ।

यदि हलवाई, दर्जी, कुम्भकार आदि अवान्तर खजांची अपनी सामग्री को अपना साक्षात् हव्य बनालें तो क्या परिणाम होगा? यह उन्हीं विचारशीलों से प्रष्टव्य है । स्त्री शक्तिघना है । उसे स्वयं साक्षातरूप से उसके उपयोग का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है । शक्तिघन को यह विवेक नहीं रहता कि, मेरी शक्ति कहां, कब, कितनी, क्यों, कैसे खर्च हो रही है। यही एक ऐसी विषमता थी, जिसे रोकने के लिए इसका एक मन्त्री बनाना आवश्यक समझा गया । वही मन्त्री, वही रक्षक, वही सैनिक, वही उपासक, वही पूजक आज विश्व में "पुरुष" नाम से बदनाम किया जारहा है। और इस बदनामी का प्रधान कारण तो है स्वयं पुरुष जाति ही, आंशिकरूप से वर्त्तमानयुग का सुधारक समाज भी।

लोग कहते हैं—पश्चिमी देशों नें इसीलिए उन्नति की है । वहां स्त्रियों को पूर्ण स्वातन्त्र्य है । सुस्वागतम् । आप और आपका भारतवष तो पश्चिम नहीं है । इसका नाम है-"पूर्वीदेश-कर्म्मभूमि—आर्य्यावर्त्त—भारतवर्ष" । क्या आप यह चाहते हैं कि पूर्व पश्चिम बनजाय, कर्म्म अकर्म्म बन जाय, आर्य्य अनार्य्य बन जाय, भारतवर्ष केतुमालवर्ष बनजाय । प्रकृति से पूछिए, देखें वह इस सम्बन्ध में क्या सम्मति देती है ।

प्रकृति कहती है कि. पूर्वीदेशों पें मैं इन्द्ररूप से प्रतिष्ठित रहती हूं, एवं पश्चिमीदेशों में मेरा वरुणरूप प्रधान है । इन्द्रदेवता अग्नि के अनुयायी हैं, वरुण देवता सोम के। अतएव अग्निप्रतिष्ठारूप दक्षिणादिक् इन्द्र की भी,

एवं सोमप्रतिष्ठारूप उत्तरादिक् वरुण की भी मान ली जाती है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

इन्द्रः —३	वरुणः —३
१-"अथ यत् पुरस्ताद्भासीन्द्रोराजा०" (जै० उ० ३।२१।२।)।	१- 'अथ यत् पश्चाद्भासि वरुणो राजा०"।
२-"अथैनं (इन्द्रं) प्राच्याम्" ऐ.८।१४।)।	२-"प्रतीची दिक् वरुणोऽधिपतिः" (अथ० ३।२७।३)।
३- 'प्राचीदिक्, अग्निर्देवता" (तै० ३।११।५।१।)।	३-"प्रतीचोदिक्, सोमोदेवता" (तै० ३।११।५।२)।
४-"दक्षिणादिक्, इन्द्रोदेवता" (तै० ३।११।५।१।)।	४-"उत्तरा ह वै सोमो राजा"(ऐ० १।८।)।
५-"वृषा वा इन्द्रः" (कौ० २०।३।)।	५- 'एषा वै व ए स्य दिक्" (तै० ३।८।२०।४।)।

*इन्द्राग्निरूपपुरुष पुरुषसृष्टि का, एवं वरुणसोमरूपास्त्री स्त्री-सृष्टि का आलम्बन बतलाया गया है। इन्द्राग्निप्रधान पूर्वदेश पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक हैं, एवं वरुण सोमप्रधान पश्चिमीदेश स्त्रीप्राधान्य के सूचक हैं। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनों देशों के आदर्शों को भिन्न माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा कि, हमारी दाम्पत्यव्यवस्था कभी उन के दाम्पत्यजीवन से समतुलित नहीं हो सकती।

* इस विषय का विशद विवेचन गीताभाष्य भूमिका प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

जाने दीजिए प्राकृतिक कारण को । जिन पश्चिमी देशों नें शक्तितत्त्व को अरक्षित कर दिया है, उन के लिए आज वही शक्तितत्त्व सर्वसंहार का उपक्रम बन चुका है, इस नग्नसत्य को कौन स्वीकार नहीं करेगा। आर्यनारी की शोभा तो इसी में है कि, वह अपने आप को स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा भाग पुरुष को समझे । उधर आर्य पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इन के सहयोग से ही करे। दोनों की सद्भावना ही हमारे देश का कल्याण कर सकती है ।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह भूल जाते हैं कि, हम रूढिवाद का जो सुधार करना चाहते हैं, वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है, अपितु पश्चिमी देशों का विशुद्ध अनुकरण मात्र है । और इस अनुकरण की तुलना में यह निःसंकोच कहा जासकता है कि, जो अनुकरण, जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूल नाश करने के लिए मुंह बाए खड़ी है, हानिकर एवं अशास्त्रीय पर्दे की प्रथा के विरुद्ध सुनाई पड़ने वाली जिन भीष्मप्रतिज्ञाओं की ओट में आर्यनारी को निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जा रहा है, दूषित जातिभोजों के सुधार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान जिन प्रीतिभोजों का समर्थन किया जारहा है, इन सब अकाण्ड ताण्डवों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता, हमारी दूषित प्रथाएं हीं अच्छी हैं । इस लिए कि उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रसक्तरूप से आक्रमण हो रहा है।

अस्तु जिस युग में धर्म्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधर्म्म प्रसार कर रही है, जहां 'नश्यन्ति बहुनायकाः" आभाणक सर्वात्मना चरिताथ होरहा है, वहां के सुधारकबन्धु यदि सुधार के नाम पर बिगाड़ का प्रसार करें, तो इस में उनका कोई दोष नहीं माना जासकता देशकाल ।

की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है, जिस शासन से हम शासित हैं, उसकी संस्कृति का प्रभाव हम पर न पड़े यह भी असम्भव है। इन सब बातों को लक्ष्य में रखते हुए पारस्परिक वैमनस्य का परित्याग कर देश के विद्वानों एवं सुधारनेताओं के सम्मिलित परामर्श से कोई ऐसा मध्यमपथ निकलना चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके, एवं साथ ही में पश्चिम-पूर्व के इस भयानक सघर्ष के मध्य में पड़ी हुई अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि धर्म्म, धर्म्मानुयायी, धर्म्मनेता, एवं समाज, तदनुयायी समाजनेता धर्म्म-सुधार प्रचार के नाते अधर्म्म-बिगाड़ ही कर रहे हैं। इन पङ्क्तियों के असमर्थ लेखक के पास अपनी क्षोभ शान्ति के लिए सिवाय इस के और क्या बच रहा है कि वह दयानिधि से प्रार्थना करे कि भगवन् !

येषां चेतसि मोह मत्सर-मद-भ्रान्तिः समुज्जृम्भते ।
तेऽप्येते दयया दयाघन विभो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥

———o———

उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध हो चुका है कि, आर्यावर्त्त के कारुणिक ऋषियों नें स्त्रीजाति के लिए जिन नियमों का विधान किया है, वे सब इस के अभ्युत्थान के कारण हैं। स्त्री की ऋतमयी, अतएव सत्यशून्या सौम्यावृत्ति को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनु नें यहां तक कह डाला है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ (मनुः २ २१५।)

"माता-बहन-दोहिती आदि के साथ भी निर्जन घर में नहीं बैठना चाहिए"-क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्पद है ? मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए। पर्दे के विरोध की ओट में आर्यनारी को उद्दामवासना-वासित पश्चिम के प्राङ्गण में ताण्डवनृत्य के लिए खड़ा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का मार्ग है ? खूब सोचिए ! ज्यों ज्यों आप विवक-बुद्धि से इस दुरूह प्रश्न का मनन करते जायँगे, त्यों त्यों आप की विवेकशालिनी बुद्धि चिरन्तनऋषियों के पुरातन सिद्धान्त की ओर आकर्षित होती जायगी।

हां तो प्रकृत में हमें उक्त महासन्दर्भ से बतलाना यही था कि स्त्री सौम्या है, ऋतभावापन्ना है। इस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही बन्धनसाधन में योग्य योक्त्र से पत्नी का सन्नहन किया जाता है। योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति" ।

अपिच—पत्नी का नाभि से नीचे का प्रदेश कई कारणों से अपवित्र माना गया है। नाभि से नीचे गर्भाशय में शोणित रहता है। इसी शोणित में शुक्राहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। ऋतुमती स्त्री के शोणित में तमोभाव के प्रवर्त्तक सूर्यविरोधी अत्रिप्राण की सत्ता रहती है। अतएव ऋतुमती को 'आत्रेयी' कहा जाता है। यह अत्रि आत्मा को मलिन करने वाला प्राण है। अत एव आत्रेयी के स्पर्श का धर्म्मशास्त्र ने सर्वथा निषेध किया है। यही पहिला अमेध्य भाव है। गर्भाशय में शुक्रशोणित के मिथुनभाव में कर्म्मभोक्ता भावनावासना से भावित वासित औपपातिक जीवात्मा प्रविष्ट होता है। पापमयी वासना ही जीव के गर्भाशय में प्रवेश का मुख्य कारण है। यही दूसरा अमेध्य भाव है। इन सब अमेध्यभावों से पत्नी का नाभि से

नीचे का प्रदेश अमेध्य माना गया है। अमेध्यभाव के समावेश से मेध्ययज्ञ सदोष बन जाता है। इधर केवल पत्नी का यज्ञ में योग ही नहीं होता। अपितु मन्त्र बोलते हुए इसे यज्ञाङ्गभूत आज्य का दर्शन करना पड़ता है। 'आज्य-पृष्ठ' विज्ञान के अनुसार (आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ) आधिदैविक प्राणदेवताओं का संगमन (ग्रन्थिबंधन) करवाने वाले आज्य नामक प्राण की प्रतिकृतिरूप यह आज्य सर्वथा मेध्य है। यदि अपने अमेध्य भाव का अवरोध न करती हुई यजमान पत्नी मेध्य आज्य का अवलोकन कर लेगी तो वास्तव में आज्य का मेध्य भाव नष्ट हो जायगा। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए (पत्नी के अमेध्यभाव का अवरोध करन के लिए) ही योक्त्रबन्धन किया जाता है। योक्त्रबन्धन की यही दूसरी उपपत्ति है ॥ १३ ॥

पत्नी के ऊपर ही योक्त्र बांधा जाता है। द्युलोकाग्नि में सोम की आहुति होने से श्रद्धा नाम से प्रसिद्ध चान्द्र पानी उत्पन्न होता है। पर्जन्याग्नि में श्रद्धा की आहुति होने से वृष्टि का जन्म होता है। पार्थिवाग्नि में वृष्टि की आहुति होने से कार्पासादि ओषधिएं उत्पन्न होतीं हैं। जिस कार्पास (कपास) से तन्तुवाय (जुलाहा) ताना बाना लगा कर वस्त्र तय्यार करता है वह वस्त्र ऊपर्युक्त पञ्चाग्निविद्या क्रम से वास्तव में ओषधिरूप है। पानी ही तो कपास बना है। कपास ही तो वस्त्ररूप में परिणत होता है। पानी में रहने वाला संवरण करने वाला प्राण 'वरुण' कहलाता है। ग्रन्थिबन्धन करना इस प्राण का स्वरूप धर्म्म है। आप जहां कहीं जैसा भी बन्धन देखते हैं—वहां सर्वत्र वरुणप्राण की सत्ता है। अतएव वरुण को पाश (बन्धन) का अधिष्ठाता माना जाता है। वरुणपाश सुप्रसिद्ध है। आपो-

मय होनें से ओषधिरूप वस्त्र वरुणदेवतामय है। इधर जिस योक्त्ररूप रज्जु (रस्सी) से संनहन किया जाता है। वह भी बन्धन की साधिका होनें से वरुण देवतामयी है। यदि वस्त्रों के ऊपर इस वारुणी रज्जु का सन्नहन होता है तो यह रज्जु (रज्जुगत वारुणप्राण) शारीराग्नि को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाती। वस्त्र सजातीय है। अतः उस पर वारुणी रज्जु का आक्रमण होता नहीं। पत्नी को इसी वरुणाघात से बचानें के लिए वस्त्रों के ऊपर ही योक्त्र बन्धन किया जाता है।

"अदित्यै रास्नासि" यह मन्त्र बोलते हुए संनहनकर्म्म किया जाता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य की ओर रहता है, दूसरे शब्दों में पृथिवी के जिस भाग पर सौर प्रकाशमय प्राणदेवता अविच्छिन्नरूप से आते रहते हैं, पृथिवी का वही अहर्भाग अदिति कहलाता है। यही अदिति पृथिवी प्राणदेवताओं को अपनें गर्भ में रखती हुई, दूसरे शब्दों में वसु-रुद्र-आदित्य अश्वनीकुमार इन ३३ सों प्राणदेवताओं का स्वरूप संपादन करती हुई जहां "अदितिर्माता" इत्यादि रूप से देवताओं की माता कहलाती है, वहां यही अदिति उक्त प्राणदेवताओं का भोग साधन बनती हुई प्रकृत ब्राह्मण में 'देवपत्नी' नाम से व्यवहृत हुई है। पदार्थविद्या में-पति-पत्नी-पुत्र-पिता-स्वसा-दुहिता-आदि सब व्यवहारों का परस्पर में सांकर्य्य है। पिता पुत्र बनजाता है। पत्नी माता बनजाती है, माता पत्नी बनजाती है। पुत्र पिता बनजाता है। पदार्थविद्या के इसी वैज्ञानिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है-

"स एष पिता-पुत्रः। यदेषोऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेःपिता। यदेतमग्निः समदधात्-तेनैतस्याग्निः पिता। यदेष देवानसृजत-तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाःसमदधुः-तैनैतस्य

देवाः पितरः। उभयं हैतद् भवति–पिता च पुत्रश्च"

(शत० ब्रा० ६ कां० १।२।२६।)। इति।

प्राणदेवता की समष्टि यज्ञ है। अदिति पृथिवी इस यज्ञप्रजापति रूप यजमान की पत्नी है। इधर चान्द्रगर्भित इस अदिति से ही स्त्री की उत्पत्ति होती है–जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। यह अदिति की प्रतिकृति है। साक्षात् अदिति है। अतः इस के लिए "हे रज्जु तुम अदिति के लिए रास्ना (मेखला-काञ्ची-कंडोरा-कणकती आदि नामों से लोक भाषा में प्रसिद्ध) हो" यह कहा गया है। जब तक रज्जु रज्जु है तब तक वह अवश्य ही वरुणभाव से आक्रान्त है। यद्यपि वस्त्रों के ऊपर बांधने से रज्जु का वरुणभाव एक प्रकार से शान्त हो जाता है, फिर भी परम्परया तो वरुण का आक्रमण प्राप्त हो ही जाता है। इसी विप्रतिपत्ति को मन्त्र भावना से सर्वथा दूर करने के लिए, दूसरे शब्दों में रज्जुगत वरुणभाव की सर्वथा निवृत्ति के लिए इस रज्जु में 'रास्ना' (मेखला) की भावना की जाती है यह रज्जु रज्जु नहीं, अपितु रास्ना है। स्त्री का आभूषण है। बंधन की अपेक्षा यह तो सौन्दर्य का साधन है–यही तात्पर्य है।१५।

यद्यपि रास्ना की भावना से योक्त्ररूपा रज्जु का वरुणभाव हट गया है, फिर भी यदि योक्त्र के दक्षिण–उत्तर–पाशाग्रों में ग्रन्थिबन्धन कर दिया जायगा (दोनों अग्र भागों में गांठ लगादी जायगी तो) पुनः यह योक्त्र वरुणभाव से युक्त हो जायगा। कारण पूर्व कथनानुसार ग्रन्थिरूप पाशबंधन के अधिष्ठाता वरुण ही है। अतः गांठ सर्वथा नहीं लगानी चाहिए।१६।

यदि गांठ नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र स्वस्थान में अवस्थित (रुका) कैसे रहेगा ? इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है-ऊर्ध्व भाग में पाशाग्र को खचित कर देना । जिस क्रम से ऊर्ध्व की ओर उद्गूहन किया जाता है—वह पद्धतिनिरूपण प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है "विष्णोर्वेष्पोऽसि" यह मन्त्र बोलते हुए ही योक्त्र का ऊर्ध्व उद्गूहन किया जाता है । पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्द्धभाग है, यह बतलाया जाचुका है । बिना पत्नी के यज्ञ सम्पन्न नहीं होता, अतः हम इस यजमानपत्नी को अवश्य ही विष्णुरूपयज्ञ की, किंवा यज्ञरूप विष्णु की स्वरूपसम्पादिका कह सकते हैं । इधर ऋतभावापन्ना पत्नी का योग योक्त्र बन्धन पर निर्भर है । योक्त्रबन्धनरूप ऊर्ध्व उद्गूहन का प्रधान साधन योक्त्र का दक्षिण पाशाग्र है—जैसा कि पद्धति में बतलाया जाचुका है । दक्षिण में अग्निसत्ता (ऋतुयज्ञ समर्पक ऋताग्निसत्ता) रहती है । ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होनें से ऋतुसमष्टिरूप संवत्सरयज्ञ सम्पन्न होता है । यज्ञ ही विष्णु । दक्षिणपाश में यही दक्षिणस्थ अग्निमूर्त्ति यज्ञविष्णु प्रतिष्ठित है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "हे दक्षिणपाश ! आप विष्णुरूप यज्ञ के वेष्टन हो, यज्ञ के स्वरूप सम्पादक हो" मन्त्रद्वारा यही भावना रखते हुए उसका (दक्षिणपाशाग्र का) ऊर्ध्व की ओर उद्गूहन किया जाता है ।

अब केवल यह प्रश्न बचजाता है कि जैसे यज्ञकर्म्म में युक्त यजमान—अध्वर्यु- होता-उद्गाता-ब्रह्मा आदि का बैठनें का स्थान नियत है, तथैव इस पत्नी के बैठनें का कौनसा नियत स्थान है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती —

न्यायप्राप्त बात तो यह है कि यजमानपत्नी को गार्हपत्याग्निकुण्ड के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके बैठना चाहिए। अर्थात् पत्नीशाला का निर्म्माण गार्हपत्य से पश्चिम होना चाहिए। कारण स्पष्ट है। प्रकृति में सूर्य्यरूप आहवनीय पूर्व में है। पृथिवीरूप गार्हपत्य इससे पश्चिम है। पश्चिमस्थभूपिण्ड (अदित्युपलक्षित भूपिण्ड) देवताओं की पत्नी है पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूपिण्ड) सूर्य्य की ओर (पूर्व की ओर) चलती हुई घूम रही है। पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई, सम्वत्सर का स्वरूप संपादन करती हुई अदिति पृथिवी ही सौर प्राणदेवताओं के संवत्सर यज्ञ का स्वरूप संपादन कर रही है। यजमान पत्नी इसी अदिति पृथिवी के स्थान में है। इधर इस वैधयज्ञ में वेदि के पूर्वभाग में अवस्थित चतुरस्र (चोकोर) आहवनीयकुण्ड द्युलोक की प्रतिकृति है, एवं वेदि से पश्चिमदिक् मे अवस्थित वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड अदिति पृथिवीका स्वरूप है। यही स्वरूप यजमान पत्नी का है। अतः इसे स्थानभूत (अदितिस्थान भूत) गार्हपत्य के ठीक पश्चिम में ही बैठना चाहिए। परन्तु ऐसा न होकर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋतकोण में पत्नीशाला बनाई जाती है। कारण इसका यह है कि यदि पृथिवी स्थानीय गार्हपत्य के समीप पश्चिम मे पत्नी को बैठाया जायगा तो यह पत्नी परिभ्रमण करती हुई पृथिवी के साथ युक्त हो जायगी। पृथिवीगति में आरूढ हो जायगी, एवं जैसे पृथिवी संवत्सर के भीतर भीतर (परिभ्रमण से) द्युलोक में पहुँच जाती है, तथैव इस की जातिभावना से आकर्षित यजमान पत्नी भी द्युलोक में चली जायगी। पत्नी को इसी द्युलोकगमन से बचानें के लिए प्रकृतिसिद्ध स्थान से हटाकर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋतकोण में प्रतिष्ठित किया जाता है।

इति—पत्नीसंनहनोपपत्तिः

———०———

२—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः

त्नी योषाप्राणमयी है। इधर आज्य रेतोरूप होनें से वृषाप्राणमय है। आज्य (घृत) दुग्ध का कार्य्य है। दुग्ध ओषधिका विकार है। ओषधि पानी से उत्पन्न हुई है। पानी सोम का विकार है। सोमद्रव्य साक्षात् रेत है। वही सोम परम्परया आज्यरूप में परिणत हुआ है। ऐसी अवस्था में आज्य को अवश्य ही 'रेत' कहा जासकता है। भाष्यारम्भ में (देखिए श० वि० भा० १ वर्ष) यह बतलाया जाचुका है कि प्रजोत्पत्ति में स्त्री पुरुष का मिथुनभाव कारण नहीं है, अपितु योषा-वृषा प्राण का मिथुनभाव ही प्रजोत्पादक है। इन प्राणों का संयोग दृष्टिसूत्र से भी हो सकता है। पुराण में ऐसे कई आख्यान उपलब्ध होते हैं कि अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से देखा, एवं दृष्टिसूत्रसम्बन्धमात्र से गर्भाधान हो गया। यदि आत्मा निर्विकार है, भाव प्रबल हैं तो ऐसा होना कोई असंभव नहीं है। सत्य आत्मा का सत्य संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह आज्यरूप रेत आहुति प्रजोत्पत्ति का कारण बननें वाली है। इस में यजमान पत्नी का योषा प्राण भी संयुक्त होना चाहिए। बिना इसके यजमान का यज्ञ अधूरा रहता है। बस योषाप्राणात्मक इसी मिथुनभाव की प्राप्ति के लिए पत्नी को रेतरूप आज्य के दर्शन कराए जाते हैं ॥२८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का भावदोष, कीटादि का आवरणदोष रहता है तो, योषाप्राण का आज्य में प्रवेश नहीं होसकता। मेरे चक्षु सर्वथा निर्दुष्ट हैं—मैं निर्दुष्ट चक्षुओं से आज्य देखती हूं—"अदब्धेन त्वा

चक्षुषा पश्यामि ' यह मन्त्र भाग इसी भावना को दृढ मूल बनाता है। अग्नि-ज्वाला ही अग्नि की जिह्वा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि जब तक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता, तब तक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते। जब तक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते तब तक आहुति निष्फल रहती है। आहुति का सफल होना प्राणदेवताओं के आगमन पर निर्भर है। प्राण देवताओं का आगमन प्रदीप्त (समिद्ध) अग्नि पर निर्भर है। अग्नि की प्रदीप्ति आज्याहुति पर निर्भर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आज्य का काम है। अतः हम आज्य को अग्नि की शोभन आह्वान करने वाली जिह्वास्थानीय मान सकते हैं। आहुति द्रव्य से दिव्यात्मा का शरीर निर्म्माण होगा—मन्त्रप्रयोग सफल होंगे। यह सब कर्म्म आज्याहुति पर निर्भर है। आज्य के इसी स्वरूपधर्म्म की भावना करते हुए—"अग्नेर्जिह्वासि०" इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आज्यदर्शन किया जाता है॥ १६॥

इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः

—०—

४–५–६–परिशिष्ट (आज्यस्थापन–आज्यप्रोक्षण का उत्पवन–अध्वर्यु कृत आज्य दर्शन) उपपत्ति

हिले के कर्म्मों में यह बतलाया जाचुका है कि यज्ञिय द्रव्य के परिपाक के सम्बन्ध में दो मत है। गार्हपत्याग्नि में सब हविर्द्रव्य का परिपाक करना, पहिला पक्ष है। आहवनीय में परिपाक करना, दूसरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष श्रुतिसिद्ध हैं। इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि गार्हपत्यपक्ष में गार्ह-

पत्याग्नि में ही, आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृतयज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में ही हविर्द्रव्य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आज्य भी एक प्रकार से हविर्द्रव्य है। इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायतः आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। ऐसी अवस्था में यदि पुरोडाशाधिश्रयण काल में ही आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण होजाता है तो पत्नी इसका अवेक्षण नहीं कर सकती। कारण पानी का स्थान गार्हपत्य है। आज्यदर्शन का विधान इसी स्थान पर है। यहां से आज्यदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से च्युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है। "पत्नी को आज्यदर्शन कराना आवश्यक है" इस विचार से आहवनीयाधिश्रयण के बीच में ही अध्वर्यु आज्य को गार्हपत्य के समीप लाकर पत्नी को अवेक्षण करादे यह भी पद्धति के प्रतिकूल है। एवं पद्धतिविरुद्ध कर्म्म यज्ञस्वरूप का घातक है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का मार्ग पत्नी को आज्य न दिखलाने पर पर्यवसित मानलिया जाय यह भी संभव नहीं है। यदि पत्नी ने आज्यावेक्षण न किया तो इसका यज्ञ से पृथक्करण होजायगा। इस प्रकार इस आहवनीयाधिश्रयण पक्ष में न अध्वर्यु पत्नी के समीप आसकता, न पत्नी आहवनीय के समीप जासकती, न पत्नी को आज्यदर्शन से वञ्चित किया जासकता। यदि गार्हपत्याधिश्रयण पक्ष है तब तो किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता। कारण इस पक्ष में आज्याधिश्रयण भी गार्हपत्य में ही होता है। ऐसी अवस्था में गार्हपत्य के समीप ही नैर्ऋत कोण में बैठी हुई यजमानपत्नी के आज्यदर्शन में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती। परन्तु आहवनीयपक्ष में उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय ?

इसका समाधान करते हुए श्रुति नें यह उपाय बतलाया है कि आहवनी-याधिश्रयणपक्ष में-पूरोडाशाधिश्रयण काल में आज्याधिश्रयण नहीं करना चाहिए, अपितु जब पत्नी के आज्यावेक्षण का समय आवे उस समय प-हिले अगत्या पहिले आज्य का गार्हपत्याग्नि में अधिश्रयण कर लेना चाहिए। जब पत्नी गार्हपत्यस्थान में ही आज्यावेक्षण करले तो आहवनीयाधिश्रयण पक्ष की माक्षमर्यादा को सुरक्षित रखनें के लिए पुनः (आज्यावेक्षणानन्तर) आहवनीयाग्नि में आज्याधिश्रयण करलेना चाहिए। अधिश्रयणानन्तर आज्य को देवभागयुक्त वेदिमण्डल पर रखदेना चाहिए। २०। २१। २२। २३। २४।

पवित्र से पहिले आज्य का प्रोक्षण किया जाता है, अनन्तर आज्य-संसर्ग से आज्ययुक्त बनेहुए पवित्र से प्रोक्षणी पानी का उत्पवन होता है। इस प्रोक्षणीप्रोक्षण का तात्पर्य है—पानी में पय का आधान। पानी में एक प्रकार का जीवनीय रस होता है। इसी जीवनीय रस को लक्ष्य में रखकर "जीवनं भुवनं वनम्" इत्यादि रूप से पानी को जीवन कहा जाता है। इसी जीवनीय रस को—" यो वः शिवतमोरसः " (यजुः) इत्यादि रूप से "शिवतमरस" नाम से व्यवहृत किया जाता है। दिव्यात्मा इस जीवनीय शिवतम रस से युक्त बनैं—इसी अभिप्राय से यह उत्पवन कर्म्म किया जाता है। २५।

ऋत्विक् दक्षिणाक्रीत हैं । ऋत्विक् यज्ञकर्म्म में अपने मन-प्राण वाङ्मय आत्मा का जितना अंश व्यय करते हैं, उतना भाग दक्षिणाद्वारा पूर्ण करदिया जाता है। यदि दक्षिणादान नहीं होता है तो यजमान के यज्ञात्मा में (दिव्यात्मा में) ऋत्विजों का भी आत्मा समाविष्ट रहजाता है । यही यज्ञ का क्षतभाव (अपूर्णता) है । इस क्षतभाव को दक्षिणा से दूर किया जाता है। दक्षिणाग्रहण से ऋत्विक् लोग यज्ञ में जितने कर्म्म करते हैं, देवताओं से जो आशी मांगते हैं—उन सब का सम्बन्ध यजमान के साथ ही होता है । अतः अध्वर्यु को ही आज्यदर्शन करना चाहिए। "यजमान आज्यदर्शन करे" प्राचीनों का यह मत विज्ञानकोटि से सर्वथा बहिष्कृत अत एव उपेक्षणीय है ।२६।

सूर्य्य से चक्षुरिन्द्रिय का निम्मार्ण होता है। सूर्य्य सत्यमूर्त्ति है। पुराणनें पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भित ज्योतिर्मय चिन्मूर्त्ति (सदा जाग्रत) इसी सौरविष्णु को (यज्ञ को) सत्यनारायण नाम स व्यवहृत किया है। त्रयीमय अग्निमूर्त्ति अतएव सत्यसूर्य्य से निष्पन्न होनें वाले चक्षुओं में सत्य की प्रतिष्ठा रहती है। मनुष्य के पास चक्षु ही एक ऐसा साधन है जिसके आधार पर यह सत्यासत्य के निर्णय पर पहुंच सकता है। जब यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है तो—उसको—'स वै सत्यमेव वदेत्' यह आदेश दिया जाता है। इस आदेश के अव्यवहितोत्तरकाल में ही श्रुति नें पूर्वपक्ष उठाया है कि,मनुष्य होकर सत्य बोले यह सर्वथा असंभव है। मनुष्य अनृतसंहित है। जब वह सत्य बोलही नहीं सकता, तो फिर उसे-'तुम सत्य बोलो' इस आदेश का क्या महत्व रह जाता है। आगे जाकर इस पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि यज्ञप्रजापति की ओर से पुरुष में चक्षुसत्य का

निर्म्माण हुआ है। 'यह जैसा देखे वैसा बोले' बस यहींपर इस की सत्य भाषण मर्य्यादा समाप्त हो जाती है। यही रहस्य श्रुति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद को श्रुति क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानों नें यह कहा है कि वेदकाल में लेखनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमन्त्र कण्ठ किए जाते थे। इस श्रवण सम्बन्ध से ही वेद 'श्रुति' नाम से प्रसिद्ध हुआ। हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानोंनें श्रुति शब्द के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में बड़ी भूल की है। "द्रष्टुर्वाक्यंश्रुतिः, श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः" श्रुति स्मृति का यह अर्थ है। जिसनें विषय के दर्शन किए हैं उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए श्रुति है, एवं श्रुति के आधार पर मनन करके जिसनें श्रति के उपवृंहित भाव को हमारे सामनें रक्खा है, उसका वाक्य स्मृति है। द्रष्टा सत्यचक्षु से देख रहा है। अतएव उस के वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा ऋषियों के वाक्य संग्रहरूप श्रुतिशास्त्र को स्वतः प्रमाण मानागया है। स्मृति श्रुत्यनुगामिनी है। अतः इसे परतः प्रमाण माना गया है। अस्तु प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि-चक्षुरिन्द्रिय अवश्य ही सत्यभावोपेत है। इसी आधार पर—'आंखों देखी परशुराम कभी न झूंठी होय' यह किंवदन्ति प्रचलित है। यह चक्षुसत्य सत्याग्नि है। अग्नि वृषा है। यजमान पत्नीनें अवेक्षण से आज्य में योषाप्राण का समावेश किया था, एवं यजमान का प्रतिनिधिरूप अध्वर्यु आज्य में सत्याग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एवं इस सत्यद्वारा योषावृषात्मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥ २७ ॥

आज्य तेजोरूप है। अग्निवृद्धि करना आज्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है। एवं अमृतपोषण करना तीसरा

धर्म्म है। मन–प्राण–वाक्–तीनों में वाक् शुक्रतत्व है। प्राण तेज है। मन अमृत है। घृत से वाङ्मय शुक्र की वृद्धि होती है। प्राणमय (ओजमय) शारीराग्नि प्रवृद्ध होता है। एवं मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इस प्रकार यह आज्य तेज–शुक्र–अमृतरूप प्राण–वाक्–मन का पोषण करता हुआ आत्मा की समृद्धि का कारण बनता है। घृत से बढकर आत्म समृद्धि के लिए और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। आज्य का वास्तव में यह गुण है। 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" इस सत्यभावना से भावित होकर आज्यदर्शन करने वाला अध्वर्यु अवश्य ही आज्य को सत्यविभूति से युक्त करता हुआ तद्द्वारा दिव्यात्मा को सत्ययुक्त बनाता है।

इति–उपपत्तिप्रकरणम्

समाप्तं च द्वितीय प्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम्

शतपथब्राह्मण-हिन्दीत्रैमासिक पत्र के नियम

१—यह पत्र वर्ष में चार बार कार्तिक, माघ, वैशाख, श्रावण, की पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—प्रत्येक त्रैमासिक अङ्क में २०+२६ अठपेजी साइज के १५० पृष्ठ रहते हैं।

३—पत्र का वार्षिक मूल्य सर्वसाधारण के लिये डाकव्यय सहित ६॥) हैं।

४—इस पत्र में शतपथब्राह्मण, और भाष्यसहित उसका मूलानुवादमात्र प्रकाशित होता है।

५—विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वार्षिक शुल्क मनिऑर्डर द्वारा ही प्राप्त करने का नियम है।

६—पत्रोत्तर के लिए)॥। टिकिट भेजना आवश्यक है। अन्यथा उत्तर में विलम्ब की सम्भावना है।

७—पत्र व्यवहार करते समय ग्राहकों को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य सूचित करना चाहिए।

मनिऑर्डर भेजने, एवं पत्र व्यवहार आदि के लिए एकमात्र पता—

मोतीलालशर्म्मा

विज्ञानमन्दिर भूराटीबा, जयपुर सीटी. (राजपूताना)

शतपथब्राह्मण-हिन्दीविज्ञानभाष्य

(त्रैमासिक पुस्तकरूप से प्रकाशित)

भाष्यकार

वेदवीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः (गौडः)

वर्ष ४	माघशुक्ल पूर्णिमा सम्वत् १९९८	संख्या २

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफण्डद्वाराप्रकाशित

एवं

श्रीगौरीलालशर्म्मा-पाठक उपाध्याय द्वारा सम्पादित

मुद्रक—

* ओंतत्सद् ब्रह्मणे नमः *

अथ
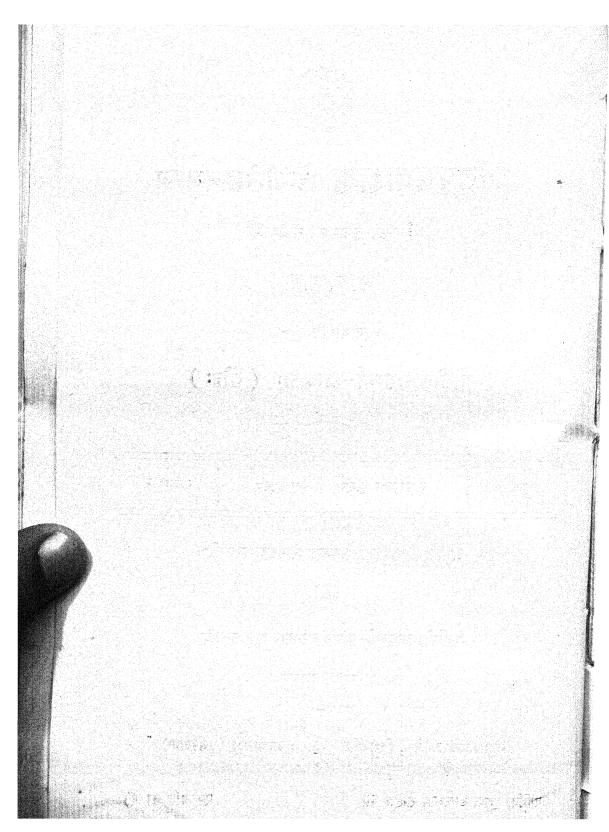
शतपथब्राह्मण-हिन्दीविज्ञानभाष्ये

दर्शपूर्णमासनिरूपणात्मके प्रथमकाण्डे

तृतीयाध्याये द्वितीयं, द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम्

आज्यब्राह्मणं, आज्यग्रहणब्राह्मणं वा

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ॥
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥२॥

ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ॥
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥३॥

क–निर्भुजपाठः (पारायणपाठः)—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मा ऽत्पुरुषो यज्ञः ॥१॥

तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृद्धात्मैव ध्रुवा तद्वा ऽआत्मन ऽएवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥२॥

प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति ॥३॥

तस्यासावेव द्यौर्जुहूः । अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा तद्वा अस्या एवेमे सर्व्वे लोकाः प्रभवन्ति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्व्वो यज्ञः प्रभवति ॥४॥

अयमेव स्रुवो योऽयं पवते । सोऽयमिमान्सर्व्वांल्लोकाननुपवते । तस्मादु स्रुवः सर्व्वा अनु स्रुचः सञ्चरति॥५॥

स एष यज्ञस्तायमानः । देवेभ्यस्तायत ऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धविस्तद्देवानां यत्सोमो राजा यत्पुरोडाशस्तत्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामीत्येवमु हैतेषाम् ॥६॥

अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते । ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति स वै चतुर्ज्जुह्वां गृह्णात्यष्टौ कृत्व उपभृति ॥७॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । ऋतुभ्यस्तद्गृह्णाति प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णात्यृतवो हि प्रयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद् यद्वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥८॥

अथ यदष्टौ कृत्व ऽउपभृति गृह्णाति । छन्दोभ्यस्तद्गृह्णात्यनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति छन्दाᳬंसि ह्यनुयाजास्तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णात्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्गायत्र्यै त्वा त्रिष्टुभे त्वेति गृह्णीयात्तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥९॥

अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति । सर्व्वस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति कस्मा ऽउ ह्यादिशेद्यतः सर्व्वाभ्य ऽएव देवताभ्यो ऽवद्यति तस्मादनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥१०॥

यजमान एव जुहूमनु । योऽस्मा ऽरातीयति स ऽउपभृतमन्वत्तैव जुहूमन्वाद्य ऽउपभृतमन्वत्तैव जुहूराद्य ऽउपभृत्स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौ कृत्व ऽउपभृति ॥११॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति । अत्तारमेवैतद् परिमिततरं कनीयाᳬंसं करोत्यथ यदष्टौ कृत्व ऽ उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाᳬंसं करोति तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयानाद्यो भूयान् ॥१२॥

स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय ऽआज्यं गृह्णात्यष्टौ कृत्व ऽउपभृति गृह्णन् कनीय ऽआज्यं गृह्णाति ॥१३॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् । भूय ऽआज्यं गृह्णात्यत्तारमेवैतत् परिमिततरं कनीयाᳬंसं कुर्वंस्तस्मिन् वीर्यं बलं दधात्यथ

यदष्टौ कृत्व उउपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णत्याद्यमेवैत-दपरिमिततरं भूयाꣳसं कुर्वंस्तमवीर्यमबलीयाꣳसं करोति तस्मादुत राजापरां विशं प्रावसायाप्येकवेश्मनैव जिनाति तद्यथा तत्कामयते तथा सचत एतेनो ह तद्वीर्येण यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति स यज्जुह्वां गृह्णाति जुह्वैव तज्जुहोति यदुपभृति गृह्णाति जुह्वैव तज्जुहोति ॥१४॥

तदाहुः । कस्मा उ तर्ह्युपभृति गृह्णीयाद्यदुपभृता न जुहोतीति स यद्धोपभृता जुहुयात् पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युर्न्नै-वात्ता स्यान्नाद्यः स्यादथ यत्तज्जुह्वैव समानीय जुहोति तस्मा-दिमा विशः क्षत्रियाय बलिꣳ हरन्त्यथ यदुपभृति गृह्णाति तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्तेऽथ यत्तज्जुह्वैव समानीय जुहोति तस्माद्यदा क्षत्रियः कामय-तेऽथाह वैश्यमपि यत्ते परो निहितं तदाहरेति तं जिनाति तद्यथा तत्कामयते तथा सचत एतेनो ह तद्वीर्येण ॥१५॥

तानि वा एतानि । छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद्गृह्णात्यथ यदष्टौ कृत्व उउप-भृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभे तद् गृह्णाति वाग्वा अनुष्टुब् वाचो वा इदꣳ सर्वं प्रभवति तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवतीयं वा

ऽअनुष्टुब्वस्यै वा ऽइदᳪं सर्वं प्रभवति तस्माद्ध ध्रुवाया ऽएव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥१६॥

स गृह्णाति । धाम नामासि प्रियं देवानामित्येतद्धै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं तस्मादाह धाम नामासि प्रियं देवानामित्यनाधृष्टं देवयजनमसीति वज्रो ह्याज्यं तस्मादाहानाधृष्टं देवयजनमसीति ॥१७॥

स एतेन यजुषा । सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीं तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात् त्रिवृद्धि यज्ञ इति तदु तु सकृत्सकृदेवात्रो ह्येव त्रिर्गृहीतᳪं सम्पद्यते ॥१८॥५॥

इति–निर्भुजपाठः (पारायणपाठः)

इति–तृतीयाध्याये द्वितीयं, द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम्

(१ कां० । ३ अ० । २ ब्रा०)—(१ कां० । २ प्र० । ५ ब्रा०)

ख–अथ निर्भुजपाठः (अर्थविबोधानुगतः)—

(१–यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्)

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञः–यदेनं पुरुषस्तनुते । एष वै तायमानो यावानेव पुरुषः, तावान् विधीयते, तस्मात् पुरुषो यज्ञः । तस्य–इयमेव जुहूः, इयं–उपभृत, आत्मैव ध्रुवा । तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि

प्रभवन्ति। तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति। प्राण एव स्रुवः। सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति। तस्मादु स्रुवः सर्वाऽअनु स्रुचः सञ्चरति। तस्याऽसावेव द्यौर्जुहूः, अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा। तद्वा अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति। तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति। अयमेव स्रुवः, यो ऽयं पवते। सो ऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते। तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति। (१, २, ३, ४, ५)।

(२–आज्यग्रहणसंख्यानियमनप्रकरणम्)

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते, ऋतुभ्यः, छन्दोभ्यः। यद्धविः, तद्देवानाम्–यत् सोमो राजा, यत् पुरोडाशः। तत्तदादिश्य गृह्णाति– 'अमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामि' इति। एवमु हैतेषाम्। अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते–ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते। तत्तदनादिश्य – आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति। स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति–ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति, प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति। ऋतवो हि प्रयाजाः। तत्तदनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति–अजामितायै। जामि ह कुर्यात्–यत्–'वसन्ताय त्वा' इति गृह्णीयात्। तस्मादनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति–छन्दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति। छन्दांसि ह्यनुयाजाः। तत्तदनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति–अजामितायै। जामि ह कुर्यात्–यत् 'गायत्र्यै त्वा, त्रिष्टुभे त्वा' इति इति गृह्णीयात्। तस्मादनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति, सर्वस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति। तत्तदनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। कस्मा उ ह्यादिशेत्–यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति। तस्मादनादिश्य–आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। (६, ७, ८, ९, १० कण्डिका)।

(३–आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्)

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति–स उपभृतमनु। अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु। अत्तैव जुहूः, आद्य उपभृत्। स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति। स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति–अत्तारमेवैतत् परिमिततरं कनीयांसं करोति। अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति–आद्यमेवैतद-परिमिततरं भूयांसं करोति। तद्धि समृद्धं–यत्रात्ता कनीयान्, आद्यो भूयान्। स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन्–भूय आज्यं गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्–कनीय आज्यं गृह्णाति। स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति, अत्तारमेवैतत् परिमिततरं कनीयांसं कुर्वन्, तस्मिन् वीर्यं बलं दधाति। अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णाति–आद्यमेवैतदपरि-मिततरं भूयांसं कुर्वन्, तमवीर्यमबलीयांसं करोति। तस्मादुत राजाऽपारां विशं प्रावसाय, अप्येकवेश्मनैव जिनाति। स्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते। एतेन उ ह तद्वीर्येण–यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति। स यज्जुह्वां गृह्णाति, जुह्वैव तज्जुहोति, यदुपभृति गृह्णाति–जुह्वैव तज्जुहोति। तदाहुः–'कस्मा उ तर्ह्युपभृति गृह्णीयात्, यदुपभृता न जुहोति' इति। स यद्धोपभृता जुहुयात्–पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युः, नैवात्ता स्यात्, नाद्यः स्यात्। अथ यत्तज्जुह्वैव समानीय जुहोति, तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति। अथ यदुपभृति गृह्णाति, तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्ते। अथ यत्तज्जुह्वैव समानीय जुहोति, तस्माद्यदोत–क्षत्रियः कामयते–अथाह वैश्यं– अपि यत्ते परो निहितं, तदाहर' इति। तं जिनाति। स्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते, एतेन उ ह तद्वीर्येण। तानि वा एतानि छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते। स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति–गायत्र्यै तद् गृह्णाति। अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति–त्रिष्टुब्-जगतीभ्यां तद्गृह्णाति। अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति–अनुष्टुभे तद् गृह्णाति।

वाग् वा अनुष्टुप्। वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति। तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति। (११, १२, १३, १४, १५, १६, कण्डिका)।

(४–आज्यग्रहणपद्धतिप्रकरणम्)

स गृह्णाति—'धाम नामासि प्रियं देवानाम्' (यजुः सं० १ अ० ३१ मं०) इति। एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम–यदाज्यम्। तस्मादाह–'धाम नामासि प्रियं देवानां' इति। 'अनाधृष्टं देवयजनमसि' १।३१) इति। वज्रो ह्याज्यम्। तस्मादाह–'अनाधृष्टं देवयजनमसि' इति। स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम्। एतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति, सप्तकृत्वस्तूष्णीम्। एतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम्। तदाहुः–'त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्–त्रिवृद्धि यज्ञः' इति। तदु नु सकृत् सकृदेव। अत्र उ ह्येव त्रिर्गृहीतं सम्पद्यते। (१७, १८, कण्डिका)।

इति प्रतृणणपाठः (अर्थावबोधानुगतः)

—ख—

इति–तृतीयाध्याये द्वितीयं, द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं
आज्यब्राह्मणनामकं ब्राह्मणं समाप्तम्
(१।३।२—१।२।५)

ग–मूलानुवाद—

१–यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

यह यज्ञ (मनुष्ययजमानद्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ) निश्चय रूप से पुरुष (मनुष्य की प्रतिकृति) है। (यह) यज्ञ इसलिए पुरुष (पुरुषस्वरूपसदृश) है कि, जो कि पुरुष (यज्ञकर्त्ता यजमान, दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु, होता, उद्गाता ब्रह्मा, आदि ऋत्विक् लोग, जो कि पुरुष हैं) इस यज्ञ को वितत करता है (वेदि, कुण्ड, मन्त्र, हवि, आदि साधनों से विस्तारभाव में परिणत करता है)। (पुरुषद्वारा यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है, इस लिए यज्ञ को–पुरुषकर्तृत्वेन–अवश्य ही पुरुष कहा जासकता है। (एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जासकता है, जो कि कारण पहिले कारण की अपेक्षा मुख्य है। कण्डिका का उत्तर वाक्य उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है)। यह (वैध यज्ञ)–(ऋत्विजादिपुरुषों द्वारा) वितायमान होता हुआ (गार्हपत्य, अपराग्नि, आहवनीय, वेदि, आदि रूप से फैलता हुआ) निश्चयरूप से जितना ही (जितनी लम्बाई चौड़ाई के परिमाणसे) पुरुष वितत रहता है, उतना ही (उतने ही परिमाण से) सम्पन्न किया जाता है। (पुरुषपरिमाणसदृश विस्तारभाव की समता से यज्ञ को पुरुष कहना अन्वर्थ बन जाता है) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है)–जुहू इस यज्ञ की यही (दक्षिणभुजा–दहिना हाथ) है, उपभृत (इस यज्ञ की) यही (वाम-भुजा–बायां हाथ) है, ध्रुवा (इस यज्ञ का) आत्मा (मध्य अङ्ग–धड़) ही है। (इस प्रकार जुहू, उपभृत, ध्रुवा रूप से दक्षिण, वाम हस्त, मध्याङ्गसम्पत्ति–लक्षण पुरुषाकृति–सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवश्य ही पुरुष–पुरुष की प्रतिकृति-पुरुषसदृश कहा जासकता है, यही तात्पर्य है।

('ध्रुवा' नामक यज्ञपात्र आत्मा (मध्याङ्ग) की प्रतिकृति कैसे है ? इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)—यह प्रत्यक्ष है कि (तद्वा), आत्मा (मध्याङ्गरूप धड़) से ही ये (हस्त, पाद, मस्तकादि) सब अङ्ग (शरीरावयव) उत्पन्न होते हैं (निकलते हैं, रसप्राप्ति द्वारा पुष्ट होते रहते हैं)—इस (वैधयज्ञ में आज्यपरिपूर्ण ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है, एवं आत्मा से ही अङ्गरूप हस्त-पादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उत्पन्न होते हैं, रसग्रहण करते हैं,) अतएव (यहां भी जूहू, उपभृत् आदि के द्वारा ध्रुवा से ही घृत ले ले कर) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वैधयज्ञ उत्पन्न होता है (यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। अतः यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्रुवा को इस यज्ञपुरुष का अवश्य ही आत्मा माना जासकता है, यही तात्पर्य्य है) ॥२॥

(पुरुष के शरीर में 'हस्त–पाद–आत्मा' ये तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते हैं। शिरोभाग से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्य्यन्त प्रदेश आत्मा (धड़) माना जायगा, दक्षिणहस्त, दक्षिण पाद का एक स्वतन्त्र विभाग, एवं वामहस्त, वामपाद का एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा। इस प्रकार पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को आत्मा (धड़), दक्षिणहस्त (तदुपलक्षित दक्षिणपाद), वामहस्त (तदुपलक्षित वामपाद), इस क्रम से तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागात्मक इस शरीर में (शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में) अवारपारीण सञ्चार करने वाला चैतन्यप्राण एक चौथा स्वतन्त्र तत्त्व माना जायगा, जिसकी सत्ता से जड़–भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयरस से युक्त रहते हैं। पुरुषसंस्था की इन चार अवान्तर संस्थाओं में से आत्मा (धड़) दक्षिणहस्त (पाद), वामहस्त (पाद), इन तीन भौतिक अवयवों की प्रतिरूपता तो क्रमशः ध्रुवा, जुहू, उपभृत्, इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चौथा चैतन्यप्राण रह जाता है। इसकी प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

(इस वैध यज्ञ में उपयुक्त होने वाला) 'स्रुव' नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। स्रुवपात्र प्राण–स्थानीय क्यों माना गया ? प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

(हम देखते हैं कि, पुरुषशरीर में केश–लोम, एवं नखाग्र भागों को छोड़-कर) यह चैतन्य प्राण (वैश्वानराग्निप्राण) शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों (को लक्ष्य बनाकर) में विचरता रहता है। (हम देखते हैं कि, इस यज्ञसंस्था में 'स्रुव' नामक यज्ञपात्र, जुहू-उपभृत्–ध्रुवा आदि इतर सभी स्रुक्–पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, आत्मा–दक्षिण–वामहस्त-पादस्थानीय ध्रुवा–जुहू–उपभृत् आदि स्रुचों में सञ्चरण करने वाला स्रुव अवश्य ही प्राण-स्थानीय है) इसीलिए (प्राणस्थानीय होने से ही) तो यह स्रुव–पात्र सब स्रुचों (को लक्ष्य बनाकर सब) में विचरता है ॥३॥

(यह वैधयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया ? इस प्रश्न का समाधान श्रुति ने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ द्वारा किया। पुरुषयज्ञ (आध्या-त्मिकयज्ञ) का जैसा स्वरूप है, इस में जैसा अवयवसंस्थान है, पुरुषकर्तृक, आधि-भौतिक, स्वर्गादि–अभीष्टफलसाधक इस वैधयज्ञ का स्वरूप, तथा संस्थान भी वैसा ही है। अतः 'समतुलनन्याय' से वैधयज्ञ को 'पुरुष' कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रासङ्गिक प्रश्न और उपस्थित होते हैं। पहिला प्रश्न यह है कि, जिस पुरुष के आकार के आधार पर वैधयज्ञ का तथा-भूत वितान किया जाता है, उस पुरुष (आध्यात्मिकयज्ञ) का स्वरूप ही एवंविध (यज्ञात्मक) कैसे, और क्यों बना ? । जिस आधिदैविक जगत् (प्रकृति) से पुरुष यज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ उत्पन्न हुआ है, उसे लोक-वेद में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत किया गया है। उसे (आधिदैविकजगत को यज्ञ किस आधार पर कहा गया ? क्या वहां भी जुहू, उपभृत, आदि यज्ञस्वरूपसाधक परिग्रह विद्यमान हैं ? यही इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नों के समाधान से श्रुति का उद्देश्य केवल

यह बतलाना है कि, आधिभौतिकयज्ञ (मनुष्यकृतवैधयज्ञ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिक-यज्ञ (पुरुषाकारात्मकयज्ञ) है, एवं इस आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा द्यावापृथिव्यात्मक, सम्वत्सरलक्षण, आधिदैविकयज्ञ है। मनुष्यकृत-यज्ञ का स्वरूप एवंविध क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् (उपपत्ति-मौलिकरहस्य) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुष) का एवंविध स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न की उपनिषत् आधिदैविक, प्राकृतिक, नित्ययज्ञ है, जिस का कि—"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"-"देवाननुविधा वै मनुष्याः"-"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः"-"यज्ञेन यज्ञ-मयजन्त देवाः" इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है।

जब श्रुति ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया, तो प्रकरणवश श्रुति के लिए यह भी आवश्यक होगया कि, वह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलावे, साथ साथ उसकी भी इनके साथ प्रति-रूपता सिद्ध करे। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ४-५ कण्डिका पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहीं हैं)—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बड़ी दूर दिखलाई देने वाली सौरमण्डलो-पलक्षित) द्यौ ही जुहू (दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप) है। एवं यह अन्तरिक्ष (द्यावा-पृथिवी के मध्य का प्रदेश) उपभृत् (वामहस्तपाद का प्रतिरूप) है। यह पृथिवी ही ध्रुवा (आत्मा का प्रतिरूप) है। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समर्थन किया गया था। अतः यहां भी उसकी पुष्टि होनी चाहिए। आत्मा वही माना जायगा, जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे। पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जा सकेगा, जब कि वह भी अन्तरिक्ष, द्युलोकरूप उपभृत्, तथा जुहू, इन दो अङ्गों की उत्पत्ति का कारण बन सकेगी। इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

यह यथार्थ है (तद्वा) कि, इसी *पृथिवी से ये सब लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौः, आपः, आदि लोक) उत्पन्न हुए हैं । (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, अतएव पृथिवी अवश्यही आत्मरूप ध्रुवा है । क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप निष्पत्ति होती है) अतएव (आधिदैविक मण्डल में) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्णयज्ञ (आधिदैविक सम्वत्सरयज्ञ) उत्पन्न हुआ है ॥४॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू, उपभृत्, तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी (भूपिण्ड), इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई । अब वह सर्वसञ्चारी चैतन्य-प्राण शेष रहा, जो कि आधिभौतिक यज्ञ में 'स्रुवपात्र' रूप से, एवं आध्यात्मिकयज्ञ में आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः व्याप्त वैश्वानराग्निप्राण रूप से प्रतिष्ठित है । इसी चैतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई, श्रुति कहती है)—

(इस आधिदैविकयज्ञ का) यही स्रुव (चैतन्यप्राण) है, जोकि यह (त्रैलोक्य में) बह रहा है । (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण, और स्रुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी । अतः यहां भी उस प्रतिरूता का स्पष्टीकरण होना चाहिए । आधिदैविकयज्ञ-संस्था में प्राण वही माना जायगा, जो कि जुहू, उपभृत्, ध्रुवोपलक्षित पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोकों को लक्ष्य बनाकर जिन में—सञ्चरण करता होगा । इसी प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—

यह वायु (केश-लोमस्थानीय—वनस्पति—औषधि—धातुवर्ग, आदि पिण्डों के आभ्यन्तर भाग को छोड़कर, एवं नखाग्रस्थानीय भूपिण्ड के आभ्यन्तर प्रदेश को

---

* पाठक सन्देह करेंगे कि, प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति मानना ही असङ्गत है। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तबभी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता ? । इस जिज्ञासा का सोपपत्तिक समाधान आगे आने वाले उपपत्ति प्रकरण में किया जायगा ।

छोड़कर, बाकी बचे हुए) इन सब लोकों में (त्रिवृत्स्थानीय पृथिवीलोक, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्षलोक, एवं एकविंशस्थानीय द्युलोक में, जो कि तीनों लोक आधिदैविकयज्ञसंस्था के अङ्गस्थानीय हैं, इन्हें लक्ष्य बना कर इन सब में) वह (वायु) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है)। (क्योंकि वायु सब लोकों में सञ्चरण कर रहा है, उधर यज्ञप्रक्रिया में स्रुचों में सञ्चार करने वाला ही स्रुव माना गया है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है)–अतएव निश्चयरूप से यह स्रुव (त्रैलोक्यसञ्चारी वायव्यप्राण) इतर स्रुचों को (जुहू–उपभृत्–ध्रुवा–स्थानीय द्यु–अन्तरिक्ष–पृथिवी को लक्ष्य बना कर) इन में सञ्चरण कर रहा है ॥ ५ ॥

A (१)–इति यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

A प्रकृत ब्राह्मण में प्रधानरूप से आज्यग्रहण की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) का निरूपण हुआ है। यज्ञमण्डल में एक नियत स्थान पर आज्य परिपूर्ण एक नियत पात्र रक्खा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आज्यपात्र 'ध्रुवा' कहलाता है। ध्रुवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यों रहता है? इस प्रासङ्गिक प्रश्न-समाधि के लिए श्रुति को पद्धति-प्रदर्शन से पहिले यज्ञ का मौलिकस्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरम्भ की ५ कण्डिकाओं में श्रुति ने प्रतिरूप विधि से अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैवत, इन तीन यज्ञ-संस्थाओं का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकात्मक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे 'यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण' नाम दे डालना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वैधयज्ञ को मध्यस्थ बनाकर यज्ञकर्त्ता यजमान अपने आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध करता है, एवं यही यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सफलता के लिए छन्द, तथा ऋतुओं से वेष्टित सम्वत्सरमण्डलस्थ प्राणदेवताओं का ही यजन होता है, जैसा कि पाठक उपपत्ति–प्रकरण में विस्तार से देखेगें। यज्ञ के उद्देश्य प्राणदेवता हैं, एवं इनका आधिदैविकयज्ञ से तुलना करते हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित था। अतएव पद्धति से पहिले प्रतिरूपरहस्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, और इस दिग्दर्शन का मूलकारण बना 'ध्रुवापात्र'। ब्राह्मण ने ध्रुवा से आज्यग्रहण का बिधान किया है। ध्रुवा से ही आज्य ग्रहण क्यों किया जाय? इस स्वाभाविक, तथा प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रथम 'यज्ञप्रतिरूप-रहस्य' बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्यों कि आधिभौतिक यज्ञ का आध्यात्मिकयज्ञ के साथ जैसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है, एवमेव आध्यात्मिकयज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समान–सम्बन्धदृष्टि से भी प्रसङ्गवश श्रुति को अधिभूत, अध्यात्म की प्रतिरूपता के साथ साथ अध्यात्म, एवं अधिदैवत की प्रतिरूपता भी बतलानी पड़ी।

१-आज्यग्रहणसंख्याप्रकरणम्

(जैसाकि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है, आरम्भ की ५ कण्डिकाओं में निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्रन्थों की स्वाभाविक-शैली से सम्बन्ध रखने वाला "यज्ञप्रतिरूपरहस्य" ही प्रतिपादित हुआ है । अब ६ठी कण्डिका से ही पद्धति प्रदर्शन का उपक्रम किया जाता है)—

(यज्ञरहस्यवेत्ता अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा, आदि विद्वान् ऋत्विजों के द्वारा प्रकृत्यनुसार) वितायमान यह यज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) देवताओं, ऋतुओं, तथा छन्दों के लिए ही वितत किया जाता है। (आहुति द्रव्यों में से) जो हविर्द्रव्य है वह (प्रधान) देवताओं के लिए (नियत) है, जोकि आहुतिद्रव्य सोम राजा, एवं पुरोडाश है। (तात्पर्य्य यही है कि, सोमवल्ली का रस, तथा पुरोडाशलक्षण आहुतिद्रव्य, ये दोनों हविर्द्रव्य *प्रधान (आवाप) देवताओं के लिए नियत हैं। इन्हें नामग्रहण पूर्वक आहुति दी जाती है, इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है)—

क्यों कि × 'अन्नपुरोडाश' अन्नपुरोडाशोपलक्षित 'वपापुरोडाश,' एवं सोमरस, ये तीन आहुति-द्रव्य देवताओं के लिए नियत हैं, एवं देवता (प्राणदेवता

---

* यज्ञ में जिन देवताओं को आहुति दी जाती है, वे देवता 'आवाप, प्रयाज, अनुयाज' भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। प्रधान प्राणदेवता 'आवाप देवता' कहलातीं हैं, प्राणात्मिका मुख्य देवताओं की प्रतिष्ठारूपा वसन्तादि ऋतुएं 'प्रयाज देवता' कहलातीं हैं। एवं देववाहनरूप गायत्र्यादि छन्द 'अनुयाजदेवता' कहलातीं हैं। सोमरस, पुरोडाशलक्षण हविर्द्रव्य, आज्य, ये तीन आहुति-द्रव्य हैं। तीनों में सोमरस, तथा पुरोडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए नियत है, एवं ऋतु-छन्दोरूप प्रयाज-अनुयाज देवताओं को आज्याहुति दी जाती है।

× 'इष्टि-पशु-सोम' भेद से यज्ञसंस्था तीन भागों में विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से 'इष्टि' में अन्नपुरोडाश की आहुति होती है, पशुबन्ध में प्रधानरूप से पशुवपा की आहुति होती है, एवं ग्रहयागापरपर्य्यायक सोमयाग में प्रधानरूप से ग्रहपात्रस्थित सोमरस की आहुति होती है।

मूलरूप से ३३, ३, १, होते हुए भी अपने महिमा रूप से) संख्या में भी अनन्त हैं, साथ ही में तत्तद्यज्ञविशेषों में तत्तद् विशेष देवता ही प्रधान रहते हैं, इस लिए भी) वह (हविर्द्रव्य) उन उन देवताओं का ('अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि'–'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि'–'उपयामगृहीतोऽसि वाग्व, इन्द्रवायुभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि' इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूर्वक ही) 'अमुष्यै त्वा जुष्टं गृह्णामि' (अमुक देवता के लिए रुचिपूर्वक सेवन योग्य तुह्मारा–हविर्द्रव्य का- ग्रहण करता हूं) इत्यादिरूप से नामनिर्देश करके ही (आहुति द्रव्य का) ग्रहण करते हैं। (इस नामनिर्देशपूर्वक हविर्ग्रहण का कारण यही है कि) इन देवताओं के सम्बन्ध में (परम्परागत यज्ञपद्धति ग्रन्थों में) यही प्रकार (हविर्ग्रहणसाधक मन्त्र पृथक् पृथक् नाम निर्देशपूर्वक ही पढ़े हुए हैं, यही आवृत्–सम्मत प्रकार) है ॥६॥

(प्रत्येक यज्ञ में **'अन्न–पशुवपा–सोमरस'** तीनों में से किसी एक तो हविर्द्रव्य की प्रधानता रहती है, दूसरा आहुतिद्रव्य आज्य रहता है। इस प्रकार हवि, एवं आज्य भेद से प्रत्येक यज्ञ में दो आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविर्द्रव्य का सम्बन्ध तो प्रधान देवता के साथ बतला दिया गया। अब 'आज्य' नामक आहुतिद्रव्य की व्यवस्था करते हैं)—

(हविर्द्रव्य के अतिरिक्त) जो (दूसरे) आज्यों का ग्रहण किया जाता है, उन आज्यों का ग्रहण (प्रयाजदेवतारूप) ऋतुओं के लिए, तथा (अनुयाज देवतारूप) छन्दों के लिए, 'च' कारात् 'स्विष्टकृत्–याग' के लिए) किया जाता है। (क्यों कि ऋतु, छन्द, स्विष्टकृत्–देवता प्रधान–देवताओं की अपेक्षा गौण हैं, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित हैं, इन्हीं सब कारणों से अध्वर्यु वह (आज्य) (प्रयाजानुयाजादि गौण देवताओं का)–नाम न लेकर आज्यरूप से ही (समष्टि रूप से ही) ग्रहण करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्रधान देवता के लिए जहां हविर्ग्रहण नामनिर्देशपूर्वक होता है, वहां प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आज्य का ग्रहण बिना नामनिर्देश के करना चाहिए। ग्रहणसम्बन्ध में व्यतिक्रम बतला कर अब ग्रहण सम्बन्ध में विशेषता बतलाते हैं)—

वह (अध्वर्यु नियत स्थान पर स्थित आज्यपरिपूर्ण ध्रुवा में स्रुव के द्वारा घृत ले ले कर) चार बार तो जुहू में घृत–ग्रहण करता है, एवं (उसी स्रुव से) आठ बार करके उपभृत में घृत ग्रहण करता है ॥७॥

सो जो कि अध्वर्यु चार बार करके (स्रुव से) जुहू में (बिना नाम निर्देश के) आज्य ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। ऋतुओं के लिए (चतुर्वार) आज्यग्रहण करता है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आज्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्योंकि) ऋतुएं हीं प्रयाज (देवता) हैं। उस आज्य का (ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही) *अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अध्वर्यु) +'जामि' करेगा, जोकि यदि 'वसन्ताय, ग्रीष्माय त्वा' इत्यादि रूप से (नामनिर्देश पूर्वक) आज्य ग्रहण करेगा। इस लिए (जामि दोष न हो, इस लिए) प्रयाज देवताओं का नामनिर्देश न कर आज्य के ही रूप से (प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू में आज्य) ग्रहण करता है ॥८॥

सो जो कि अध्वर्यु आठ बार कर के (स्रुव से) उपभृत् में (बिना नाम निर्देश के) आज्य ग्रहण करता है, (इस का कारण बतलाते हैं)। छन्दों के लिए (आठ बार कर के) आज्य ग्रहण करता है। (छन्दोरूप अनुयाज देवताओं के उद्देश्य से अष्टौ कृत्व गृहीत यह) आज्य अनुयाज देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्यों कि) छन्द हीं अनुयाज हैं। उस आज्य का (उन छन्दोरूप अनुयाज देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही) अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है।

(वह अध्वर्यु) जामि दोष का प्रवर्त्तक बनेगा, जो कि यदि 'गायत्र्यै त्वा, त्रिष्टुभे त्वा' इत्यादि रूप से (नामनिर्देशपूर्वक) आज्यग्रहण करेगा। इस लिए

---

* सभ्यता की रक्षा के लिए।
+ जामि–असभ्यता,

(जामिदोष न हो, इस लिए) अनुयाजदेवताओं का नाम निर्देश न कर आज्य के ही रूप से (अनुयाज देवताओं के लिए आठबार कर के उपभृत् में आज्य) ग्रहण करता है ॥६॥

(आज्यग्रहण के सम्बन्ध में अभी एक बात बाकी रह गई। जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, तीनों को 'स्रुक्' कहा जाता है। इन में जुहू, तथा उपभृत् नाम की स्रुचों के सम्बन्ध में तो आज्यग्रहण की व्यवस्था बतला दी गई। परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण न हुआ कि, तीसरी ध्रुवा नाम की स्रुक् में कहां से लेकर तो आज्य भरा जाता है, कितनी बार करके भरा जाता है, एवं नामनिर्देश पूर्वक भरा जाता है, अथवा जुहू-उपभृत्, इन अन्य स्रुचों की तरह बिना नाम निर्देश के आज्य ग्रहण होता है?। क्योंकि ध्रुवा भी स्रुक् है, अतः इतर दोनों स्रुचों के आज्यग्रहण की व्यवस्था के साथ समान प्रकरण के कारण ध्रुवा नाम की स्रुक् से सम्बन्ध रखने वाली आज्यग्रहण-व्यवस्था का भी स्पष्टीकरण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त ध्रुवा के सम्बन्ध में एक सन्देह और उपस्थित होता है। पूर्व प्रतिपादित 'यज्ञप्रतिरूपरहस्य' के अनुसार ध्रुवा आत्मस्थानीय बनता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है। इस सर्वयज्ञसम्पन्नता की दृष्टि से ध्रुवापात्र केवल जुहू-उपभृत् में क्रमशः चतुर्वार-अष्टवार गृहीत आज्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रयाज-अनुयाज नामक गौण देवताओं की ही प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु यज्ञिय अन्य आवाप देवताओं की भी प्रतिष्ठा है। उधर पूर्व में यह व्यवस्था हुई है कि, प्रधान देवता के लिए तो नामनिर्देश पूर्वक हविर्ग्रहण करना चाहिए, एवं प्रयाजानुयाज देवताओं के लिए बिना नाम निर्देश के आज्यग्रहण करना चाहिए। इधर ध्रुवापात्र गौण, तथा मुख्य, सब देवताओं की प्रतिष्ठा है। ऐसी दशा में यदि बिना नामनिर्देश के ध्रुवा में घृत डाला जायगा, तो प्रधान देवता का सम्बन्ध न होगा, और यदि नाम निर्देश पूर्वक घृत डाला जायगा, तो गौणदेवता का सम्बन्ध न होगा। अपेक्षित है दोनों का सम्बन्ध, क्यो कि दोनों के समन्वय से ही यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है,

एवं ध्रुवा सम्पूर्णयज्ञ की प्रतिष्ठा है। फलतः ध्रुवा—सम्बन्धी आज्यग्रहण के सम्बन्ध में उक्त सन्देह एक जटिल समस्या बन जाता है। इन्हीं सब विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिए ध्रुवा—सम्बन्धी आज्यग्रहण की व्यवस्था बतलाई जाती है)—

(आरम्भ से यज्ञ समाप्तिपर्य्यन्त यज्ञिय कर्म्म में जितना आज्य अपेक्षित रहता है, अपेक्षित नियत मात्रा से अन्य सामग्री—सम्भार के साथ साथ आज्य का भी एकबार ही संग्रह कर लिया जाता है। यज्ञकर्म्मोपयोगी इस आज्य को पहिले से ही नियत जिस यज्ञिय पात्र में नियत स्थान पर कोशरूप से सुरक्षित रख दिया जाता है, वह पात्र 'आज्यस्थाली' नाम से प्रसिद्ध है। आहुति के लिए ध्रुवा में भरे हुए आज्य का (स्रुव से) उपयोग होता है। जब जब ध्रुवा में आज्य अपेक्षित होता है, तब तब कोशस्थानीय उस आज्यस्थाली से इस ध्रुवापात्र में घृत ले लिया जाता है। जिस प्रकार स्रुव—द्वारा ध्रुवा में से जुहू, और उपभृत् में बिना नामनिर्देश के क्रमशः चतुर्वार—आठबार आज्यग्रहण होता है, वैसे आज्यस्थाली में से ध्रुवा में कितनी बार में करके आज्य भरा जाता है?, एवं प्रधान देवतावत् नामनिर्देश पूर्वक भरा जाता है?, अथवा गौणदेवतावत् बिना नाम निर्देश के ? ये दो प्रश्न हमारे सामनें आते हैं। इन्हीं का क्रमशः समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

जो कि (अध्वर्यु जुहू—उपभृत् में आज्यस्थाली में से) चार बार कर के ध्रुवा में आज्यग्रहण करता है-(उस का कारण बतलाते हैं)। उस (आज्य) को सम्पूर्ण यज्ञ के लिए (चार बार करके आज्यस्थाली में से ध्रुवा में) ग्रहण करता है। (तात्पर्य्य यह हुआकि, ध्रुवा में आज्यस्थाली से चार बार करके जो आज्यग्रहण किया जाता है, इस आज्यग्रहण का सम्बन्ध न तो प्रधानदेवता के साथ ही है, न केवल गौणदेवता के साथ ही। अपितु गौण, प्रधान, स्विष्टकृत्, आदि सम्पूर्ण देवताओं से युक्त सम्पूर्णयज्ञ की सिद्धि ही इस आज्यग्रहण का मुख्य उद्देश्य है। क्योंकि सम्पूर्णयज्ञ इस ग्रहण का उद्देश्य है, एवं 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस

निगम के अनुसार सर्वत्व चार पर्वों पर निर्भर है, अतः बिना नाम निर्देश के केवल चार बार करके ही आज्यस्थाली से ध्रुवा में आज्यग्रहण करना न्यायसङ्गत बनता है। यही स्पष्ट करते हुए आगे जाकर श्रुति कहती है)—

उस (आज्य का देवतादि के नाम निर्देश के बिना आज्य के ही रूप से ग्रहण करता है। किस देवता के लिए नाम निर्देश करे, जब कि (इस ध्रुवा में) सभी (गौण, मुख्य, स्विष्टकृदादि) देवताओं के लिए * अवदान' (अंश विभाग) करता है। (अर्थात् जब ध्रुवा सब की प्रतिष्ठा है, तो मानना पड़ेगा कि, ध्रुवा-स्थित आज्य भी सब की प्रतिष्ठा है। इस में नाम वाले, बिना नाम वाले, गौण—मुख्य सभी देवता संयुक्त हैं। ऐसी दशा में नाम—आग्रह के सम्बन्ध में अधिक से अधिक 'सर्वाभ्यः—सर्वस्मै' कहना पर्य्याप्त है। जब 'सर्वस्मै—सर्वाभ्यः' स्वतः सिद्ध है, तो ग्रहण काल में इन प्रयोगों की भी कोई, आवश्यकता नहीं रह जाती। अतएव (सर्वप्रतिष्ठारूप होने से ही) किसी का नाम निर्देश किए बिना (आज्य-स्थाली में से ध्रुवा में) आज्य के रूप से ही (चार बार करके आज्य) ग्रहण करता है ॥१०॥

❀ २-इति-आज्यग्रहणसंख्याप्रकरणम्

---

*—आज्यस्थाली में से उपयोगानुसार ध्रुवा में चार बार कर के आज्य ग्रहण करना ही 'अवदान' है।

* ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर १० वीं कण्डिका तक ५ कण्डिकाओं का एक स्वतन्त्र प्रकरण मानना चाहिए। इस प्रकरण में प्रधानरूप से आज्यग्रहण की संख्याओं का ही विचार हुआ है। इस से आगे उपपत्ति प्रकरण चलेगा, एवं सर्वान्त में पद्धति प्रकरण आएगा। पञ्चकण्डिकात्मक प्रस्तुत प्रकरण में केवल संख्याओं का विचार हुआ है, अतः इसे 'आज्यग्रहण संख्याप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

३—आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, जुहू में स्रुव के द्वारा ध्रुवा में से चार बार एवं उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण किया जाता है । 'चतुर्जुह्वां-अष्टौ कृत्व उपभृति' इस चार–आठ संख्या की क्या उपनिषत् ? षट्–(६)–कण्डिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)—

(यज्ञकर्म्म में दीक्षित, यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति आगमन का द्वार अवरुद्ध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है, वह (शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आज्य यजमान का प्रतिरूप है, एवं उपभृत् में प्रतिष्ठित आज्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है) । अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है । (अर्थात् जुहू-स्थित आज्य भोक्ता का प्रतिरूप है, एवं उपभृत् स्थित आज्य भोग्य का प्रतिरूप है) । (दक्षिण बाहु की प्रतिरूप) जुहू अत्ता है, (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत् आद्य है ।

(उक्त यजमान–यजमानशत्रु, अत्ता–आद्य, इन दो द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि, जुहू को यजमान, तथा भोक्ता समझ कर, उपभृत् को यजमानशत्रु, तथा भोग्य समझ कर ही आज्यग्रहण–सम्बन्धिनी संख्याओं के नियतभाव की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए । क्योंकि यह द्वन्द्व–भाव ही संख्योपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है । यह है–मौलिक परिस्थिति । इसे अपने लक्ष्य में रखता हुआ) वह (अध्वर्यु) नियमितरूप से (वै) चार बार जुहू में आज्यग्रहण करता है, एवं आठ बार में करके उपभृत् में (आज्यग्रहण करता है) ॥१॥

* सो जो कि (अध्वर्यु) जुहू में चार बार ग्रहण करता है (इस की उपपत्ति बतलाते हैं)। (जुहू में चार बार करके आज्य ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहण कर्म्म से) अत्ता (यजमान) को ही अतिशय सीमित, और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आज्यग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्यु उपभृत् में आठ बार करके (आज्य) ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् में आठ बार करके आज्य ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहण-

---

* ब्राह्मणग्रन्थों की यह एक नियत शैली है कि, जब वे कर्म्मों का ब्राह्मण (विज्ञान, मौलिकरहस्य, उपपत्ति) बतलाने का उपक्रम करते हैं, तो आरम्भ में समाधानोपक्रमगर्भित प्रश्नार्थक वाक्यों का प्रयोग करते हैं। जैसा कि-"तद्यदप उपस्पृशति" (श० १।१।१)—"अथातोऽशनानशनस्यैव" (श० १।१।७)—"अथ यद् द्वन्द्वम्" (श० १।१।२२) इत्यादि प्रश्नार्थक वाक्यों से स्पष्ट है। इन वाक्यार्थों की सङ्गति—"सो जो कि पानी का उपस्पर्श करते हैं—(उस की उपपत्ति बतलाते हैं)—"अब यहां से अशन-अनशन की ही—(मीमांसा की जाती है)-'अब जिस लिए कि द्वन्द्व भाव है (वह कारण बतलाते हैं)" इस रूप से की जायगी। प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शैली के अनुसार ही—"अथ यत् चतुर्जुह्वां गृह्णाति" समाधानोपक्रमगर्भित (उपपत्ति जिज्ञासारूप) यह प्रश्नार्थक वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अतः इस का अर्थ—"अब जिस लिए कि जुहू में चार बार ग्रहण करते हैं (उस का कारण बतलाते हैं)" यह करना पड़ेगा। अनन्तर अनुवाद-सङ्गति के लिए उक्त वाक्यार्थ के आगे 'जुहू में चार बार ग्रहण करताहुआ अध्वर्यु' इस वाक्य का सम्बन्ध ऊपर से और जोड़ना पड़ेगा। प्रकृत में इस शैली से यही बतलाना यह है कि, कहीं कहीं व्याख्याताओं नें—'सो जो कि जुहू में चार बार आज्य ग्रहण करता है, अत्ता को ही इस ग्रहण से परिमिततर करता है' यह अर्थ किया है। परन्तु ऐसा अर्थ ब्राह्मण शैली से सर्वथा विरुद्ध, अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में उपक्रम-वाक्य स्वतन्त्र माना जायगा, एवं आगे के उत्तर-प्रकरण की सङ्गति के लिये पूर्ववाक्यार्थ से आगे 'तदुच्यते' 'तत्कारण-मीमांसा क्रियते' इत्यादि नवीन वाक्यों का समावेश करना पड़ेगा।

कर्म्म से) आद्य (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत, और संख्या में ब
करता है । जहां भोक्ता कम होंगे, एवं भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी, अवश्य ह
वह (गृहस्थपरिवार, यज्ञकर्म्म, आदि) समृद्ध हैं (समृद्ध मानें जायेंगे) । (तात्पर्य
यही हुआ कि, पूर्वकथनानुसार जुहू का आज्य भोक्ता है, एवं उपभृत का आज्य
भोग्य है । जहां, जिस संस्था में भोक्ता की अपेक्षा भोग्यसामग्री अधिक होती है,
वहां समृद्धि मानी जातीं है । इसी समृद्धि का यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए
भोक्तास्थानीय जुहू का आज्यभाग संख्या में कनीयान् किया जाता है, एवं भोग्य-
स्थानीय उपभृत् का आज्यभाग भूयान् बनाया जाता है) ॥ १२ ॥

वह (अध्वर्यु) जुहू में चार बार (आज्य) ग्रहण करता हुआ (आठबार वाले
उपभृत् की अपेक्षा) मात्रा में अधिक आज्य ग्रहण करता है (एवं) उपभृत में
आठबार करके (आज्य ग्रहण करता हुआ (चार बार वाले जुहू की अपेक्षा) थोड़ा
आज्य ग्रहण करता है । (तात्पर्य्य यह हुआ कि, यद्यपि जुहू में स्रुवा से आज्य
लिया जाता है, चार ही बार, तथापि जुहू की आज्यमात्रा उपभृत की आज्यमात्रा
से अधिक होती है, जब कि जुहू में उपभृत की अपेक्षा चार बार कम डाला जाता
है । एवमेव उपभृत में यद्यपि आज्य लिया जाता है, आठ बार, तथापि उपभृत्
की आज्यमात्रा जुहू की आज्यमात्रा से भी कम रहती है, जब कि उपभृत् में जुहू
की अपेक्षा चारबार अधिक डाला जाता है ॥१३॥

सो जो कि (अध्वर्यु) जुहू में चार बार ही (आज्य) ग्रहण करता हुआ भी
(उपभृत् की अपेक्षा) अधिक आज्यग्रहण करता है, (उस का कारण बतलाते हैं)।
(जुहू में चार बार में हीं उपभृत् की अपेक्षा अधिक आज्य ग्रहण करता हुआ
अध्वर्यु) इस भूयोग्रहणकर्म्म से अत्ता को (चार संख्या से) अतिशय सीमित, (एवं)
अल्प करता हुआ, (भूयो ग्रहण से) इस (अत्ता) में (आद्य की अपेक्षा) वीर्य्य,
(और) बल का आधान करता है । तात्पर्य्य यह निकला कि, चार संख्या की

दृष्टि से जहां अत्ता संख्या की अपेक्षा कम है, वहां आज्य की अधिकता से वीर्य्य, तथा बल में आद्य की अपेक्षा–अधिक है)।

सो जो कि (अध्वर्यु) उपभृत् में आठ बार (आज्य) ग्रहण करता हुआ (जुहू की अपेक्षा) थोड़ा आज्य ग्रहण करता है, (उस का कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् में आठ बार में भी जुहू की अपेक्षा थोड़ा आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) इस अल्पग्रहण कर्मसे आद्यको (आठ संख्या से) अतिशय विस्तृत, (एवं) बड़ा बनाता हुआ (अल्पग्रहण से) इसे (आद्य को) वीर्य्य, तथा बल में (अत्ता की अपेक्षा) शून्य बनाता है। (तात्पर्य्य, आठ संख्या से जहां आद्य संख्या; तथा आयतन में बड़ा है, वहां मौलिक वीर्य्यरूप आज्य की अल्पता से अत्ता की अपेक्षा यह वीर्य्य, बल से शून्य है, निर्वीर्य्य है, निर्बल है) निष्कर्ष यही निकला कि, अत्ता सदा आज्य पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रक्खे, आद्य सदा इसके सामने नतमस्तक रहे, इसी रूपसमृद्धि के लिए अत्ता--स्थानीय जुहू में अधिकमात्रा से तथा आद्य-स्थानीय उपभृत् में अल्पमात्रा से आज्य ग्रहण करना प्राकृतिक है।

(एकाकी रहता हुआ अत्ता अधिक वीर्य्य, बल के सम्बन्ध से हीनवीर्य्य, हीनबल, अनेकों आद्यों पर कैसे अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है ?, इस सम्बन्ध में प्राकृतिक–नित्यवर्णानुगत 'राजा–प्रजा' का उदाहरण उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है)—

इसीलिए तो (तस्मादुत–आद्य की अपेक्षा अत्ता के विशेष बलवीर्य्यवान होने से ही तो राष्ट्राधिपति एक) राजा अपार (असंख्य–अगणित–अनगिनती) प्रजा को प्राप्त होकर भी स्वयं एक घर से (एका की ही उस असंख्य प्रजा को) अपने वश में कर लेता है। (यही नहीं, अपितु राष्ट्र की आवश्यकता के लिए यह राष्ट्रपति राजा) जब जब जैसी जैसी जिस जिस वस्तु की कामना करता है, तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलषित वस्तु को भी (उस आद्यस्थानीया प्रजा से बल-वीर्य्य के प्रभाव से) प्राप्त करता रहता है। इसी वीर्य्य से (राजा यह सब कुछ राज्य-प्रजा

वैभव प्राप्त करने में समर्थ होता है, जो कि यह अपनी जुहू (रूप दक्षिण बाहू) में अधिक आज्य (वीर्य्य) ग्रहण करता है । (अपने बाहुबल, तथा आत्मवीर्य्य से राजा एकाकी रहता हुआ भी असंख्यात प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रभुत्व बनाए रखता है, यही तात्पर्य्य है) ।

वह अध्वर्य्यु जिस आज्य को जुहू में लेता है, उस आज्य की (तो) आहुति जुहू से देता (ही) है, (परन्तु) जिस आज्य का उपभृत् से ग्रहण करता है, (उस की भी आहुति उपभृत से न देकर) जुहू से ही आहुति देता है । (तात्पर्य्य यह हुआ कि आज्यग्रहण कर्म्म पृथक् पृथक् जुहू उपभृत् में होता है, परन्तु आहुति दोनों के आज्य की जुहू से ही दी जाती है ॥*॥१४॥

(यज्ञपद्धति का यह एक स्वाभाविक नियम देखा जाता है कि, जिस पात्र, किंवा पात्री में आहुतिद्रव्य लिया जाता है, उसी पात्र, किंवा पात्री से आहुति दी

*—१२ वी कण्डिका की टिप्पणी में ब्राह्मणग्रन्थ की जिस प्रतिपादन-शैली का स्पष्टीकरण किया गया है, पाठक देखेंगे कि १३-वीं, १९ वीं, कण्डिकाओं के प्रारम्भिक वाक्यों से उस शैली का सर्वात्मना समर्थन होरहा है । उत्तरोपक्रमगर्भित, प्रश्नार्थक वाक्यों का सर्वत्र 'स यत्'—'अथ यत्'—'अथातः' इत्यादि रूप से आरम्भ होता है । एवं उत्तरवाक्यों से सम्बद्ध पूर्ववाक्यों का उपक्रम 'स वै'—'तद्धि' 'तद्वा एतम्' इत्यादिरूप से होता है । जैसा कि १३ वीं कण्डिका के आगे के प्रकरण से सम्बद्ध "स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन्भूयऽआज्यं गृह्णाति" इस सामान्य उपक्रम वाक्य से, एवं १४ वीं कण्डिका के उत्तर प्रकरण से अनन्वित, स्वतन्त्र, अतएव अन्यवाक्यसापेक्ष, उत्तरोपक्रमगर्भित, प्रश्नार्थक—"स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति' (तत्कारणमुच्यते—इति वाक्यशेषः)"

इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होरहा है । ब्राह्मण ग्रन्थों की इन परिभाषाओं के न जानने से 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पातः' न्याय से व्याकरण के बलपर केवल शब्दार्थ के अनुगमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बड़ी भ्रान्ति हो जाती है । अतः पाठकों से इस सम्बन्ध में साग्रह निवेदन किया जायगा कि, अर्थसमन्वय करतेहुए वे परिभाषाओं का भलीभांति स्पष्टीकरण करलें ।

जाती है। परन्तु पूर्वश्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् में, एवं आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वैषम्य का क्या कारण ? इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपपादन कर, अन्त में समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

(उपभृत में गृहीत आज्य की उपभृत से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए, इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में) कितनें एक विद्वान् कहते हैं कि (* तदाहुः), यदि (उपभृत् में गृहीत आज्य की) उपभृत् से आहुति नहीं देते, तो फिर क्यों (किस प्रयोजन के लिए) उपभृत् में (आज्य) ग्रहण किया जाय ?। (प्रश्नकर्त्ता विद्वानों का अभिप्राय यही है कि, आहुति देने के लिए ही तो आज्य-ग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् से आहुति ही नहीं दी जाती, तो इस में आज्य ग्रहण की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है ?)।

(श्रुति उत्तर देती है कि)—यदि वह (अध्वर्यु)—(उपभृत् में गृहीत आज्य की) उपभृत से आहुति देगा, तो ये सारी प्रजाएं (अपना स्वाभाविक संघठन तोड़ कर) स्वतन्त्र बन जायँगीं। न अत्ता रहेगा, न आद्य (सुरक्षित) रहेगा। (उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, उपभृत् में गृहीत आज्य, एवं उपभृत्, दोनों आद्यस्थानीय बनते हुए प्रजा स्थानीय हैं। जुहू में गृहीत आज्य, तथा जुहू, दोनों अत्तास्थानीय बनने हुए 'राजा-स्थानीय' हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रजास्थानीय उपभृत् से ही प्रजास्थानीय आज्य की आहुति दी जायगी, तो, उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्वतन्त्र बन जायगी, जो कि निरंकुश, अमर्य्यादित स्वातन्त्र्य तत्त्वतः पारतन्त्र्य बनता हुआ राजा-प्रजा, दोनों के नाश का कारण माना गया है। परन्तु जब, उपभृद्गृहीत आज्य की राजास्थानीय जुहू (के आश्रय) से आहुति दी जाती है, तो उपभृदाज्यरूप प्रजावर्ग जुहूरूप राजा की रक्षा में आकर विप्लव

*—जहां कहीं श्रुति को किसी अन्य के द्वारा प्रश्नात्मक, आक्षेपयुक्त पूर्वपक्ष करना होता है, वहां सर्वत्र आरम्भ में 'तदाहुः' का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दों में 'तदाहुः' वाक्य सर्वत्र प्रश्नात्मक समझना चाहिए, यहभ ब्राह्मण ग्रन्थों की स्वाभाविक शैली है।

से बच जाता है। इसी राष्ट्रीय एकीकरण के लिए उपभृत-गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक शैली से व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है)—

(उपभृत में आज्यग्रहण करने के लिए) अनन्तर जिसलिए कि (उपभृत-गृहीत आज्य को) जुहू में ही लेकर आहुति देते हैं-(इसका कारण बताते हैं)। (औपभृत्-आज्य को जुहू में लेकर) आहुति देने से ही ये प्रजाएं क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य की अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है। क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अत्ताभाव की प्राप्ति के लिए आहुति देदी जाय, अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर (आद्यभाव की रक्षा के लिए) जुहू से ही आहुति देदी जाय। पहिले उपभृत् में लेना, पुनः उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना इस द्रविड़-प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्त्तव्यता पूरी करली जाय ?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

(जुहू में चार बार ग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में (ही आठ बार आज्य) ग्रहण करते हैं, (इसका कारण बतलाते हैं)। (आद्यलक्षण प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में ही होता है) इसलिए ही क्षत्रिय (राजा) के वश में (रक्षा में) रहते हुए ही वैश्य (प्रजा) के प्रति-पशु (सम्पत्तिवर्ग) उपस्थित होते हैं। (उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, जिस प्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है, उसी प्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही स्वाहा कर जाय, उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) पनपने

का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशु सम्पत्ति (धन, कृषि, पशु आदि बहिर्वित्त) से युक्त न बनें । और उस दशा में राजा का राजापना ही सुरक्षित न रहे । अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को एकांश से स्वतन्त्र-रखना भी आवश्यक है । उपभृत् जुहू पर रक्खी रहती है । जुहू आधार है, आश्रय है, उपभृत आधेय है, आश्रित है । यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है । इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बनें, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्खे हुए उपभृत में हीं आज्यग्रहण किया जाता है) ।

(इस प्रकार पहिले उपभृत में आज्यग्रहण कर, अनन्तर औपभृत्-आज्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ? इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में हीं-**'तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति'** इत्यादि-रूप से दिया जाचुका है । इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, प्रजा राजा को बलि (कर) प्रदान करती रहे, राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने । अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए श्रुति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है)—

(जुहू पर रक्खे हुए उपभृत में आठ बार आज्यग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (उस औपभृत्-आज्य को) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते हैं (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं) । क्योंकि औपभृदाज्य की उपभृत से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है) अतएव जिस समय भी क्षत्रियराजा (राष्ट्र हित के लिए जिस सम्पत्ति की) कामना करता है, कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं वह वैश्य (प्रजा) को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि, वैश्य ! तुम्हारा जो अत्यन्त सुरक्षित (सुगुप्त) पर (परकीय धन) है, उसे (राष्ट्रहित के लिए) शीघ्र ले आओ । (आज्ञानन्तर वैश्यद्वारा प्राप्त धन को) वह राजा अपने अधिकार में कर लेता है ।* इसी प्रकार राजा को (राष्ट्रसञ्चालन कर्म्म में) जब

जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, इन्हीं सम्पन्न वैश्यों के द्वारा वैसी वे वस्तुएं प्राप्त होतीं रहती हैं (और इस स्वाभाविक सम्पत् प्राप्ति का एक मात्र कारण है) वीर्य्यप्रभाव । (तात्पर्य्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी, तो इसका यह अर्थ होगा कि, राजा ने प्रजा को सञ्चित - धन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी । प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है । यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा, तो राजा के राष्ट्र की अर्थशक्ति नष्ट हो जायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसंचालन के लिए सम्पत्ति–संग्रह न कर सकेगा । ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृदाज्य की जुहू द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि, प्रजाद्वारा सञ्चित धन राजा की रक्षा में आगया । इसी लिए अब राजा जब भी चाहेगा, तभी प्रजा के उस गुप्त (सुरक्षित) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएं पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृदाज्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

(जुहू, और उपभृत में क्रमशः ४–८ करके जो आज्य ग्रहण होता है, इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी, बतला दी गई । अब तीसरा 'ध्रुवा' नामकी स्रुक् शेष रहगई, जिससे कि स्रुव द्वारा जुहू–उपभृत् में आज्यग्रहण होता है । इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा–सम्बन्धी आज्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी । तथापि ध्रुवा-पात्र अङ्गभूत इतर दोनों स्रुचों (जुहू–उपभृत) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वयज्ञप्रतिष्ठा है, अतः ध्रुवा के इस सर्वभाव को दृढ़मूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचों का भी सिंहावलोकन कर दिया जाता है ।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज, तथा ऋतुरूप प्रयाज, दोनों के लिए क्रमशः उपभृत्–तथा जुहू में आज्यग्रहण होता है, तथापि ध्रुवा–सम्बन्ध में बतलाई जाने-

वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्दःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध माना है, जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद से स्पष्ट होरहा है।)

(आज्यस्थाली से चार बार करके ध्रुवा में, ध्रुव से स्रुवद्वारा चार बार कर के जुहू में, एवं ध्रुवा से स्रुवद्वारा आठ बार करके उपभृत् में गृहीत होने वाले) वे ये आज्य छन्दों के लिए गृहीत होते हैं-(छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है)। सो जो कि जुहू में चार बार करके (आज्य) ग्रहण करता है, वह गायत्रीछन्द के लिए ही ग्रहण करता है। जो कि उपभृत में आठ बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है, वह त्रिष्टुप्, जगती छन्दों के लिए ग्रहण करता है। जो कि (आज्यस्थाली से) ध्रुवा में चार बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है, वह अनुष्टुप्छन्द के लिए ही ग्रहण करता है। अनुष्टुप् ही वाक् है। वाक् से ही यह (सब भौतिक प्रपञ्च) उत्पन्न हुआ है। इसी लिए (वाक्प्रतिरूप) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न होता है। अनुष्टुप् (वाक्) ही यह (पृथिवी) है। इसी (पृथिवी) से यह सब (स्तौम्यत्रिलोकीरूप भूतप्रपञ्च) उत्पन्न होता है। इसीलिए (पृथिवीप्रतिरूप) ध्रुवा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ॥१६॥

❋ ३-इति-आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्

* जैसा कि मूलानुवादप्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है, ११ से १६ तक की ६ कण्डिकाओं में आज्यग्रहण की उत्पत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है। अतएव हमने षट कण्डिकात्मक इस प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए 'आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया है।

४-पद्धतिप्रकरणम्-

किन में, किन से, किनके लिए, कितनी बार आज्यग्रहण होता है ? पूर्व-प्रतिपादित ३ प्रकरणों में इन्हीं प्रश्नों का समाधान हुआ है। अब कैसे आज्य ग्रहण करना चाहिए ? पद्धतिरूप यह प्रश्न बाकी बच रहता है। आगे की क्रमप्राप्त १७-१८ कण्डिकाओं से इस आज्यग्रहण-पद्धति का निरूपण करता हुआ, अष्टादश (१८) कण्डिकात्मक, प्रकरणचतुष्टयात्मक, 'आज्यग्रहण ब्राह्मण' नामक, १ काण्ड-३ अध्याय का दूसरा (३।२), तथा द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण (२।५) समाप्त होता है।

वह अध्वर्यु—**'धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि'** (यजुः सं० २ अ०। ३१ मं०) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यग्रहण करता है। (अर्थ-सुविधा के लिए मन्त्र को दो भागों में विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अर्थ करती हुई श्रुति कहती है)—'यह देवताओं का अत्यन्त प्रिय स्थान (रमण-साधन) है, जो कि आज्य है। इसीलिए **'धाम नामासि प्रियं देवानाम्'** यह कहा गया है। (मन्त्र के द्वितीय भाग का अर्थ करते हैं) 'आज्य वास्तव में वज्र है, (देवयजन है—देवताओ की यज्ञद्वारा परस्पर सङ्गति कराने वाला है)। इसी अभिप्राय से **'अनाधृष्टं देवयजनमसि'** यह कहा गया है ॥१७॥

वह अध्वयु इस (उक्त) यजु से (मन्त्र से, मन्त्र बोलता हुआ) जुहू में एकबार आज्यग्रहण करता है, तीन बार चुपचाप (ग्रहण करता है)। (तात्पर्य्य यह है कि, जुहू में चार बार आज्यग्रहण का विधान है। इन में आरम्भ में एकबार तो मन्त्र बोलते हुए ग्रहण करना चाहिए, एवं तीन बार बिना मन्त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए)। उपभृत् में एकबार (तो) इसी यजु से (मन्त्र बोलता हुआ) आज्यग्रहण करता है, एवं सात बार चुपचाप (बिना मन्त्र प्रयोग के) आज्यग्रहण करता है। ध्रुवा में (आज्यस्थाली में से) एक बार तो इसी यजु से

(मन्त्र बोलता हुआ) आज्यग्रहण करता है, एवं तीन बार चुपचाप (बिना मन्त्र प्रयोग के) आज्यग्रहण करता है।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि, (ध्रुवा, जुहू, उपभृत्, तीनों में आज्यग्रहण करते हुए प्रत्येक में) तीन तीन बार यजु से (मन्त्रपूर्वक) आज्यग्रहण करना चाहिए । क्योंकि, यज्ञ त्रिवृत् (नवाक्षरविराट्सम्पत्ति से युक्त) है। (आक्षेपगर्भित प्रश्न—कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि, जब यज्ञ त्रिवृत् है, और त्रिवृत् सम्पत्ति बिना तीन तीन बार यजुः प्रयोग—मन्त्रप्रयोग—के सम्भव नहीं, तो ऐसी दशा में जुहू—उपभृत्—ध्रुवा, तीनों की ४—८—४ इन ग्रहण संख्याओं में से क्रमश ३—३—३ रूप से तो मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए एवं १—५—१ इस संख्याओं के अनुरूप तृष्णीं आज्यग्रहण करना चाहिए, तभी त्रिवृत् सम्पत्ति प्राप्त होसक्ती है)।

(उक्त पूर्वपक्ष का तटस्थ—रूप से खण्डन करती हुई, सकृत् पक्ष को ही सिद्धान्तपक्ष बतलाती हुई श्रुति कहती है)— इस आज्यग्रहण कर्म्म में एक एक बार ही मन्त्रपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए। इस (सकृत्—सकृत परिग्रहण कर्म्म) में भी आज्य का (समाहाररूप) तीन बार ग्रहण होजाता है। (इस प्रकार सकृत् पक्ष में ही त्रिवृत् सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१८॥

४—इति—आज्यग्रहणपद्धतिप्रकरणम्

१—काण्ड—द्वितीय प्रपाठक का पाँचवा ब्राह्मण समाप्त (१।२।५।)

२—काण्ड—तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त (१।३।२।)

मूलानुवाद—समाप्त

५—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह—

(जुहू में स्रुव से चार बार आज्यग्रहण)

आज्यावेक्षण कर्म्म के अनन्तर 'आज्यग्रहणकर्म्म होता है। आज्यस्थाली में रक्खे हुए आज्य को स्रुवा द्वारा जुहू—उपभृत् में डालना हीं आज्यग्रहण कर्म्म है। इसी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां-"धामनामेति" सकृन्मन्त्रः" इति।
(का० श्रौ० सू० २।७।९)।

उक्त सूत्रादेशानुसार अध्वर्य्यु—"ओं धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि" (हे आज्य ! आप देवताओं के लिए प्रिय 'धाम' नाम वाले हो, आप किसी भी आसुरभाव से घर्षण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के देवयजन (देवयजनभूमिस्थानीय) हो" यजुः १।३१) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थाली में से स्रुवा को पूर्ण भर कर चार बार जुहू में आज्य डालता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमवार आज्यग्रहण में हीं होता है। शेष तीन बार बिना मन्त्रोच्चारण के तूष्णीं हीं आज्यग्रहण होता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, अध्वर्यु स्रुवा को चार बार पूर्णरूप से आज्यस्थाली में भरेगा। इन में एक बार तो उक्त मन्त्र बोलता हुआ जुहू में डालेगा, शेष तीन बार चुपचाप जुहू में डालेगा।

(उपभृत् में स्रुव से आठ बार आज्यग्रहण)

जुहू में स्रुव से पूर्णरूप से चार बार आज्यग्रहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार कर के अपरिपूर्णरूप से आज्यस्थाली में से स्रुवाद्वारा आठ बार उपभृत् में आज्य ग्रहण किया जाता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

"अष्टावुपभृत्यल्पीयोऽनुयाजश्चेत्" (का० श्रौ० सू० २।७।१०)।

यदि दर्शपूर्णमास में अनुयाज का सम्बन्ध है, तो आठ बार कर के उपभृत् में अपूर्ण आठ स्रुवों से आज्य ग्रहण किया जाता है। प्रकृत इष्टि में छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक है, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए 'चेत्' कहा गया है। यदि अनुयाजकर्म्म है, तब तो आठ बार उपभृत् में आज्यग्रहण होगा, अन्यथा केवल जुहू में ही चार बार आज्य ग्रहण होगा।

"यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्-गृह्णाति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत् में जो आठ बार आज्यग्रहण होता है, उस में चार बार गृहीत आज्य का तो ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं से सम्बन्ध है, एवं चार बार गृहीत आज्य का छन्दोरूप अनुयाज देवताओं से सम्बन्ध है। अनुयाजों को पूर्वसूत्र ने वैकल्पिक बतलाया है। इस सम्बन्ध में एक संशय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत इष्टि में अनुयाज-कर्म्म का अभाव है, अथवा तो पृषदाज्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी कर ली जाती है, तो ऐसी परिस्थिति में उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण करना, अथवा चार बार?। इस सम्बन्ध में अपना निर्णय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"चतुरन्यत्र, प्रतिविभागात्" (का० श्रौ० सू० २।७।११)।

यदि प्रकृत इष्टिकर्म्म में अनुयाजकर्म्म का अभाव है, अथवा तो पृषदाज्यादि अन्यद्रव्य से अनुयाजकर्म्म सम्पन्न करना अभीष्ट है, तो उस दशा में प्रतिविभाग मर्य्यादा से उपभृत् में चार बार ही आज्यग्रहण करना चाहिए। उपभृत्-में प्रतिष्ठित, अतएव औपभृत नाम से प्रसिद्ध आज्य ४-४ क्रम से क्रमशः प्रयाज, अनुयाज दोनों के लिए विहित है। जब कि औपभृत आज्य उभयार्थ है, और अनुयाजकर्म्म अपेक्षित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में केवल प्रयाजकर्म्म की सिद्धि के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना नियमप्राप्त बनता है। इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप से एक दूसरा हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पश्वातिथ्यादर्शनाच्च" (का० श्रौ० सू० २।७।१२)

पशुबन्ध में, तथा आतिथ्येष्टि में होने वाले अनुयाज कर्म्म की सिद्धि के लिए उपभृत में चार बार ही आज्य ग्रहण देखा जाता है। यदि अनुयाज कर्म्म वैकल्पिक होता है, तो प्रयाज के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना चाहिए, यही प्रतिविभाग व्यवस्था न्यायतः प्राप्त है। पशुबन्ध के सम्बन्ध में **"जुह्वां चोपभृति च चतुर्गृहीतं गृह्णाति"** (आप० श्रौ० ७।१।६) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रतिविभाग मर्य्यादा का समर्थन हुआ है। एवमेव आतिथ्येष्टि के सम्बन्ध में भी **"सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति, न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति"** (शत० ब्रा० ३।३।२।६) इत्यादि रूप से इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अब इस सम्बन्ध में ब्राह्मण श्रुति के आधार पर एक नया पूर्वपक्ष उठाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"न, कृत्स्नोपदेशात्" (का० श्रौ० सू० २।७।१३)।

'उपभृत् में आठ बार गृहीत आज्यों में से चतुर्गृहीत आज्य तो प्रयाज के लिए है, एवं चतुर्गृहीत आज्य अनुयाज के लिए है' पूर्व में जो यह सिद्धान्त बतलाया गया है, वह (श्रुतिविरोध से) ठीक नहीं है (न)। क्योंकि—**"अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति"** (शत० ब्रा० १।३।२।६) इस श्रुति में उपभृत् में आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्ण आज्य का केवल अनुयाजकर्म्म के लिए ही विधान हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रतिविभाग—मर्य्यादा का समर्थन नहीं किया जासकता। 'चतुरन्यत्र प्रतिविभागात्' से यह बतलाया गया था कि, उपभृत में आठ बार गृहीत आज्य में से आधे का प्रयाज में, एवं आधे का अनुयाज में उपयोग है। इस का तात्पर्य्य यही है कि, उपभृत् में आठ वार ग्रहण तो अनुयाज के लिए ही होता है, परन्तु जैसे प्रयाज के लिए जुहू में गृहीत आज्य का वचन—प्रमाण से उत्तराधार में विनियोग होजाता है, एवमेव

यहां भी प्रयाज में उपयोग हो जाता है। दूसरा हेतु 'पश्वातिथ्यादर्शनाच्च' यह था। इस सम्बन्ध में—

"पश्वातिथ्योर्वचनात्" (का० श्रौ० सू० २।७।१४)

यह समाधान ही पर्य्याप्त होगा। "अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति" (शत० ब्रा० १।३।२।६) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण औपभृत् आज्य जब कि अनुयाज के लिए है, तब जहां पशुबन्ध में पृषदाज्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजेतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है, एवं आतिथ्यादि में अनुयाज का ही अभाव है, तो उस दशा में वहां उपभृत् में अग्रहण प्राप्त होने पर वचन से चतुर्गृहीतआज्य का ही विधान समझना चाहिए। पहिले से प्राप्त का ही दर्शन सम्भव है। पश्वादि में चूंकि पहिले से प्राप्त नहीं है, अतः वहां वचन ही मानना उचित है। प्रतिपक्षी का तात्पर्य्य यही है कि, जिस पश्वादि दर्शन के आधार पर सिद्धान्ती प्रतिविभाग की मर्य्यादा स्थापित करता हुआ औपभृत् आज्यग्रहण के सम्बन्ध में चतुर्गृहीत आज्यपक्ष स्थापित करना चाहता है, वह ठीक नहीं है। पश्वादि को इस सम्बन्ध में उपोद्बलक नहीं माना जासकता। अपितु "यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति" इस श्रुति से औपभृत् आज्य उभयार्थ न हो कर अनुयाजार्थ ही मानना न्यायसङ्गत है।

प्रतिपक्षी की इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार अपना यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि, "यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इस शाखान्तर वचन के आधारपर औपभृत् आज्य का विधान उभयार्थ ही मानना चाहिए। 'अनुयाजेभ्यो हि तद्-गृह्णाति' (श० ब्रा० १।३।२।६) यह वाजसनेय वचन तो प्राप्त अर्थ का अनुवादमात्र है, न कि विधान। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त यही निकलता है कि, अनुयाजाभाव में, किंवा अन्यद्रव्यानुयाजयुक्त कर्म्म में उपभृत् में चतुर्गृहीत आज्य को

ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए। जुहू, तथा उपभृत् के सम्बन्ध में आज्यग्रहण व्यवस्था कर अब क्रमप्राप्त ध्रुवानुगत आज्य-व्यवस्था करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"ध्रुवायां च जुहूवत्" (का० श्रौ० सू० २।७।१५)।

ध्रुवा में, चकारात् उपभृत् में जुहू की तरह एक वार मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्य ग्रहण होता है, एवं तीन वार तूष्णीं, बिना मन्त्र प्रयोग के आज्य ग्रहण होता है। इस प्रकार अनुयाजपक्ष में तो जुहू-उपभृत्-ध्रुवा में तीनों में क्रमशः ४-८-४ बार आज्य ग्रहण होता है, एवं अनुयाजाभाव पक्ष में तीनों में क्रमशः ४-४-४ बार आज्यग्रहण होता है। दोनों ही पक्षों में एक एक बार मन्त्र प्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण होता है, शेष तीन बार तूष्णीं आज्यग्रहण होता है, और आज्य-ग्रहण से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रानुगतपद्धति-क्रम का यही संक्षिप्त स्पष्टी-करण है।

इति-सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

३–वैज्ञानिकविवेचना—

यज्ञेतिकर्त्तव्यता की उपनिषत् क्या ? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही पहिला 'यज्ञप्रतिरूपरहस्य' नामक प्रकरण आरम्भ होता है। इस उपपत्ति–प्रकरण में प्रथम आध्यात्मिक यज्ञ का स्पष्टीकरण हुआ है, अनन्तर आधिदैविकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है। उपपत्ति–प्रकरणारम्भ से पहिले हम आज एक बहुत बड़ी विप्रतिपत्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। 'हमारा वेदशास्त्र विज्ञान का भण्डार है' इस सूक्ति के उच्चारण करते ही वर्त्तमान जगत् प्रश्न–परम्परा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। "यदि वेद में विज्ञान है, तो क्या उस वैदिक–विज्ञान के आधार पर भारतीय भी वर्त्तमान जगत् के से विविध भौतिक आविष्कार कर सकते हैं ?"। इस प्रश्न का महत्व उस समय और भी बढ़ जाता है, जब कि वेदाक्षरों की व्याख्या करते समय पदे पदे 'विज्ञान' शब्द का पुनरावर्त्तन होने लगता है। भारतवर्ष के सर्वोत्कृष्ट देवयुगकाल में विमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का भलीभांति समाधान कर सकते थे, इस में कोई सन्देह नहीं। और ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिक रूप से अपना अतीत अहंभाव सुरक्षित रखने में पूर्ण समर्थ हैं। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि, यदि भारतीय विद्वानों को पूर्णराज्याश्रय मिले, तो वे आज ही विलुप्तप्राय वैदिक विज्ञान–परम्परा के पुनरुद्धार द्वारा भौतिक आविष्कारों से अपना अतीत वर्त्तमान कोटि में ला सकते हैं।

इस प्रकार भौतिक विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विमानादि भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में अपने त्रिकालज्ञ, विदितवेदितव्य, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्थ, महा–महर्षियों के यशः सौरभ को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में हमें अपना यह मन्तव्य स्पष्ट करना ही पड़ेगा कि, भारतीय महर्षियों के 'वैज्ञानिक जगत्' की परिभाषा अपना कोई विशेष महत्व रखती है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, ऋषियों की उस तात्विक वैज्ञानिक परिभाषा की तुलना में भौतिक आविष्कारों से

से सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक परिभाषा कोई विशेष महत्व नहीं रखती। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि, ऋषियों का वैदिकविज्ञान प्रधानतः जिन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं, उनके अतिरिक्त किसी चौथे (भौतिक आविष्कारानुगत) विज्ञान पर उनकी दृष्टि सदा से नहीं के समान रही है। यही कारण है कि जिस देवयुग में विमानादि भौतिक आविष्कार विद्यमान थे, उस युग में भी ये आविष्कार सर्वलोक व्यवहार में न आसके थे। भौतिक आविष्कार माननीय बुद्धि में जड़ता का समावेश करते हुए उसमें जहां प्रतिहिंसा लक्षण आसुर-भाव का समावेश करते हैं, वहां साथ साथ ही इनके अतिशय व्यवहार से मानव समाज की प्राकृतिकशक्तियां, स्वतः सिद्ध पौरुष भी ह्रासानुगत बनता रहता है। आत्मस्वातन्त्र्य के अन्यतम शत्रु येही भौतिक आविष्कार हैं। ऋषि इन की इस भीषणता से परिचित थे, अतएव इस ओर सदा से उन्हों नें उपेक्षावृत्ति को ही प्रधानता दी। फलतः इन भौतिक आविष्कारों के आधार पर न तो वैदिक-विज्ञान का महत्व कम ही किया जासकता, न इस सम्बन्ध में वैदिकविज्ञान के सामने आक्षेपात्मक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की धृष्टता की जासकती।

ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। आधिभौतिकविज्ञान ही 'यज्ञविज्ञान' है, इसी के आधारपर हमारा गृहस्थाश्रमानुबन्धी 'कर्म्मकाण्ड' प्रतिष्ठित है। आधिदैविक विज्ञान ही 'ईश्वरविज्ञान' है, इसी के आधार पर वानप्रस्थाश्रमानुबन्धी 'उपासनाकाण्ड' प्रतिष्ठित है। एवं आध्यात्मिक विज्ञान ही 'जीवविज्ञान' है, तथा इसी के आधार पर संन्यासाश्रमानुबन्धी 'ज्ञानकाण्ड' प्रतिष्ठित है। कर्म्म, उपासना, ज्ञान, ये तीन हीं मानवसमाज के परमपुरुषार्थ हैं। इन तीनों का क्रमशः मनुष्य की युवा, प्रौढ, वृद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अवस्थाओं में आश्रम विभाग की मर्य्यादानुसार क्रमशः तीनों पुरुषार्थों का अनुगमन करने वाले मनुष्य का इहलोक, परलोक, लोकसंग्रह, आदि सब कुछ गतार्थ होजाता है।

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, उक्त तीनों विज्ञानों का अन्ततो गत्वा 'यज्ञविज्ञान' पर ही पर्य्यवसान है। ईश्वर के साथ सायुज्य–सारूप्य–सामीप्य–सालोक्य रूप से अपने आत्मा को मिला देनाही आधिदैविक विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आत्मप्रपत्तिलक्षणा यह उपासना आत्मा का ईश्वर के साथ यजन कराती हुई यजनलक्षण यज्ञमर्य्यादा से ही युक्त है। एवमेव अपने विशुद्ध, अपहतपाप्मा, जीवात्मा को उस निरुपाधिक, विशुद्ध, व्यापक आत्मतत्त्व में समवलयरूप से आहुत कर देना ही आध्यात्मिक विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आत्मसमन्वय लक्षण यह ज्ञान भी आत्मा का आत्मा के साथ यजन कराता हुआ यजन-लक्षण यज्ञमर्य्यादा से बाहिर नहीं माना जासकता। इस प्रकार यज्ञविज्ञान के गर्भ में इतर दोनों विज्ञानों का भी अन्तर्भाव हो रहा है। इसी आधार पर * 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'–'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्०' इत्यादि मन्त्रवर्णन अन्वर्थ बन रहे हैं।

उक्त तीनों विज्ञानों का समष्ट्यात्मक एक ही नाम है–'विश्वविज्ञान'। क्योंकि सम्पूर्णविश्व अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। त्रिपर्वात्मक, विश्वविज्ञानात्मक इसी समष्टियज्ञ के लिए 'सर्वहुत'–'सर्वमेधस्त्र' इत्यादि नाम प्रयुक्त हुए हैं, जिस का यत्र तत्र प्रकरण विशेषों में विस्तार से प्रति-

---

*—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
(यजुः सं० ३१।१६)।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥
(ऋक् सं० १०।७१।३)।

पादन हुआ है * । सर्वहुत यज्ञ के उक्त तीनों पर्वों का क्रमशः विश्व के **'स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी'** इन तीन पर्वों के साथ सम्बन्ध माना गया है।

योगमायावच्छिन्न, सहस्रवल्शात्मक–महामायावच्छिन्न–अश्वत्थवृक्ष का पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यवल्शात्मक, अतएव पञ्चपर्वात्मक, विश्व के सुप्रसिद्ध पांचों पर्वों का **"स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी"** रूप से गताङ्कों में कई बार उपबृंहण किया जाचुका है। इन पांचों विश्वपर्वों का आगे जाकर **"स्वयम्भू सूर्य्य–पृथिवी"** इन तीन पर्वों में हीं विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि, यज्ञस्वरूप सम्पादक देवताओं का परस्पर यजन होरहा है। पांचों के क्रमशः **'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि'**, ये पांच देवता हैं। इन में ब्रह्मा स्वतन्त्र रहते हैं। येही **'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (श० ब्रा० ६।१।) के अनुसार सर्वप्रतिष्ठा हैं, प्रथमज हैं। विष्णु–इन्द्र,

*—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः समानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ (यजुः सं० ३१।७,८,९,) ।

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि, इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट्, विराड् कृत्स्नमन्नं, कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्धयै। तस्मिन्नग्निं पराध्यँ चिनोति। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां, यत् सर्वमेधः। परमेणैवैनं परमतां गमयति"।

(शत० ब्रा० १३ कां० ।७ अ० १ ब्रा० १ कं०)।

दोनों का एक युग्म है, जैसा कि 'विष्णोः कर्म्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' (श्रुति) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। एवं इन्द्र–सोम (चन्द्र), अग्नि, तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इस प्रकार '१–२–३' इस क्रम से पांचों का तीन हीं संस्थाओं के निर्म्माण में उपयोग होरहा है। प्रथमसंस्था के अधिपति ब्रह्मा है, इनका स्वयम्भू से सम्बन्ध है। द्वितीयसंस्था के अधिपति इन्द्रगर्भित विष्णु हैं, इनका सूर्य्य से सम्बन्ध है। एवं तृतीयसंस्था के अधिपति इन्द्र–सोमगर्भित अग्नि हैं, तथा इनका सम्बन्ध पृथिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा हैं, इन्द्रगर्भितविष्णु विष्णु हैं, इन्द्र–सोम गर्भित अग्नि महेश हैं। इसी विश्वविज्ञान के आधार पर 'आर्यसर्वस्व' (पुराण) ने वैदिकपञ्चदेवतावाद के स्थान में त्रिदेवतावाद को प्रधानता दी है।

पुरुषविज्ञान के अनुसार भी इसी त्रिपर्व का समर्थन होरहा है। अव्ययपुरुषानुगत 'आनन्द' अक्षरपुरुषानुगत 'ब्रह्मा' क्षरपुरुषानुगत 'प्राण', तीनों के सम्बन्ध से आनन्द–ब्रह्मा–प्राणमय बनने वाला स्वयम्भू ही 'आध्यात्मिकयज्ञ' की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगत विज्ञानगर्भित 'मन', अक्षरानुगत विष्णुगर्भित 'इन्द्र', क्षरानुगता अब्गर्भिता 'वाक्' तीनों के सम्बन्ध से मन–इन्द्र–वाङ्मय बनने वाला सूर्य्य ही आधिदैविकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगता प्राणगर्भिता 'वाक्', अक्षरानुगत इन्द्रसोमगर्भित 'अग्नि', क्षरानुगत अन्नगर्भित 'अन्नाद', तीनों के सम्बन्ध से 'वाक्–अग्नि–अन्नादमय बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथिव्यनुगत, कर्म्मकाण्डात्मक, आधिभौतिकयज्ञ स्वर्गसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्य्यानुगत, उपासनाकाण्डात्मक, आधिदैविकयज्ञ अपरामुक्ति की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयम्भू–अनुगत, ज्ञानकाण्डात्मक, आध्यात्मिकयज्ञ परामुक्ति की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार 'त्रिसत्या वै देवाः' के अनुसार त्रित्ववाद का समर्थन करने वाला हमारा सर्वहुतयज्ञ त्रिपर्वा बन कर सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ 'इष्टकामधुक्' नाम को अन्वर्थ कर रहा है।

१—आनन्दः	ब्रह्मा	प्राणः	स्वयम्भूः	→ स्वयम्भूः	→ सर्वहुतयज्ञः
२—विज्ञानम्	विष्णुः	आपः	परमेष्ठी	→ सूर्य्यः	
३—मनः	इन्द्रः	वाक्	सूर्य्यः		
४—प्राणः	सोमः	अन्नम्	चन्द्रमाः	→ पृथिवी	
५—वाक्	अग्निः	अन्नादः	पृथिवी		

१—स्वयम्भूः → अध्यात्मम् (अध्यात्मयज्ञप्रतिष्ठा—ज्ञानकाण्डम्)
२—सूर्य्यः → अधिदैवतम् (अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा—उपासनाकाण्डम्) —सर्वहुतः
३—पृथिवी → अधिभूतम् (अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा—कर्म्मकाण्डम्)

प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है, एवं इसी के आधार पर पुरुषार्थसाधक वैध-यज्ञत्रयी का (ज्ञान—उपास्ति—कर्म्मत्रयीधा) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है। इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जासकता है कि, हमारा वैदिकविज्ञान उस नित्ययज्ञविज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जिस के परिज्ञान से, एवं तदनुकूल वैधयज्ञानुष्ठान से आत्मकल्याण के साथ साथ लोककल्याण सर्वात्मना पुष्पित, पल्लवित होता है। प्रकृतिसिद्ध नियमों का अनुगमन करते हुए हम शान्ति, तथा लोकसंग्रहपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परत्र सद्गति प्राप्त करें, एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिस का मूलस्तम्भ यज्ञविज्ञान ही माना जासकता है। यज्ञकर्म्म ही हमारे विज्ञान का चरमफल है। ऐसी दशा में यज्ञकर्म्मातिरिक्त भौतिक—आविष्कारों को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रश्न नहीं किया जा सकता। जब कि केवल

यज्ञकर्म्म ही हमारी प्राकृतिक शक्तियों को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएं पूरी कर सकता है, तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन हिंसक, अशान्तिवर्द्धक, सहजशक्तिविनाशक, भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अवसर बच नहीं रहता। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि, 'विज्ञान' शब्द से भौतिक आविष्कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में सर्वथा अनभिप्रेत है। विज्ञानशब्द की मर्य्यादा यज्ञविज्ञान पर्य्यन्त ही सीमित समझना चाहिए, जिस के कि गर्भ में आधिदैविक, अध्यात्मिक, आधिभौतिक विज्ञान प्रतिष्ठित हैं।

उक्त दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत आज्यब्राह्मण का समन्वय करना है। यज्ञकर्म्म की सिद्धि के लिए आज्यग्रहण किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट करलेना चाहिए कि, उक्त यज्ञत्रयी में से प्रकृत में प्रधानलक्ष्य पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ ही है। उपासना से सम्बन्ध रखने वाला सूर्य्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरण्यक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है, एवं ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्वायम्भुव आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषत् ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रधानरूप से कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही विश्लेषण हुआ है।

पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ में भूपिण्ड, पार्थिवशरीर, भूमहिमा, भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग होरहा है। स्वयं भूपिण्ड, तथा ओषधि वनस्पति लोष्ठादि अचेतन वर्ग पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं। वैश्वानर—तैजस प्राज्ञात्मक ससंज्ञपार्थिवशरीर (अस्मदादि चेतनवर्ग) पृथिव्यनुगत आध्यात्मिक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी (भूमहिमा) से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव दिव्यदेवता पृथिव्यनुगत आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार केवल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले, कर्म्मप्रधान आधिभौतिक यज्ञ में ही भूविवर्त्त, पार्थिवचेतनवर्ग, दिव्यदेववर्ग भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग सिद्ध होरहा है।

बात थोड़ी अटपटी सी है। परन्तु इसका स्पष्टीकरण करके ही ब्राह्मण विज्ञान का समन्वय करना चाहिए। विश्व के तीन पर्वों के स्पष्टीकरण के लिए वेद के अपौरुषेय ब्राह्मण भाग के 'विधि, आरण्यक, उपनिषत्' भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं। ये तीनों प्रबन्ध कर्त्तव्य मार्ग का प्रदर्शन कर रहे हैं। शेष ब्रह्म (मन्त्र) भाग ज्ञातव्य भाव से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार ज्ञातव्य, कर्त्तव्य भेद से वेदशास्त्र 'ब्रह्म–ब्राह्मण' रूप से दो भागों में विभक्त होरहा है। विश्वविज्ञान का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मवेद (संहितावेद) कर रहा है। एवं विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, ? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मणवेद (विधि, आरण्यक, उपनिषत् वेद) कर रहा है। इस प्रकार मन्त्रब्राह्मणात्मक सशाख वेदशास्त्र त्रित्व के ज्ञातव्य, कर्त्तव्य की पूर्त्ति करता हुआ सर्वशास्त्र बन रहा है। प्रस्तुत भाष्य कर्त्तव्य वेद भाग के कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है, जिसका कि पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ पर्व से सम्बन्ध है। विद्यात्मक ब्राह्मण ग्रन्थों में 'इति नु अध्यात्मम्'–इति नु अधिदैवतम्'–अथादिभूतम्' इत्यादि रूप से जिन अध्यात्मादि का स्पष्टीकरण होरहा है, उनका एकमात्र पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि, वेदशास्त्र विज्ञानप्रधान है। विज्ञान से प्रधानतः 'विश्वविज्ञान' अभिप्रेत है। इस विश्वविज्ञान के अध्यात्म अधिदैवत, अधिभूत, तीन पर्व है। तीनों पर्वों का क्रमशः स्वयम्भू-सूर्य्य–पृथिवी, से सम्बन्ध है। ये ही तीनों विज्ञान क्रमशः ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड, कर्म्मकाण्ड, की प्रतिष्ठाभूमि हैं। इस विज्ञानत्रयी के ज्ञातव्य, कर्त्तव्य, भेद से दो विवर्त्त हैं। ज्ञातव्यत्रयी का स्पष्टीकरण संहितात्मक ब्रह्मदेव में हुआ है, एवं कर्त्तव्यत्रयी का निरूपण ब्राह्मणात्मक वेद में हुआ है। नक्षत्रविज्ञान, ग्रहविज्ञान, ओषधि वनस्पतिविज्ञान, शल्यविज्ञान, आदि आदि अवान्तर खण्ड–खण्डात्मक विज्ञानों का इन्हीं तीनों विज्ञानों में अन्तर्भाव है।

१–अध्यात्मविज्ञानम्–स्वायम्भुवम्→विधिः (कर्त्तव्यात्मकं कर्म्म)

२–अधिदैवतविज्ञानम्–सौरम्→आरण्यकः (कर्त्तव्यात्मिका-उपासना)

३–अधिभूतविज्ञानम्–पार्थिवम→उपनिषत् कर्त्तव्यात्मकं ज्ञानम्)

इन तीनों में विशेषता यह है कि, स्वायम्भुव अध्यात्म का ईश्वरीयसंस्था सम्बन्ध है एवं इस के आधार पर सौर आधिदैविकविज्ञान प्रतिष्ठित है। साथ ही आधिदैविक आधिभौतिकविज्ञान की प्रतिष्ठा बना हुआ है। दूसरे शब्दों में ईश्वरात्मा का अध्यात्म स्वायम्भुवयज्ञ है, अधिदैवत सौरयज्ञ है, एवं अधिभूत पार्थिव यज्ञ है। इन तीनों में से हमारे वैधयज्ञ का एकमात्र ईश्वरीय, पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध है। ईश्वरीय आधिभौतिकयज्ञ के पूर्वकथनानुसार भूमहिमा, पार्थिवशरीर, मनुष्यकृत वैधयज्ञ, भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। यहां भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदैविकयज्ञ है, एवं यही पार्थिवशरीरलक्षण आध्यात्मिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। जैसी स्थिति, जो अवयवसंस्थान पार्थिव आधिदैविकयज्ञ का है, वैसी ही स्थिति, वही अवयवसंस्थान पार्थिवशरीरात्मक आध्यात्मिकयज्ञ का है। एवं जिस नियम से आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्म्माण हुआ है, उसी नियम से ऋषियोंद्वारा आधिभौतिक लक्षण वैधयज्ञ का वितान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में जहां आध्यात्मिक अधिदैवत की प्रतिष्ठा था, वहां जीवसंस्था में अधिदैवत अध्यात्म की प्रतिष्ठा है, अध्यात्म अधिभूत की प्रतिष्ठा है।

१–एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा→अधिदैवितयज्ञः (पार्थिवः)
२–पार्थिवशरीराणि ———→अध्यात्मयज्ञः (पार्थिवः)
३–पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधयज्ञाः ——→अधिभूतयज्ञः (पार्थिवः)

} →सैषा आधिभौतिकयज्ञत्रयी

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के प्रतिरूप रहस्य का समन्वय करना है। 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का

विधान करती हुई यही बतला रही है कि, हमारा यह पुरुषप्रयत्नसाध्य यज्ञ पुरुष की प्रतिकृति है। पुरुष इस वैधयज्ञ का वितान कर रहा है, इसी लिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। 'पुरुष' शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोणित आग्नेय तत्त्व है, शुक्र सौम्य तत्त्व है, दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार होगा, वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होगा, वह कर्म्म भी पिता–पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है, जो प्रक्रिया-विशेषों से उत्पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूतात्मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय (संस्कार) को 'दैवात्मा' कहा जाता है। वह दैवा-त्मा ही वस्तुतः यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म्म बनता है। जबकि उपादानस्थानीय यजमान पिता पुरुष है, तो तत् पुत्रस्थानीय, अतिशयलक्षण दैवात्मरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिस ढंग से वितान हुआ है, उसी ढंग से इस वैधयज्ञ का वितान हुआ है। वैधयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का विचार कीजिए। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड 'यज्ञसंस्था' है। भूतात्मा यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्य व्याप्त वैश्वानराग्नि 'होता' है। श्वासप्रश्वासात्मक वायु 'अध्वर्यु' है। हृदयस्थ प्रज्ञान मन 'ब्रह्मा' है। कण्ठस्थ तेजोनाड़ी में प्रतिष्ठित उदानप्राण 'उद्गाता' है मूलाधारमण्डल 'गार्हपत्यकुण्ड' है। तत्रस्थ अपानाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है। जठराग्निमण्डल 'दक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जठराग्नि 'दक्षिणाग्नि' है। शिरोमण्डल 'आ-हवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि 'आहवनीयाग्नि' है। केश–लोम 'बर्हि' हैं। अस्थिसमूह 'समिध' हैं, द्रव द्रव्य प्रणीता, तथा 'प्रोक्षणी' हैं। अन्न 'आहुतिद्रव्य' है। दक्षिणभुजा–दक्षिणपाद 'जुहुः' है। वामभुजा–वामपाद

'उपभृत्' है। मध्याङ्ग 'ध्रुवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंचारी चैतन्यप्राण 'स्रुव' है। कण्ठसे आरम्भ कर मूलाधारपर्य्यन्त सारा प्रदेश 'वेदि' है। इसप्रकार हम री पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का प्रतिरूप बन रही है। ऐसे यज्ञात्मक इस पुरुषाकार के आधारपर ही, तदनुरूप ही चूंकि इस वैधयज्ञ का वितान होता है, अतएव इस वैधयज्ञ को हम अवश्यही पुरुष का प्रतिरूप कहसकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिण भुजा से अन्नाहुति दी जाती है, वामभुजा सहयोगिनी बनी रहती है, चैतन्यप्राण अन्नरस सर्वाङ्ग शरीर में पहुंचाता रहता है, मध्याङ्ग से इतर सम्पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण द्वारा पुष्ट होने रहते हैं। ठीक वही काम इस वैधयज्ञ में जुह्वादि से लिया जाता है। अतएव आहुतिसाधक जुहू को हम इस वैधयज्ञ की दक्षिण भुजा कहसकते हैं। उपभृत जुहू की सहयोगिनी है, अतएव इसे वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही (ध्रुवास्थित आज्य से ही) सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होता है, अतएव इसे आत्मा (मध्याङ्ग) माना जासकता है। स्रुवा का सब स्रुचों में सञ्चार होता है अतएव इसे प्राण कहा जासकता है। इसप्रकार दक्षिणभुजा, वामभुजा, मध्याङ्ग, सञ्चारीप्राण, चारोंके अनुरूप अपना स्थान रखनेवाले जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, स्रुव, चारों यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को अन्वर्थ बना रहे हैं। निष्कर्षतः जैसा वितानक्रम आध्यात्मिकयज्ञ का है, ठीक वही क्रम इस आधिभौतिक यज्ञ का है। यहां ऐसा क्यों किया गया? किस आधार पर किया गया? इत्यादि प्रश्नों की उपनिषत् यही आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषस्वरूप) है। वैधयज्ञ यज्ञ है, उधर प्राकृतिकपुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' यह आदेश है। अतएव यहां वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वैसा ही है, तो इसे वह (पुरुष) कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती।

पुरुष-(यजमान)-प्रयत्नसाध्य होने से, तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह वैध- आधिभौतिकयज्ञ भी पुरुष माना जासकता है, उक्त प्रतिरूपता का यही

निष्कर्ष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न बच रहता है कि, पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवंविध कैसे हुआ ? दूसरे शब्दों में इस प्रश्न का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि, आधिभौतिक यज्ञ की उपनिषत् (प्रतिष्ठा–मूलभित्ति) तो आध्यात्मिकयज्ञ है, परन्तु आध्यात्मिकयज्ञ की उपनिषत् क्या है ?। इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वप्रतिपादित पार्थिव आधिदैविक यज्ञ है। आधिदैविक पार्थिव दिव्ययज्ञ ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ स्तोम-पर्य्यन्त व्याप्त महामहिम पार्थिवमण्डल 'यज्ञसंस्था' है। पार्थिव सर्वप्रजापति (पार्थिवअग्नि) यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में व्याप्त वैश्वानर अग्नि 'होता' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु 'अध्वर्यु' है। चान्द्रसोमात्मक पार्थिव मन 'ब्रह्मा' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित द्युलोक में व्याप्त आदित्य 'उद्गाता' है। भूपिण्ड पुराण 'गार्हपत्यकुण्ड' है, तत्रस्थ चित्याग्नि 'पुराणगार्हपत्याग्नि' है। त्रिवृत्-स्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश 'नूतनगार्हपत्यकुण्ड' है, तत्रस्थ पार्थिव घनाग्नि 'नूतनगार्हपत्याग्नि' है। पञ्चदशस्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश 'धिष्ण्याग्निकुण्ड' है, तत्रस्थ अष्टविध नाक्षत्रिकाग्नि 'धिष्ण्याग्नि' है। एकविंशस्तोमान्त पार्थिवमहिमा-प्रदेश 'आहवनीयकुण्ड' है, तत्रस्थ सौरदिव्याग्नि 'आहवनीयाग्नि' है। लोका-लोकसीमान्त वेन नामक आपः 'बर्हि' हैं। अन्तरिक्ष में व्याप्त अश्म सोम 'समिध' हैं। आन्तरीक्ष्य मरीचि नामक आपः 'प्रणीता', तथा 'प्रोक्षणी' हैं। ओषधि-सोम, तथा चान्द्रसोम 'आहुतिद्रव्य' है। भूपिण्ड 'हविर्वेदि' है। भूमहिमा 'महावेदि' है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक दक्षिणहस्तस्थानीय 'जुहू' है। जुहू (द्यौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक वामहस्तस्थानीय 'उपभृत्' है। स्वयं भूपिण्ड मध्याङ्गस्थानीय 'ध्रुवा' है। त्रैलोक्यसंचारी, चैतन्य-प्राणस्थानीय वायव्यप्राण 'स्रुव' है। इस प्रकार पार्थिवमहिमालक्षण इस आधि-दैविकयज्ञ में यज्ञेतिकर्त्तव्यतासाधक सामग्री-परिग्रह यथानुरूप, यथास्थान व्यव-

स्थित है। इस का चूंकि ऐसा स्वरूप है, अतएव इस से उत्पन्न आध्यात्मिक यज्ञ का भी वैसाही स्वरूप है। एवं जैसा स्वरूप आध्यात्मिक यज्ञ का है, तदनुरूप ही वैध आधिभौतिक यज्ञ का वितान किया जाता है।

मूलानुवाद में यह सन्देह किया गया था कि, प्रथम तो पृथिवी से त्रैलोक्य की उत्पत्ति मानना हीं असङ्गत है, उसपर भी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सङ्गत नहीं बन सकता। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए दो शब्दों में पार्थिवसंस्था का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। श्रुति ने जिस पृथिवी को मध्याङ्गस्थानीय 'ध्रुवा' बतलाया है, वह चित्याग्निप्रधान भूपिण्ड है, जिस पर अस्मदादि पार्थिव प्रजा सपरिग्रह प्रतिष्ठित है। एवं श्रुति ने ध्रुवास्थानीय जिस इस भूपिण्ड से—'अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति' इत्यादिरूप से जिस त्रैलोक्य का प्रभव बतलाया है, वह चितेनिधेयाग्निप्रधान भूमहिमा है।

अष्टविध त्रिलोकियों में से पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली त्रिलोकी 'स्तौम्य-त्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। इस की उत्पत्ति यथार्थ में ध्रुवास्थानीय भूपिण्ड से ही हुई है। "यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड अग्निगर्भ है। यह भौमाग्नि ही भूमि का अधिष्ठाता 'प्रजापति' है। इस प्राजापत्य भौम अग्नि की अमृत (चितेनिधेय), मर्त्य (चित्य) भेद से दो अवस्था सहज सिद्ध मानी गई हैं, जैसा कि—"अर्द्धं ह वै प्रजापते-रात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शत० १० ३।२) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपिण्ड मर्त्याग्निप्रधान है, तन्मय है। इस पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि ही रसाग्नि है, यही प्राणाग्नि है, यही देवाग्नि नाम से भी व्यव-हृत हुआ है। सृष्टि कामुक इस रसाग्निलक्षण प्रजापति की कामना स्वयं इस के रसाग्नि-भाग का ऊर्ध्व (केन्द्र से चारों ओर) प्रसार करती है। भूपिण्डकेन्द्र से चारों ओर वितत होने वाले इस रसाग्नि की घन–तरल–विरल भेद से तीन अवस्था होजाती हैं। जहांतक घनरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही

'पृथिवी' (महिमापृथिवी का पृथिवीलोक) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित घनाग्निरस ही 'अग्नि' है । जहांतक तरल रस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही 'अन्तरिक्ष' (महिमापृथिवी का अन्तरिक्षलोक) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही 'हंस' नामक 'वायु' है । जहांतक विरलरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही 'द्यौः' (महिमापृथिवी का द्युलोक) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही 'आदित्य' है । इसप्रकार रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान से वही केन्द्रस्थ अग्नि, 'अग्नि, वायु, आदित्य' अपने इन प्रथम–द्वितीय–तृतीयरूपों से त्रैलोक्य का निर्म्माण करता हुआ 'अतिष्ठावा' रूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होरहा है * ।

इस प्रकार ध्रुवस्थानीय भूपिण्ड ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान द्वारा अहर्गणात्मक स्तोमों के आधार पर क्रमशः त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) रूप से तीन संस्थाओं के रूप में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ का जन्मदाता बनकर–'अद्‌भ्याऽएमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति' इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है, और उक्त सन्देह का निवर्त्तक बन रहा है । इस सम्पूर्ण 'उपपत्ति-ग्रन्थ' का फलितार्थ यही निकला कि, पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले महिमात्मक आधिदैविकयज्ञ, पार्थिवशरीरात्मक आध्यात्मिकयज्ञ, एवं पुरुषप्रयत्नसाध्य आधिभौतिक (वैध) यज्ञ, तीनों में पूर्व पूर्व यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ की उपनिषत् है । (१, २, ३, ४ ५,) ।

---

* "आपो वाऽअर्कः । तद्यदपां शर आसीत्, तत् समहन्यत । सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्ततााग्निः । स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्य तृतीयं, वायु तृतीयम । स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधाविहितः" इति । (शत० ब्रा० १०।६।१।१,२,) ।

पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाले * स्रुव–स्रुक् पात्र हस्त-पाद–मध्याङ्गादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, यह वैधयज्ञ पुरुषविध आध्यात्मिकयज्ञ का ही प्रतिरूप है। 'आज्य–पृष्ठ' विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पृष्ठ, आज्य भेद से दो पर्व रहते हैं। भूत मर्त्यपिण्ड पृष्ठ कहलाता है, एवं जिस जीवनीय प्राणशक्ति से चरसंघात (चरकूट) रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र में बद्ध रहते हुए नियत समय तक स्वरूप प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, वह प्राणशक्ति ही 'आज्य' नाम से व्यवहृत हुई है। जबतक पृष्ठ (पिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक पृष्ठ की स्वरूप सत्ता है। पाञ्चभौतिक हस्तपादादि शरीरावयव पिण्डस्थानीय बनते हुए पृष्ठ हैं। इनमें प्रतिष्ठित आग्नेयप्राण (वैश्वानराग्निप्राण) ही इन की प्राणशक्ति है। इधर वरुण से (जलीयतत्त्व से) प्रतिमूर्च्छित अग्नितत्व का ही नाम आज्य (घृत) है, इसी आधार पर "तेजो वै आज्यम्" (तां० ब्रा० १३।१०।१८) "अग्नेर्वा एतद्रूपं, यदाज्यम्" (तै० ब्रा० ३।८।१४।२)–"प्राणो वा आज्यम्" तै० ब्रा० ३।८।१५।२,३), इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। लोकव्यवहार में भी सुप्रसिद्ध है कि, घृत ही हाथ पैरों में जीवनीय शक्ति प्रदान करता है। यज्ञ-कर्म्म से पुरुषविध दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। यज्ञेतिकर्त्तव्यता में संगृहीत जुहू आदि स्रुक् स्रुव तो पृष्ठ स्थानीय हैं, एवं इन में गृहीत आज्य प्राणशक्तिस्थानीय है। इस प्रकार इस आज्यग्रहण–कर्म्म से भी पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ को पुरुषयज्ञप्रतिरूपता भलीभांति सिद्ध होरही है।

---

* "खादिरः स्रुवः, पर्णमयी जुहूः, आश्वत्थी उपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, एतद्वै स्रुचां रूपम्" (तै० सं० ३।५ ७) इस वचन के अनुसार स्रुव खदिर (खैर) की लकड़ी का, जुहू पर्णमयी पलाश (छीला) की, ध्रुवा विकङ्कत का, उपभृत् अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी का बनाया जाता है।

आज्यग्रहण क्या दैवात्मा के स्वरूप निर्म्माण में उपयुक्त होता है ? यह प्रश्न है। इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण आरम्भ हुआ है। पहिले आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। आध्यात्मिकसंस्था में प्रधानतः 'आत्मा, शरीर' ये दो पर्व हैं। शरीर पुर है, आत्मा इस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला 'पुरि शेते' निर्वचन से 'पुरुष' है। इस शरीरपुर के 'आकार, वस्तुतत्त्व' भेद से दो पर्व हैं। आयतनरूप बाह्य आकार ही आकार है, जिसे कि विज्ञान भाषा में 'वयोनाध' कहा जाता है। यह वयोनाध ही + 'छन्द' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है, एवं इस बाह्य आकार से ही आकारित वस्तुतत्त्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाध (आकार) से सुरक्षित वस्तुतत्त्व (भूतपिण्ड) ही 'वय' है। जिस प्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न 'वय' है, एवमेव छन्दःसीमा रूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतत्त्व को वय (अन्न) मान लिया गया है। वय सदा वयोनाध से युक्त रहता है। वय–वयोनाध के समन्वितरूप का ही नाम 'वयुनम्' है। 'सर्वमिदं वयुनम्' इस सिद्धान्त के अनुसार यच्च यावत् भौतिक पदार्थ वय (वस्तुतत्त्व), वयोनाध (बाह्याकार) से युक्त रहते हुए '*वयुन' हैं। वयुन ही अध्यात्मिक संस्था का 'शरीर' नामक पहिला पर्व है।

शरीर के वय भाग का (भूतभाग का) निर्म्माण शुक्र–शोणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री में प्रजनकर्म्मसाधक अत्रिप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध से ही रजःस्वला को ऋतुमती' कहा जाता है। अग्नि–सोम की सत्य, ऋत, भेद से दो दो अवस्था मानीं गई हैं। सायतन अग्नि सत्य है, सायतन सोम सत्य है। एवं निरायतन, वाय्वात्मक अग्नि–सोम ऋत हैं। इन ऋताग्नि–सोमों के पारस्परिक उद्ग्राभ–निग्राभ सम्बन्ध से ही 'ऋतु' का जन्म होता है। इस ऋतु का

+ –छन्दांसि वै वयोनाधाः'' (शत॰ ८।२।२।८)।

* छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्'' (शत॰ ८।२।२।८)।

आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रधान रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं सौम्य-भाग पुरुष के शुक्र में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण-समन्वय का ही नाम शुक्र-शोणित का दाम्पत्य-भाव है। यही दाम्पत्यकर्म्म गर्भाधान का बीज है। इस प्रकार वस्तुतत्व लक्षण वय (शरीर) का निर्म्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु से ही होरहा है *। शेष रहता है वयोनाध (बाह्याकार)। इस का निर्म्माण ऋतुसहयोगी गायत्र्यादि छन्दों से होता है। गायत्र्यादि छन्द त्वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवों में तत्तदाकारविशेषप्रदान करते जाते हैं, तदनुरूपही ऋतु द्वारा पुरावयवों का निर्म्माण होता जाता है। कालान्तर में इस ऋतु, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठालक्षण शरीरपुर का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। ऋतु-छन्दोमय शुक्र-शोणित के दाम्पत्य भाव में कर्म्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।

इस प्रकार आत्मा, शरीर, इन दो पर्वों के आत्मा, वस्तुतत्व (वय), बाह्याकार (वयोनाध), भेद से तीन पर्व होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है, इसे ही यज्ञपरिभाषा में 'आवापदेवता' कहा गया है। वस्तुतत्व (वय) ऋतुदेवता हैं, बाह्याकार छन्दो देवता हैं, दोनों गौण हैं। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है, उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुतत्व उपक्रमस्थानीय है, इसका ऋतु से सम्बन्ध है, इसी उपक्रमलक्षण प्राथम्य के कारण वस्तुतत्त्वात्मक ऋतु को याज्ञिक परिभाषा में 'प्रयाजदेवता' कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसान भूमि है, इस का छन्द से सम्बन्ध है, इसी उपसंहारलक्षण अन्तभाव के कारण बाह्याकारात्मक छन्द को 'अनुयाजदेवता' कहा गया है इस प्रकार ऋतुरूप प्रयाजदेवता, तथा छन्दोरूप अनुयाज देवता, दोनों के समन्वय से 'शरीर' नामक आध्यात्मिक पुर का निर्म्माण होता है। दूसरा आवापदेवतास्थानीय आत्मा अपने स्वरूप निर्म्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है, आज्य का

* ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति" शत० ब्रा० १।३।४।७)।

इसी से सम्बन्ध है। इधर पृष्ठस्वरूपनिर्म्मापक ऋतु, एवं छन्दोदेवता हैं। फल सिद्ध होजाता है कि, यह आज्यग्रहण कर्म्म ऋतु, तथा छन्दोदेवताओं की तृप्ति लिए ही विहित है। जैसा अध्यात्म में है, वैसा ही यहां होना चाहिए, होता

अध्यात्मवत् अधिभूतयज्ञ से उत्पन्न होने वाली देवात्मसंस्था में 'आत्मा–पु भेद से दोनों पर्व अपेक्षित हैं। मुख्यदेवता दैवात्मसंस्था के आत्मस्वरूप का नि र्म्माण करेंगे, एवं ऋतु छन्दोलक्षण गौणदेवता आत्मपुर का निर्म्माण करेंगे। अ वितायमानयज्ञ का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, अनेक इति कर्त्तव्यताओं तायमान यह यज्ञ देवता, ऋतु, छन्द, इन तीन देवताओं की सम्पत्–प्राप्ति लिए ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है, इस के लि नियत आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं वह हवि' नाम से प्रसिद्ध है, जोकि हवि द्रव्य 'इष्टि, पशु, सोम,' यज्ञ भेद से अन्नपुरोडाश, पशुवपापुरोडाश वल्लीसोमरस भेद से त्रेधाविभक्त है। ऋतु, छन्दोरूप दोनों प्रयाजानुयाजदेवताओं का (जि से कि पुर का निर्म्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं वही 'आज्य' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा–शरीर, यद्यपि दोनों की समष्टि 'देवदत्त' है। अर्थात् देवदत्त' नाम समष्टि से सम्बन्ध रखता है, तथापि मानना पड़ेगा कि, यह नाम मुख्यतः आत्म भाग से सम्बन्ध रखता है, न कि शरीर से। यही कारण है कि, जब भूतात्मा प्राप्त समय पर देह का परित्याग करदेता है, तो उस समय 'देवदत्त आज नहीं रहा' यह लोकव्यवहार होता है। अवशेष शव-शरीर का कोई नाम नहीं रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर (सेवकवर्ग) के साथ कहीं आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। वहां राजा का ही नाम मुख्य रहता है, राजा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोक सिद्ध है। सेवकवर्ग का राजा के नाम में ही अन्तर्भाव है। ठीक यही स्थिति यहां समझिए।

आत्मस्वरूप–सम्पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रहणपूर्वक हविर्ग्रहण होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय ऋतु–छन्दो देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आज्य ग्रहण करता है, यही पद्धतिमर्य्यादा है, यही लोकव्यवहार है (एवमुहै तेषाम्)।

'जामि' दोष एक महादोष माना गया है। यथानुरूप व्यवहार न करना ही 'जामि' दोष है। यह सभ्यता का आग्रह है कि, जो जिस स्थान के योग्य है, जिस सम्मान का पात्र है, उसे वही स्थान दिया जाय, वैसाही सम्मान किया जाय। समदर्शन, विषमवर्त्तन ही इस सभ्यता का अन्यतम रहस्य है। आत्मदृष्टि से प्राणिमात्र समान है, परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्य्यादा के पात्र हैं। कारण यही है कि, समदर्शन का अखण्ड चिदात्मा से सम्बन्ध है, जोकि आपामर–विद्वज्जन कीटादि पर्य्यन्त सब में, एकरस रूप से प्रतिष्ठित है एवं विषमवर्त्तन का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न, प्राज्ञानिकसम्मत भूतात्मा है। दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि, व्यवहार क्षेत्र में जामिदोष (मर्य्यादा-उल्लंघनलक्षण व्यवहारदोष, असभ्यता) से बचने के लिए जो जिस योग्य हो, उसे उसी सम्मान का अधिकारी समझा जाय। यहां जुहू, उपभृत्, ध्रुवा में जो क्रमशः ४ ८–४ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, वह ऋतु, तथा छन्दों के लिए नियत है। मुख्य आत्मदेवता की तुलना में ये देवता अपना निम्न स्थान रखते हैं। मुख्य देवताओं की तरह इन परिकरस्थानीय देवताओं के लिए भी यदि नामग्रहणपूर्वक आज्यग्रहण किया जायगा, तो–श्रेणिमर्यादाभङ्गलक्षण जामिदोष होगा। अतः इनकेलिए बिना नाम ग्रहण के ही आज्यग्रहण करना चाहिए। "अन्तरिक्षभाजना वै पशवः" (तै०ब्रा० ३।२।१।३)के अनुसार पशुप्राण का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, उधर 'ऋतवच्छन्दांसि पशवः' के अनुसार देववाहनलक्षण ऋतु-छन्द पशुस्थानीय हैं। 'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत० ७।५।१।३)के अनु-

सार आज्यप्राण का अन्तरिक्षलोक से सम्बन्ध है। अतएव आन्तरिक्ष्य ऋतु-छन्दों के लिए आज्यद्रव्य का ग्रहण ही अन्वर्थ बनता है।

जुहू में जो चार बार आज्यग्रहण होता है, उस का प्रयाजलक्षण ऋतुदेवता से सम्बन्ध है, एवं उपभृत् में जो आठ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, उस का अनुयाज-लक्षण छन्दोदेवता से सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-देवतापेक्षया अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित होते हुए नामग्रहण की मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। अब बच रहता है— ध्रुवा। ध्रुवा में जो चार बार आज्यग्रहण किया जाता है, उसका उपयोग सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि से सम्बन्ध रखता है। आज्यसम्बन्धिनी सारी इतिकर्त्तव्यता ध्रुवा-स्थित आज्य से ही पूरी की जाती है। जब यहां सब का अन्तर्भाव है, तो यहां भी नामग्रहण को अवसर नहीं मिलसकता। जो वस्तु सबके लिए है, उस में विशेष व्यक्ति का नामग्रहण असङ्गत है। इसप्रकार आत्मा के पुर निर्माण करने वाले ऋतु-छन्दों के लिए गृहीत आज्य में नामग्रहणाभाव ही अजामिभाव का रक्षक बन रहा है। (६,७,८,९,१०)।

आज्यग्रहण-प्रक्रिया में कुछ विशेषता रक्खी गई है। और वह विशेषता यही है कि, जुहू में ग्रहण होता है चार बार ही, परन्तु आज्यमात्रा औपभृत आज्य की अपेक्षा अधिक होती है। इधर उपभृत् में संख्या की दृष्टि से जुहू की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणित (आठबार), परन्तु आज्यमात्रा जुहू के आज्य की अपेक्षा अल्प होती है। इस विशेषता का क्या कारण? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान कर रहा है।

वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्ध 'निदानविद्या' ही इस उपपत्ति का मूलाधार है, जिस विद्या का गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के 'प्रतिमानिर्माणरहस्य' नामक प्रकरण में विस्तारसे

निरूपण हुआ है। कुछ एक सादृश्यों के आधार पर अन्य में अन्य वस्तु का आरोप करना 'निदान' कहलाता है। जहां लोकव्यवहार में व्यवहारकर्म्म सञ्चालन के लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है, वहां शास्त्रीय व्यवहार में, विशेषतः वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में यज्ञकर्म्मसिद्धि के लिए अनेक स्थलों में इसका आश्रय लिया गया है। पहिले एक लौकिक उदाहरण ही लीजिए। 'डाक्टर ज्वालाप्रसाद गोविल मोतीलाल गौड़ का दहिना हाथ है' यह लौकिक निदान का उदाहरण है। वस्तुगत्या ज्वालाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नहीं है, परन्तु आरोप किया जाता है। इस निदानारोप का मूल यही है कि, दहिना हाथ ही कर्म्म सिद्धि का मूलद्वार है। चूंकि ज्वालाप्रसाद मोतीलाल के कर्म्म का अन्यतम सहायक है, बस इसी कर्म्मसादृश्य के आधार पर उसे निदानविधि से दहिना हाथ मान लिया गया है। अब एक शास्त्रीय उदाहरण भी लीजिए। लोकव्यवहारसञ्चारिणी जगन्माता लक्ष्मी की प्रतिमा के हाथ में कमल' का पुष्प है। यह कमल भूपिण्ड का सूचक है। भूपिण्ड का प्रारम्भिक उपादान **'आपो वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ६।४।२।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुष्करपत्र है। कालत्रालीकृत (घनभावयुक्त) अप्-तत्त्व ही पुष्करपर्ण है। वही उत्तरोत्तर तेजः—स्नेह के क्रमिक यजन से आपः—फेनादि आठ व्याहृतियों में परिणत होता हुआ कालान्तर में भूपिण्डरूप में परिणत होजाता है। कमलपुष्प भी उसी अप्तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप करते हुए इसे भूपिण्ड का निदान मान लिया गया है। **'स्रष्टा प्रजापति पद्मासन पर विराजमान रहते हुए पद्मभूः नाम से प्रसिद्ध हैं'** इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें जुहू उपभृत् के आज्य का विचार करना है। जुहू को दहिना हाथ, तथा उपभृत को वाम हाथ बतलाया है। शकुनशास्त्र के अनुसार दक्षिणभाग शुभ है, वामभाग अशुभ है। दक्षिणाङ्गस्फु-

रण शुभ सूचना का प्रवर्त्तक है, वामाङ्गस्फुरण अशुभ सूचना का सूचक है। कारण यही है कि पुरुष अग्निवीर्य्यप्रधान है। पुरुष के दक्षिणाङ्ग में इसी अग्निवीर्य्य का प्राधान्य रहता है, एवं वामाङ्ग में निर्वीर्य्य सोम का प्राधान्य रहता है, जोकि सोम स्त्रीवीर्य्य माना गया है। वामभाग स्त्रीवीर्य्यप्रधान है, इस का स्फुरण पुरुषतत्त्व का विरोधी है, अतएव इसे अशुभ माना गया है। विधि का वाम (टेढा-प्रतिकूल) होजाना वामभाग से समतुलित है। इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू पुरुषवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है। एवं वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ, अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है। इस वीर्य्यसूचना के अतिरिक्त आदान-विरोध मर्य्यादा से भी यह आरोप समन्वित होरहा है। दक्षिणहस्त कर्म्म द्वारा जहां सम्पति के आगमन का कारण बना हुआ हैं, वहां वामहस्त अकर्म्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का बन्धु बन रहा है। शत्रु का जो काम (सम्पत्ति निरोध) है, वही स्थान वामहस्त का है। इसीलिए भी द० ह० स्थानीय जुहू को यजमान, तथा वा० ह० स्थानीय उपभृत् को यजमानशत्रु कहा जासकता है।

दक्षिणहस्त अग्निवीर्य्यप्रधान, एवं वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान बतलाया गया है। अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है, सोम आद्य (भोग्य) है। इस दृष्टि से द० ह० स्थानीय अग्निप्रधान जुहू को 'अन्नाद' माना जासकता है, एवं वा० ह० स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को 'आद्य' कहा जासकता है। इस प्रकार निदानविधि से जुहू, उपभृत को क्रमशः यजमान-यजमानशत्रु, तथा अन्नाद-आद्य, मानते हुए चतुर्वार-अष्टवार, एवं भूयासं-कनीयासं का समन्वय कीजिए।

समृद्धि का लक्षण यही है कि, भोक्ता संख्या में कम हों, एवं भोग्य सामग्री संख्या में अधिक हो। इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोक्ता स्थानीय जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण किया जाता है, एवं भोग्यस्थानीय उपभृत् में आठ बार आज्य-

ग्रहण किया जाता है।

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यप्रजावर्ग अधिक बलवीर्य्य युक्त है, तो वह संख्यानुगता समृद्धि निरर्थक है। वास्तविक समृद्धि तो उसे कहा जायगा, जिस में भोक्ता संख्या में तो कम हो, परन्तु बल-वीर्य्य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हो। भोक्ता में इसी बल-वीर्य्य समृद्धि के लिए भोक्तास्थानीय जुहू में जहां चार बार ग्रहण करते हुए मात्रावृद्धि की जाती है, वहां भोग्य को निर्बल-निर्वीर्य्य बनाने के लिए भोग्यस्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राह्रास किया जाता है।

शारीरिक बल बल है, आत्मबल वीर्य्य है। भूतबल बल बल है, प्राणबल वीर्य्य है। भोग्य प्रजा पर शासनशक्ति सुरक्षित रखने के लिए दोनों शक्तियाँ अपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि एक राज्य में राजा एक होता है, प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोशबल से, तथा बाहुवीर्य्य से एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेक घरों पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन से अपने उद्देश्य साधन प्रस्तुत किया करता है। इसी बलवीर्य्य-प्राप्ति के लिए यहां भी कनीयांसं, भूयांसं, मर्य्यादा रक्खी गई है।

जुहू में गृहीत आज्य की तो जुहू से आहुति होती ही है, परन्तु उपभृत् में गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति होती है। इसका कारण है- अन्न-अन्नाद की स्वरूप रक्षा'। उपभृत् प्रजा-स्थानीय है। प्रजा का बल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वसंपत्ति-व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा, तो प्रजा इस अमर्य्यादा से अपना स्वरूप खो बैठेगी, एवं प्रजासहयोग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री से हाथ धो बैठेगा। राष्ट्रसमृद्धि के लिए दोनों की स्वरूप रक्षा अपेक्षित है। धर्म्मदण्ड जहां राजा को सुरक्षित, मर्य्यादित रखता है, वहां धर्म्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्य्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार जमाना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य होता, तब तो प्रजास्थानीय उपभृत् में आज्यग्रहण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस

दशा में भी वही परिणाम होता, जो अमर्य्यादा में बतलाया गया है। प्रजा जबतक स्वतन्त्र रूप से सम्पत्ति संग्रह में प्रवृत्त नहीं होती, तब तक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का वित्तबल, पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। क्या एकाकी राजा ये सब कार्य्य कर सकता है? असम्भव। अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण मानें गए हैं। होना यह चाहिए कि, प्रजा को सम्पत्ति संग्रह के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय, साथ ही व्ययसम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय। क्षत्र, और विट् के इस पारस्परिक सहयोग से ही प्रकृतिसिद्ध वह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है, जो राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतम सूत्र है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा 'ब्रह्मबल' है, जुहू 'क्षत्रबल' है, उपभृत् 'विड्बल' है, पशुसम्पत्ति 'शूद्रभाग' है। प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्राभ्युदय के लिए ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल, क्रियास्थानीय क्षत्रबल, अर्थस्थानीय विड्बल, प्रवर्ग्यस्थानीय शूद्रबल, चारों बल अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सहयोग बना रहे। सहयोग तभी सम्भव है, जब कि चारों मर्य्यादा सूत्र से सञ्चालित रहें। इसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत से गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है।

इस प्रकार राष्ट्रकर्म्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि के लिए यह आज्यग्रहण कर्म्म क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, छन्दों से सम्बन्ध रखता है। 'सुपर्णकाद्रवेयाख्यानविज्ञान' के अनुसार मूलतः सभी छन्द चतुरक्षर मानें गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय द्युलोक में गमन होता है। वहां तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भूतल पर लौट आती है। अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है। यह अपना एक चरण खोकर तीन चरणों से वापस लौट आती है। सर्वान्त में सामिधेनी बल से युक्त चतुरक्षरा गायत्री सुपर्ण—रूप धारण कर के झपाटा मारती है। फलतः सोमापहरण के साथ साथ तत्रस्थ जगती के तीनों चरण, एवं त्रिष्टुप् का एक चरण लेती हुई अपने आपके चारों चरणों से सुरक्षित लौट आती है। आरम्भ में चतुर-

क्षरा रहने वाली गायत्री–जगती त्रिष्टुप् के चरणों से अष्टाक्षरा बन जाती है। त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् इस अष्टाक्षरा गायत्री में आत्मसमर्पण कर एकादशाक्षरा बन जाती है, एवं एकाक्षरा जगती त्रिष्टुप्–युक्ता गायत्री में आत्मसमर्पण कर द्वादशाक्षरा बन जाती है। इस प्रकार यद्यपि आज गायत्र्यादि छन्द ८–११–१२, इत्यादि अक्षरों से युक्त प्रतीत होरहे हैं, परन्तु इनका मौलिक स्वरूप चतुरक्षर ही माना गया है, जैसा कि–'सर्वाणि ह छन्दांसि चतुरक्षराणि' इत्यादि निगम से प्रमाणित है।

जुँहू–स्थित चतुर्वारगृहीत आज्य चतुरक्षर गायत्री छन्द से सम्बन्ध रखता है, उपभृत् स्थित अष्टवार गृहीत आज्य क्रमशः चतुरक्षर त्रिष्टुपूछन्द, एवं चतुरक्षर जगती छन्द से सम्बन्ध रखता है। एवं ध्रुवास्थित चतुर्गृहीत आज्य अनुष्टुप् छन्द से सम्बन्ध रखता है। भूपिण्ड, त्रिवृतपृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्युलोक, चारों के क्रमशः प्रजापति, अग्नि, मरुत्वानिन्द्रगर्भित वायु, आदित्य, ये चार प्रतिष्ठावा देवता हैं। एवं चारों के क्रमशः अनुष्टुप्, गायत्री, त्रिष्टुप् जगती, ये चार छन्द हैं, चारों का मूल वही भौम वाङ्मय अनुष्टुपछन्द है। अनुष्टुप् भूपिण्ड का छन्द है, भूपिण्ड शुक्रलक्षणा वाङ्–मय है। इसी वाक्–वितान से वषट्कारलक्षणा उस साहस्री का जन्म होता है, जिस के आधार पर भूमहिमात्मक सम्पूर्णयज्ञ प्रतिष्ठित है। अतएव तत्स्थानीय ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म सम्पन्न होता है। (११ १२, १३,१४,१५,१६)।

आज्यग्रहणपद्धति के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। जिस चित्यपृष्ठ (भूपिण्ड) में आज्य (प्राणशक्ति) परिपूर्णमात्रा से प्रतिष्ठित रहता है, उस चित्यपृष्ठ में प्राणदेवता उसी प्रकार अभय बनकर अपने आध्यात्मिक यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता निरापद सम्पादित करते हैं, जैसे कि वज्र रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने कर्म्म में निरापद बना रहता है। अतएव आज्य को वज्र कहा जासकता है। यही

वास्तवमें देवयजनभूमि है। बाह्यसामग्री–सम्भार उस समय तक निरर्थक है, जबतक आज्य (प्राणशक्तिलक्षण कर्म्मसाधक वज्र) का ग्रहण नहीं कर लिया जाता। अध्यात्म का आज्य, अधिभूतयज्ञ का आज्यद्रव्य दोनों ही यज्ञस्वरूप सिद्धि के मुख्य द्वार बनें हुए हैं।

'त्रिः सत्या वै देवाः:' के अनुसार यज्ञ त्रि–मर्य्यादा से युक्त है। कितने एक याज्ञिकों का कहना था कि, इस यज्ञसम्पत्ति–संग्रह के लिए 'जुहू–उपभृत–ध्रुवा' तीनों में तीन तीन बार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। परन्तु परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते हैं कि, तीनों ग्रहणकर्म्म एक ही यज्ञसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं। यदि तीन स्थान पर त्रिवृत् सम्पत्ति का संग्रह किया जाय, तो यज्ञकृत्स्नता नष्ट होजायगी। इसलिए (यज्ञकृत्स्नता सुरक्षित रखने के लिए) एक–एक बारही मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। ऐसा करने से यज्ञैकरूपता भी सुरक्षित रहेगी, एवं तीनों स्थानों की संख्या के समन्वय से त्रिवृत्–सम्पत्ति भी प्राप्त होजायगी (१६, १७, १८),

इति–विवेचनाप्रकरणम् ।

समाप्तं च तृतीयाध्याये द्वितीयं, द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

इति–आज्यब्राह्मणम् ।

* ओंतत्सद् ब्रह्मणे नमः *

अथ

शतपथब्राह्मण-हिन्दीविज्ञानभाष्ये

दर्शपूर्णमासनिरूपणात्मके प्रथमकाण्डे

तृतीयाध्याये तृतीयं चतुर्थं, द्वितीयप्रपाठके षष्ठं-तृतीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

इध्मब्राह्मणं, परिधिब्राह्मणञ्च

क-निर्भुजपाठः (पारायणपाठः)—

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स ऽइध्ममेवाग्रे प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥ १ ॥

अथ वेदिं प्रोक्षति । वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति तन्मेध्यामेवैतद् बर्हिषे करोति ॥ २ ॥

अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत् पुरस्ताद् ग्रन्थ्या सादयति तत् प्रोक्षति बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति ॥ ३ ॥

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनयत्यदित्यै व्युन्दनमसीतीयं वै पृथिव्यदितिस्तदस्या ऽएवैतदोषधीनां मूलान्युपोनत्ति ता ऽइमा आर्द्र-

मूला ऽओषधयस्तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्त्यार्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ विस्रꣳस्य ग्रन्थिम् । पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति विष्णोस्तूपोऽसीति यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति पुरस्ताद्गृह्णाति । पुरस्ताद्ध्ययꣳ स्तुपस्तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहनं विस्रꣳसयति । सन्नद्धं हैवास्य स्त्री विजायत ऽइति तस्मात् सन्नहनं विस्रꣳसयति तद्दक्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति नीविर्हैवास्यैषा दक्षिणात ऽइव हीयं नीविस्तस्माद्दक्षिणायाꣳ श्रोणौ निदधाति तत्पुनरभिच्छादयत्यभिच्छन्नेव हीयं नीविस्तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ६ ॥

अथ बर्हि स्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद् बर्हि स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नताया ऽएव तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥८॥

यावती वै वेदिः । तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तद-स्यामेवैतत् पृथिव्यामोषधीर्दधाति ता ऽइमा ऽअस्यां पृथि-व्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद्बर्हिः स्तृणाति ॥९॥

तद्धै बहुलꣳ स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वा ऽअस्यै बहुलतमा ऽओषधयस्तदस्या ऽउपजीवनीयतमं तस्माद् बहुलꣳ स्तृणी-यादिति तद्धै तदाहर्त्तुर्येवाधि त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञो-ऽथो ऽअपि प्रबर्हꣳ स्तृणीयात् स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह्यृषिणाभ्यनूक्तमधरमूलꣳ स्तृणात्यधरमूला ऽइव हीमा ऽअस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मादधरमूलꣳ स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवे-भ्य ऽइति साध्वीं देवेभ्य ऽइत्येवैतदाह यदाहोर्णाम्रदसं त्वेति स्वासस्थां देवेभ्य ऽइति स्वासदां देवेभ्य ऽइत्येवैतदाह ॥११॥

अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः पूर्वार्द्धो वै शिरः पूर्वार्द्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयत्युपर्युपरि प्रस्तरं धार-यन् कल्पयत्ययं वै स्तुपः प्रस्तर ऽएतमेवास्मिन्नेतत्सन्निदधाति तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

अथ परिधीन् परिदधाति । तद्यत् परिधीन् परिद-धाति यत्र वै देवा ऽअग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत तद्धोवाच

न वा अहमिदमुत्सहे यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेय-न्त्रीन् पूर्वान् प्रावृढ्वं ते प्राधन्विषुस्तान्नु मेऽत्रकल्पयताथवा ऽअहमेतदुत्साद्ये यद्वो होता स्यां यद्वो हव्यं वहेयमिति तथेति तानस्मा ऽएतानवाकल्पयंस्त ऽएते परिधयः ॥१३॥

स होवाच । वज्रो वै तान् वषट्कारः प्रावृणग् वज्राद्वै वषट्काराद् बिभेमि यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यादे-तैरेव मा परिधत्त तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रवर्क्ष्यतीति तथेति तमेतैः पर्यदधुस्तन्न वज्रो वषट्कारः प्रावृणक् तद्व-स्मैवैतदग्नये नह्यति यदेतैः परिदधाति ॥१४॥

त ऽउ हैत ऽऊचुः । इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थास्त्वे-वास्माकमपि यज्ञे भाग ऽइति ॥ १५ ॥

तथेति देवा ऽअब्रुवन् । यद्बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्व उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽविष्यत्यथ यदग्नौ होष्यन्ति तद्वोऽविष्यतीति स यदग्नौ जुहति तदे-नानवत्यथ यदेनानुपर्युपरि जुहति तदेनानवत्यथ यद्बहिष्प-रिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग इव स्कन्नꣳ स्यादिमां वै ते पृथिवीं प्राविशन् यद्वा ऽइदं किञ्च स्कन्दत्य-स्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥ १६ ॥

स स्कन्नमभिमृशति । भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहेत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि

यद् भुवनपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिस्तद् यथा वषट्कृतं हुतमेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति ॥ १७ ॥

तद्धैके । इध्मस्यैवैतान् परिधीन्परिदधति । तदु तथा न कुर्याद् अनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति यानिध्मस्य परिदधात्यभ्याधानाय ह्येवेध्मः क्रियते तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति यस्यैतनन्यान हरन्ति परिधय इति तस्मादन्यानेवाहरेयुः ॥ १८ ॥

ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्निरग्न्यो हि तस्मात्पालाशाः स्युः ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न विन्देत् । अथो अपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकङ्कतान् न विन्देदथो अपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान् न विन्देदथो अपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथो औदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥ २० ॥ ६ ॥

(समाप्तं चेदमिध्मब्राह्मणम्)

इति द्वितीयप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणं, तृतीयाध्याये च तृतीयं ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः ।

(अथ—परिधिब्राह्मणम्)

ते वा ऽआर्द्राः स्युः। एतद्ध्येषां जीवमेतेन सतेजस ऽएतेन व्वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति । गन्धर्व्वस्त्वा व्विश्वावसुः परिदधातु व्विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडित ऽइति ॥२॥

अथ दक्षिणं परिदधाति । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो व्विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडित ऽइति ॥ ३ ॥

अथोत्तरं परिदधाति । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा व्विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडित ऽइत्यग्नयो हि तस्मादाहाग्निरिड ऽईडित ऽइति ॥ ४ ॥

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनो ऽग्निं प्रत्यक्षꣳ समिन्धे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति । व्वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वर ऽइत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दाꣳसि समिन्धे छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं व्वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ या द्वितीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । व्वसन्तमेव तया समिन्धे स व्वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून्त्समिन्ध ऽऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति सोऽभ्यादधाति समिदसीति समिद्धि व्वसन्तः ॥ ७ ॥

अथाभ्याधाय जपति । सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्या ऽइति गुप्त्यै वा ऽअभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्य्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति नेत् पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यभ्यवचरानिति सूर्य्यो हि नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहन्ता ॥ ८ ॥

अथ यामेवामुं तृतीयाꣳ समिधमभ्यादधाति । अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्धे स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥ ९ ॥

अथ स्तीर्णां व्वेदिमुपावर्त्तते । स द्वे तृणे ऽआदाय तिरश्ची निदधाति सवितुर्बाहू स्थ इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्यैते भुवावेव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्च्यौ भुवौ क्षत्रं व्वै प्रस्तरो व्विश ऽइतरं बर्हिः क्षत्रस्य चैव व्विशश्च व्विधृत्यै तस्मात्तिरश्ची निदधाति तस्माद्वेव व्विधृती नाम ॥ १० ॥

तत् प्रस्तरꣳ स्तृणाति । ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य ऽइति साधुं देवेभ्य ऽइत्येवैतदाह–यदाहो-

योमग्रदसं त्वेति स्वासस्थं देवेभ्य ऽइति स्वामदं देवेभ्य ऽइत्ये-वैतदाह ॥ ११ ॥

तमभिनिदधाति । आ त्वा व्वसवो रुद्रा ऽआदित्याः सदन्त्वित्येते वै त्रयो देवा यद्वसवो रुद्रा ऽआदित्या ऽएते त्वासीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥ १२ ॥

अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाᳪस्याविशानिति ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्माद-भिनिहित ऽएव सव्येन पाणिना भवति ॥ १३ ॥

अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति । घृताच्यसि जुहूर्नाम्नेति घृताची हि जुहूर्हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳪ सद ऽआसीदेति घृताच्यस्युपभृन्नाम्नेत्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳪ सद ऽआसीदेति घृता-च्यसि ध्रुवा नाम्नेति ध्रुवा घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियᳪ सद ऽआसीदेति यदन्यद्धविः १४

स वा ऽउपरि जुहूᳮ सादयति । अथ ऽइतराः स्रुचः क्षत्रं वै जुहूर्विश ऽइतराः स्रुचः क्षत्रमेवैतत् विश ऽउत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा ऽउपासते तस्मादुपरि जुहूᳮ सादयत्यध इतराः स्रुचः ॥१५॥

सोऽभिमृशति । ध्रुवा ऽअसदन्निति ध्रुवा ह्यसदन्नृतस्य योनाविति यज्ञो वा ऽऋृतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदंस्ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति तद्यजमानमाह पाहि मां यज्ञन्यमिति तदध्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति यज्ञो वै विष्णु-स्तद्यज्ञायैवैतत्सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता विष्णो पाहीति ॥ १६ ॥ १ ॥ [३, ४]

(समाप्तं चेदं परिधिब्राह्मणम्)

इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणं, तृतीयाध्याये च चतुर्थं ब्राह्मणम्

इति—निर्भुजपाठः

ख—प्रतृरणपाठः (अर्थावबोधानुगतः)—

(१—इध्म-वेदि-बर्हिषां प्रोक्षणं, तथा प्रोक्षणीशेषेण बर्हिर्मूलोपसेचनम्)

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति—"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः सं० २।१) इति । तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति । अथ वेदिं प्रोक्षति—"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि" (२।१) इति । तन्मेध्यामेवैतद् बर्हिषे करोति । अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत् पुरस्ताद् ग्रन्थ्यासादयति । तत् प्रोक्षति—"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (२।१) इति । तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति । अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते, ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनयति—"अदित्यै व्युन्दनमसि" (२।२) इति । इयं वै पृथिवी- अदितिः । तदस्या एवौषधीनां

मूलान्युपोनत्ति । ता इमा आर्द्रमूला ओषधयः । तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्ति, आर्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ।

(२–पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिषः पुरस्तात प्रस्तरग्रहणम्)

अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति–"विष्णोःस्तुपोऽसि" (२।२) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येयमेव शिखा स्तुपः । एतामत्रास्मिन्ने-तद्दधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्ध्ययं स्तुपः, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति । अथ सन्नहनं विस्रंसयति । प्रक्लृप्तं हैवास्य स्त्री विजायते, इति । तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति । तद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीयं नीविः । तस्माद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । तत् पुन-रभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव हीयं नीविः । तस्मात् पुनरभिच्छादयति ।

(३–वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत् स्तरणम्)

अथ बर्हिस्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरः । अथ यान्यत्राक्षि लोमानि, तान्येवास्य–यदितरं बर्हिः, तान्येवास्मिन्नतद्दधाति । तस्माद् बर्हिस्तृणाति । योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनू-चानाः । तेष्वेवैनामेतत् पर्य्यासीनेष्वनग्नां करोति–अनग्नताया एव । तस्माद् बर्हिस्तृणाति । यावती वै वेदिः, तावती पृथिवी । ओषधयो बर्हिः । तद-स्यामेवैतद् पृथिव्यामोषधीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रति-ष्ठिताः । तस्माद् बर्हिस्तृणाति । 'तद्वै बहुलं स्तृणीयात्' इत्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधयः, तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तृ-णीयात्' इति । तद्वै तदाहर्त्तर्येनाधि । त्रिवृत् स्तृणाति, त्रिवृद्धि यज्ञः । अथो अपि प्रबर्हं स्तृणीयात् । "स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्" इति हि ऋषि-णाभ्यनूक्तम् । अधरमूलं स्तृणाति । अधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्या-

मोषधयः प्रतिष्ठिताः। तस्मादधरमूलं स्तृणाति। स स्तृणाति-"ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः" (२।२) इति साध्वीं देवेभ्य, इत्येवैतदाह, यदाह-'ऊर्णम्रदसं त्वा' इति। 'स्वासस्थां देवेभ्यः' इति-स्वासदां देवेभ्यः-इत्येवैतदाह।

(४-आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रज्वलीकरणम्)

अथाग्निं कल्पयति। शिरो वै यज्ञस्य हवनीयः। पूर्वार्द्धो वै शिरः, पूर्वार्द्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयति। उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति। अयं वै स्तुपः प्रस्तरः। एतमेवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति। तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति।

(५-आहवनीस्य पश्चिमे दक्षिणे उत्तरे च क्रमेण परिधिपरिनिधानम)

अथ परिधीन् परिदधाति। तद् यत् परिधीन् परिदधाति-यत्र वै देवा अग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत, तद्धोवाच-"न वा अहमिदमुत्सहे, यद्वो होता स्याम्। यद्वो हव्यं वहेयम्, त्रीन् पूर्वान् प्रावृढ्वं, ते प्राधन्विषुः, तान्नु मेऽवकल्पयत। अथ वा अहमेतदुत्साक्ष्ये-यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयम्" इति। तथेति। तानस्मा एतानवाकल्पयन्, त एते परिधयः। स होवाच-वज्रो वै तान् वषट्कारः प्रावृणक्। वज्राद्ध वषट्काराद् बिभेमि, यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यात्। एतैरेव मा परिधत्त, तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रवर्त्स्यतीति। तथेति। तमेतैः पर्य्यदधुः। तन्न वज्रो वषट्कारः प्रावृणक्। तद्वमैतदग्नये न्हाति-यदेतैः परिदधाति। त उ हैत ऊचुः-इदमु चेदस्मात् यज्ञे यु क्थ, अस्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भागः, इति। तथेति देवा अब्रुवन्-"यद्वहिष्परिधि स्कन्त्स्यति-तद्युष्मासु हुतम्। अथ यद्व उपर्युपरि होष्यन्ति-तद्वोऽविष्यति। अथ यदग्नौ होष्यन्ति-तद्वोऽविष्यति"

इति । स यदग्नौ जुह्वति–तदेनानवति, अथ यदेनाननुपर्य्युपरि जुह्वति–तदेना-
नवति, अथ यद् बहिष्परिधि स्कन्दति–तदेतेषु हुतम् । तस्माद् ह नाग इव
स्कन्नं स्यात् । इमां वैते पृथिवीं प्राविशन् । यद्वा इदं किञ्च स्कन्दति–
अस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ।

स स्कन्नमभिमृशति–"भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां
पतये स्वाहा" (२।२) इति । एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि–यद् भुव-
पतिः, भुवनपतिः, भूतानांपतिः । तद् यथा वषट्कृतं हुतं–एवमस्यैतेष्वग्निषु
भवति । तद्धैके–इध्मस्यैवैतान् परिधीन् परिदधति । तदु तथा न कुर्यात् ।
अनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति–यानिध्मस्य परिदधाति । अभ्याधानाय
ह्येवेध्मः क्रियते । तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति–यस्यैतानन्यानाहरन्ति–परि-
धयः, इति । तस्मादन्यानेवाहरेयुः । ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशः,
ब्रह्माग्निः । अग्नयो हि । तस्मात् पालाशाः स्युः । यदि पालाशान् न विन्देत्-
अथो अपि वैकङ्कताः स्युः । यदि वैकङ्कतान् न विन्देत्–अथो अपि कार्ष्म-
र्यमयाः स्युः । यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देत्–अथो अपि बैल्वाःस्युः,-अथो खादिराः,
अथो औदुम्बराः । एते हि वृक्षा यज्ञियाः । तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ।

(अत्र–इध्मब्राह्मणं समाप्तम्)

ते वा आर्द्राः स्युः । एतद्ध्येषां जीवं, एतेन सतेजसः, एतेन वीर्यवन्तः ।
तस्मादार्द्राः स्युः । स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति–"गन्धर्वस्त्वा विश्वा-
वसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः"
(२।३) इति । अथ दक्षिणं परिदधाति–"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो
विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" (२।३) इति ।
अथोत्तरं परिदधाति–"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा

विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" इति। अग्नयो हि। तस्मादाह—'अग्निरिड ईडितः' इति।

(६—आहवनीये समिधाधानम्)

अथ समिधमभ्यादधाति। स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैतानग्रे समिन्धे। अथाग्नावभ्यादधाति, तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे। सोऽभ्यादधाति—"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (२।४) इत्येतया गायत्र्या। गायत्रीमेवैतत् समिन्धे। सा गायत्री समिद्धान्यन्यानि छन्दांसि समिन्धे। छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। अथ यां द्वितीयां समिधमभ्यादधाति—वसन्तमेव तया समिन्धे। स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे। ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति। सोऽभ्यादधाति—'समिदसि' (२।५) इति। समिद्धि वसन्तः। अथाभ्याधाय जपति—"सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै" (२।५) इति। गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति। अथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति—'नेत् पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यभ्यवचरान्' इति। सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता। अथ यामेवामूं तृतीयां समिधमभ्यादधाति—अनुयाजेषु, ब्राह्मणमेव तया समिन्धे। स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति।

(७—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्यां निधानम्)

अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्त्तते। स द्वे तृणे आदाय तिरश्ची निदधाति—"सवितुर्बाहूस्थः" (२।५) इति। अयं वै स्तुपः प्रस्तरः। अथास्यैते भुजावेव तिरश्ची निदधाति। तस्मादिमे तिरश्च्यौ भुजौ। क्षत्रं वै प्रस्तरः, विश

इतरं बर्हिः । त्वत्रस्य चैव, विशश्च विधृत्यै । तस्मात्तिरश्ची निदधाति । तस्माद्वेव विधृती नाम ।

(८–विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणम्)

तत् प्रस्तरं स्तृणाति–"ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" (२।५) इति । 'साधुं देवेभ्य' इत्येवैतदाह–'ऊर्णाम्रदसं त्वा' इति । 'स्वासस्थं देवेभ्यः' इति– स्वासद देवेभ्यः' इत्येवैतदाह ।

(९–पाणिद्वयेन प्रस्ताराभिनिधानम्)

तमभिनिदधाति–"आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" (२।५) इति । एते वै त्रया देवाः–यद्वसवो, रुद्रा, आदित्याः । 'एते त्वासीदन्तु' इत्येवैतदाह ।

(१०–प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचां ग्रहणं, प्रस्तरे स्थापनञ्च)

अभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति, अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति–नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशान्, इति । ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता । तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति, अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति–"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना" (२।६) इति । घृताची हि, जुहूर्हि नाम्ना । "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" (२।६) इति । "घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना" (२।६) इत्युपभृतम् । घृताची हि, उपभृद्धि नाम्ना । "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" (२।६) इति । 'घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" इति ध्रुवाम् । घृताची हि, ध्रुवा हि नाम्ना ।

"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" (२।६) इति-यदन्यद्धविः । स वा उपरि जुहूँ सादयति, अथ इतराः स्रुचः । क्षत्रं वै जुहूः, विश इतराः स्रुचः । क्षत्रमेवैतद्-विश उत्तरं करोति । तस्मादुपर्य्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते । तस्मादुपरि जुहूं सादयति, अथ इतराः स्रुचः ।

(११-अभिमर्शनम्)

सोऽभिमृशति-"ध्रुवा असदन्" इति । ध्रुवा ह्यसदन् । "ऋतस्य योनौ" (२।६) इति । यज्ञो वा ऋतस्य योनिः, यज्ञे ह्यसदन् । "ता विष्णो पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" (२।६) इति । तद्यजमानमाह । "पाहि मां यज्ञन्यम्" (२।६) इति । तदप्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति । यज्ञो वै विष्णुः । तद्यज्ञायैवैतद् सर्वं परिददाति गुप्त्यै । तस्मादाह-'ता विष्णो पाहि' इति ।

(अत्र-परिधिब्राह्मणं समाप्तम्)

इति-प्रस्तरणपाठः ।

—ख—

इति-तृतीयाध्याये तृतीयं-चतुर्थं, द्वितीयप्रपाठके षष्ठं,
तृतीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्
(१।३।३-४)—(१।२।६-१।३।१)
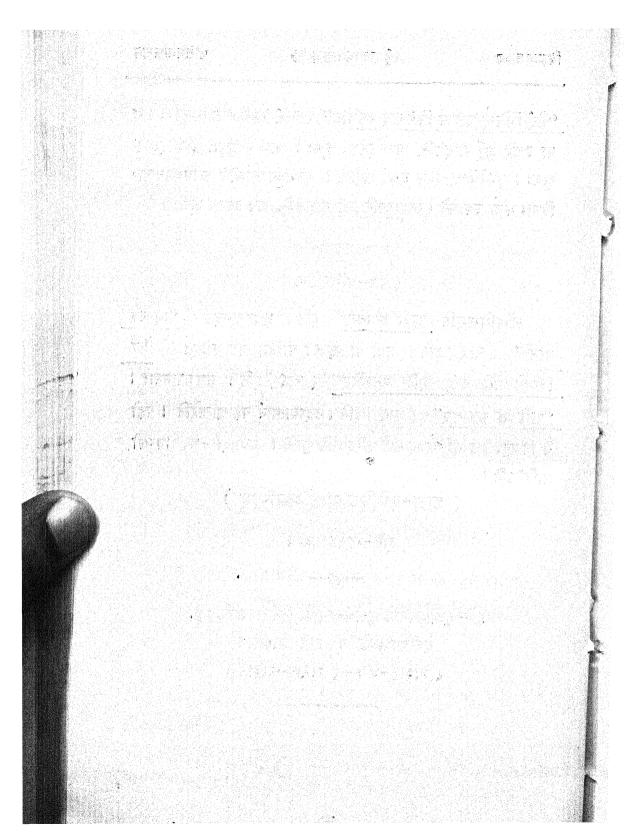
ग—मूलानुवाद—

१—इध्म, वेदि तथा बर्हि का प्रोक्षण, तथा प्रोक्षणीशेष से बर्हिमूलोपसिञ्चन

अध्वर्यु (नामक ऋत्विक् क्रमशः इध्म वेदि—बर्हि के प्रोक्षण के लिए) प्रोक्षणी (प्रोक्षण कर्म्म—के लिए नियत, अतएव 'प्रोक्षणी' नाम से प्रसिद्ध जलों) का ग्रहण करता है। (इसे इन प्रोक्षणी जलों से इध्म—वेदि- बर्हि, तीनों का प्रोक्षण करना है। इन में से) यह अध्वर्यु सब से पहिले **"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"** (यजुः सं० २।१ हे अग्ने! आप कृष्ण-कृष्णमृग—हैं, आहवनीय नामक खर में प्रतिष्ठित रहने के कारण आप 'आखरेष्ठ' हैं, ऐसे आप का यथानुरूप—अभिलषित प्रोक्षण करता हूं) यह मन्त्र बोलता हुआ इध्म (यज्ञाग्नि-प्रज्वलन के लिए आए हुए लकड़ी के बंधे हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण कर्म्म से इन इध्म सम्भारों को अध्वर्यु अग्निदेवता के लिए सङ्गमनीय ही करता है ॥ १ ॥

इध्मप्रोक्षणानन्तर—"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः सं० २।१ -आप सर्वयज्ञसमृद्धि प्राप्ति के कारण 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हैं, बर्हिस्तरण के लिए आप का मैं अभिलषित प्रोक्षण करता हूं) यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म्म से यह अध्वर्यु इस वेदिको बर्हिस्तरण कर्म्म के लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥ २ ॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर (बर्हि के प्रोक्षण के लिए) आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्यु के हाथ में बर्हि (कुशमुष्टि) सौंपता है। (आग्नीध्र से समर्पित बर्हि को हाथ मे लेकर) अध्वर्यु उस बर्हि को वेदिपर उत्तराग्र इस प्रकार रखता है, जिससे कि बर्हि की गांठ पूर्व की ओर रहे। (इस प्रकार वेदि पर पुरस्ताद्—ग्रन्थि रूप से बर्हि प्रतिष्ठित कर) वह अध्वर्यु—"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः सं० २।१—आप वेदिबृंहण कर्म्म में समर्थ बनते हुए 'बर्हि' नाम से प्रसिद्ध

हैं, ऐसे आप का मैं स्रुचों के लिए अभिलषित प्रोक्षण करता हूं) यह मन्त्र बोलता हुआ वेदिपर प्रतिष्ठित बर्हि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म्म से यह अध्वर्यु स्रुचों के लिए ही इस बर्हि को सङ्गमनीय करता है ॥ ३ ॥ *

तीनों प्रोक्षण–कर्म्मों के अनन्तर (प्रोक्षणी पात्र में) जो प्रोक्षणी जल बच जाते हैं, उन से "अदित्यै व्युन्दनमसि" (यजुः सं० २।२–हे प्रोक्षणीं जल आप पृथिवी के सिञ्चक हो) यह मन्त्र बोलता हुआ ओषधियें (बर्हि) के मूलों का सिञ्चन करता है (बचे पानी को ओषधियों की जड़ों में डाल देता है)। निश्चयेन पृथिवी अदिति है। इस सिञ्चन कर्म्म से अध्वर्यु इस पृथिवी के ओषधिमूलों को ही आर्द्र करता है। (इसी सिञ्चन कर्म्म से) ये ओषधियाँ मूलभाग से आर्द्र (उपलब्ध होतीं) हैं। इसी सिञ्चन कर्म्म का यह प्रभाव है कि, यद्यपि ओषधियों का अग्रभाग शुष्क रहता है, परन्तु मूलभाग आर्द्र ही होते हैं ॥४॥

---

* इध्म (काष्ठसम्भार) का उपयोग आहवनीयाग्नि में होता है, वेदि का उपयोग बर्हिस्तरण कर्म्म में होता है, एव बर्हि का उपयोग स्रुक्स्थापन कर्म्म में होता है। दूसरे शब्दों में इध्म आहवनीय अग्नि में डाले जाते हैं, बर्हि वेदि पर बिछाई जाती है, एवं स्रुक्पात्र बर्हि पर रक्खे जाते हैं। इध्म का यज्ञाग्नि से, वेदि का बर्हि से, एवं बर्हि का स्रुक्पात्रों से संगमनीय-यज्ञ सम्बन्ध होजाय, एक मात्र इसी प्रयोजन के लिए इध्म, वेदि, बर्हि का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल में गृहीत तीनों ही पवित्र अवश्य हैं, परन्तु अभी इन में मेध्यधर्म्म का अभाव है। पानी में मेध्यगुण है। इसी मेध्यभाव की निष्पत्ति के लिए प्रकृत प्रोक्षणकर्म्म विहित है। मेध्यता, पवित्रता भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व हैं। ऐसी दशा में मेध्य का 'शुद्ध' (पवित्र) अर्थ मानना नितान्त असङ्गत है, जैसा कि व्याख्याताओं ने 'वेदिं शुद्धां करोति' रूप से कर दिया है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ १—१—१ के भाष्य में विस्तार से किया जाचुका है।

२–प्रणीता में पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग से प्रस्तर ग्रहण—

प्रोक्षणकर्म्मानन्तर यह अध्वर्यु (अपने हाथ से प्रणीतापात्र में दो कुशा रखकर) वेदि पर पुरस्तात् गांठ लगे हुए रक्खे बर्हि (कुशमुष्टि) की गांठ खोल कर–"विष्णो स्तुपोऽसि" (यजुः सं० २।२ हे प्रस्तर ! आप विष्णु–यज्ञ–के स्तुपस्थानीय–केशसङ्घातरूप शिखा स्थानीय–है ।) यह मन्त्र बोलता हुआ उस बर्हि में से पूर्व की ओर से (कुशसमूह लक्षण) प्रस्तर का ग्रहण करता है । विष्णु निश्चयेन यज्ञ है, इस यज्ञ पुरुष की शिखा यह स्तुप (कुशसङ्घात लक्षण प्रस्तर) ही है । (प्रस्तर ग्रहण करता हुआ अध्वर्यु) इस यज्ञ पुरुष में इस शिखा को ही प्रतिष्ठित करता है । यह स्तुप (शिखा–आध्यात्मिक यज्ञरूप पुरुष के) पूर्वभाग (शिरोभाग) में ही है, अतएव (तत्प्रतिरूप इस वैध आधिभौतिकयज्ञ पुरुष के शिखास्थानीय स्तुप का भी) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है ॥५॥

(बतलाया गया है कि, वेदि पर रक्खे हुए बर्हि संघात की रज्जू की गांठ खोल कर अध्वर्यु–उस में से प्रस्तर ग्रहण करता है । इस ग्रहण कर्म्म के अनन्तर प्रस्तर तो ब्रह्मा को सौंप देता है, एवं जो) सन्नहन (बर्हि के चारों ओर लिपटी हुई बन्धन रज्जु) है, उसे (बर्हि से सर्वथा) पृथक् कर देता है । (सन्नहन को पृथक् क्यों किया जाता है ? इस की उपपत्ति बतलाते हैं)–यह निश्चित है कि, बन्धन के खुल जाने पर ही इस यजमान की स्त्री दशममास में सम्पूर्णावयव सन्तान उत्पन्न करती है । (तात्पर्य्य यही है कि, नीवीबन्धन खोलदेने से ही गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसव कर्म्म करने में समर्थ होती है । इधर वेदि 'योषात्मिका' बनती हुई निदानेन स्त्री है, एवं यह बर्हि–रज्जु इस का नीवी–बन्धन है । यह दैवात्मारूप सन्तान उत्पन्न करने वाली है । उत्पत्ति–कर्म्म में बन्धन विस्रंसन आवश्यक है) इसी लिए सन्नहन खोलता है । उस सन्नहन रज्जु को वेदि के दहिने श्रोणी भाग पर रख देता है । कारण यही है कि, यह रज्जु (निदानेन) इस यजमान पत्नी का नीवी–बन्धन ही है । एवं लोकव्यवहार में निवीबन्धन स्त्रियों के

दक्षिण श्रोणिभाग पर ही रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूप वेदि के) दक्षिण श्रोणिभाग में ही नीवी-बन्धनस्थानीया रज्जु प्रतिष्ठित करता है। दक्षिणश्रेणिभाग पर रक्खी हुई नीवी को बर्हि से आच्छादित करदेता है। कारण यही है कि, लोकव्यवहार में स्त्रियों का नीवी बन्धन वस्त्र से आच्छादित रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूप वेदि के) इस नीवी बन्धन स्थानीय रज्जु को आच्छादित कर देता है ॥ ६ ॥

३-वेदिपर बर्हिस्तृण से त्रिवृत्-रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण-कर्म्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि, निदानविधि से प्रस्तर शिखा-स्थानीय है। जब कि इस वैध यज्ञ में पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का संग्रह आवश्यक माना गया है, तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के लोमों का भी उसी निदानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है)-सन्नहन-विस्रंसनकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु (वेदि पर घन भाव से, अथवा त्रिवृत्मर्य्यादा से) कुश बिछाता है। (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुशमुष्टि) निश्चयेन (निदान-विधि से) स्तुप (केशसंघात लक्षण शिखा) है। (स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुशा बिछाई जाती है) वह यह इतरबर्हि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुश) (निदानविधि से) शिखा के अधः प्रदेशों में (सर्वाङ्ग शरीर में) प्रतिष्ठित लोम (लोम का प्रतिरूप) है। (वेदि पर कुशा बिछाता हुआ अध्वर्यु प्रतिरूप मर्य्यादा से) उन अधः स्थित लोमों को ही यज्ञ पुरुष पर लगाता है। इस लिए कुशा बिछाता है ॥ ७ ॥

(कुशास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञ-पुरुष के लोम से सम्बन्ध रखती है। अब स्वयं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)-यह वेदि (प्रतिरूप मर्य्यादा से) योषा (स्त्री) है। इस स्त्री (रूपा वेदि) के ऊपर

(हविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं जो ये प्रयोग-हस्यज्ञ तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। (लोकमर्य्यादा में एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती, अपितु अपना सर्वाङ्ग शरीर वस्त्र से वेष्टित कर लज्जाभाव से आसीन रहती है, इधर वेदि भी योषा-स्थानीय है, इसे भी यहां उक्त अलौकिक-प्राणदेवताओं, एवं लौकिक ऋत्विजों के समीप रहना पड़ता है। इसलिए अनग्नता के लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-इन बैठे हुए देवताओं, तथा ऋत्विजों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वेदिपर कुशा बिछाता हुआ) अध्वर्यु इस वेदि को अनग्न बनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुश स्तरण आवश्यक है)। इसलिए (भी) कुशा बिछाता है ॥८॥

(अब वेदि को प्रतिरूप-मर्य्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है)—

जितनी बड़ी वेदि है, उतनी बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक-यज्ञप्रतिष्ठात्मिका-पृथिवी का प्रतिरूप है)। ओषधियाँ (प्रतिरूपविधि से यहां) बर्हि हैं। (जब कि-वेदिरूपा पृथिवी का यहां सम्बन्ध है, तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। वही कार्य्य बर्हिस्तरण से पूर्ण होजाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-(बर्हिस्तरण करता हुआ) अध्वर्यु इस पृथिवी पर (पृथिवीस्थानीया वेदिपर) ओषधियाँ ही प्रतिष्ठित करता है। ये ओषधियाँ इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य इस वाक्य का यह है कि, पृथिवी का अपना पूर्ण स्वरूप वही कहलाता है, जिसपर ओषधियाँ रहती हैं। ओषधियुक्ता पृथिवी ही समृद्धा पृथिवी मानी गई है। इधर वेदि का निर्माण शुद्ध मिट्टी से हुआ है। ओषधियों को उखाड़कर केवल मृद्भाग से वेदि बनाई गई है। ओषधियों की प्रतिष्ठा का उखड जाना पृथिवी का निर्वीर्य्य (ऊसर) बन जाना है। इस निर्वीर्य्यता को दूर करने के लिए, ओषधिप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करने के लिए ही यहां कुशास्तरण आवश्यक है)। इस लिए अध्वर्यु कुशास्तरण करता है ॥९॥

(कुशास्तरण अतिशय घन होना चाहिए, जिस से वेदिप्रदेश अणुमात्र भी न दीख सके—इस विशेषता को उपन्यस्त करती हुई श्रुति कहती है)—यज्ञरहस्य वेत्ता विद्वानों का आस्तरण के सम्बन्ध में यह कहना है कि, वह अध्वर्यु घनरूप से बर्हि बिछावे। अभिप्राय उन अभिज्ञों का (इस कथन में) यह है कि, पृथिवी के जिस भाग में ओषधियाँ प्रचुर मात्रा में होतीं हैं, पृथिवी का वह भाग अतिशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्त्ता जो यजमान है, वही इस बहुल-स्तरणानुबन्धी जीवनप्रदभाग का भोक्ता बनता है। जैसा कि—**"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि, तल्लक्षणत्वात्"** इत्यादि जैमिनि सूत्र से प्रमाणित है। (यदि यजमान यहां अपने यज्ञ में भूमिस्थानीया वेदि का ओषधि-स्थानीय बर्हि से बहुल-आच्छादन करेगा, तो इस के भागधेय का भूप्रदेश प्रचुर ओषधियों से युक्त बनता हुआ इस के लिए उपजीवनीयतम (भोग्यतम) बन जायगा, यही तात्पर्य्य है)।

बर्हिस्तरण त्रिवृतरूप से करता है (तीन दर्भमुष्टियों से तीन बार बिछाता है)। कारण यही है कि, (त्रिसत्यप्राणदेवताओं के सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। (इस त्रिवृत्-लक्षण यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन बार कुशास्तरण होना उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अभिप्राय यही है कि, तीन दर्भमुष्टियों से इस प्रकार स्तरण करना चाहिए, जिस से तीनों दर्भमुष्टियों के तीनों स्तर एकस्तर—रूप से प्रतत हों। पहिले एक दर्भमुष्टि लेकर उसे वेदि के पूर्व भाग में दक्षिण अंस से आरम्भ कर उत्तरांस पर्य्यन्त इस प्रकार वेदि पर बिछाना चाहिए, जिस से कुशों का अग्रभाग तो पूर्व की ओर रहे, तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहे। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि लेकर (पहिले की दर्भमुष्टि से संलग्न) वेदिमध्य भाग में प्रथममुष्टि से पश्चिम प्रदेश में इस प्रकार बिछावे, जिस से पूर्वमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस द्वितीयमुष्टि के पूर्वास्थित अग्रभागों के नीचे दब जायँ। इसी प्रकार तीसरी कुशमुष्टि लेकर (दूसरी दर्भमुष्टि से संलग्न) वेदि के पश्चिमान्त भाग में इस प्रकार बिछावे, जिस से मध्यमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस

तृतीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों से आच्छादित होजायँ। इस प्रकार वेदि के पूर्व भाग से स्तरण आरम्भ होगा। एवं तीनों स्तरणों में कुश के अग्रभाग पूर्व की ओर रहेंगे, मूलभाग पश्चिम की ओर रहेगा। साथ ही प्रथममुष्टि के मूलभाग मध्यमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे एवं मध्यमुष्टि के मूलभाग तृतीयमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे। इसीको त्रिवृतस्तरण कहा जायगा। इस स्तरणकर्म्म का आरम्भ पूर्व से होगा, अवसान पश्चिम में होगा। इसी को **'पश्चादपवर्ग'** पक्ष माना जायगा।

(दूसरा है—**'प्रागपवर्ग'** पक्ष। पहिले प्रथम दर्भमुष्टि को वेदि के पश्चिमभाग में पूर्व की ओर अग्रभाग रखते हुए, तथा पश्चिम की ओर मूलभाग रखते हुए बिछाया जाता है। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि बिछाते हुए प्रथममुष्टि के अग्रभागों को ऊपर उठा कर इन के नीचे दूसरी मुष्टि के मूलभाग दबा दिए जाते हैं। तृतीय मुष्टि पूर्व में बिछाई जाती है। इस के मूलभाग भी मध्यमुष्टि के अग्रभागों के नीचे दबा दिए जाते हैं इस प्रकार यह आस्तरण पश्चिम से आरम्भ होकर पूर्व में समाप्त होता है। इस पक्ष में कुशाओं का परस्पर ओतप्रोतभाव सा होजाता है। जिसप्रकार लोकव्यवहार में तृणादि के छप्पर बनाते हुए तृण—पूलकों को परस्पर दाब कर फैलाया जाता है, वैसे ही यह आस्तरण कर्म्म है। स्वयं ऋषि ने (वेदमन्त्रने) भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। इसी द्वितीय पक्ष को उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है)—

अथवा 'प्रवर्ह' मर्य्यादा से (एक मुष्टि के अग्रभागों के नीचे दूसरी के मूल दाबते हुए) आस्तरण करना चाहिए। (क्योंकि)—**"स्तृणीत बर्हिरानुषक्"** ऋक् सं० १मं०।१३सू०।५मं०-परस्पर सम्बद्ध बर्हि अध्वर्यु लोग बिछाते हैं, यह मन्त्र इसी पक्ष को बतला रहा है। (दोनों पक्षों में मूलभाग अधः प्रदेश युक्त रहें, इसी प्रकार से फैलाता है। (अर्थात् बर्हि के मूलभाग अग्रभागों के नीचे दबाना उभयपक्ष में ग्राह्य है)। इस पृथिवीपर ओषधियाँ अधरमूलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं।

इसलिए (ओषधिस्थानीय) बर्हि को (पृथिवीस्थानीय वेदिपर) अधरमूलरूप से ही फैलाता है ॥ १० ॥

(७, ८, ९, १०, इन चार कण्डिकाओं से बर्हि–स्तरण की उपपत्ति बतलाई गई। अब आगे की ११ वीं कण्डिका से आवृत्-पद्धति बतलाते हैं) वह अध्वर्यु "ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः" (यजुः सं २।२-ऊर्णसूत्र उन-से बने हुए कोमलस्पर्श कम्बल के समान स्पर्शवाली बनाने के लिए, हे वेदिदेवते! आप बर्हि बिछाता हूं। आप देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने का साधन हो) यह मन्त्र बोलता हुआ बर्हिस्तरण करता है। 'देवताओं के लिए आप शोभना बनाई जाती हैं' यही कहा गया है, जोकि 'ऊर्णम्रदसं त्वा' यह कहा गया है। 'स्वासस्थां देवेभ्यः' इस मन्त्रभाग से आप देवताओं के लिए सुखात्मिका प्रतिष्ठा भूमि बनाई जारही हैं यही कहा गया है ॥ ११ ॥

४–आहवनीयाग्नि का इध्म–काष्ठ से प्रबलीकरण—

वेद्यास्तरणानन्तर वह अध्वर्यु आहवनीयाग्नि को ÷ क्लृप्त हविर्दहनसमर्थ) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है)। यह आहवनीयाग्नि इस (पुरुषप्रतिरूप) यज्ञ का मस्तक (स्थानीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म्म से अध्वर्यु पूर्वभाग (आहवनियाग्निरूप शिरोभाग) को ही प्रबल

÷ इस सम्बन्ध में दो विकल्प हैं। कितनों हीं के मतानुसार तो आहवनीयाग्नि कुण्ड में प्रतिष्ठित अङ्गारों की भस्म झाड़ कर अग्नि को प्रबल बनादेना माह्य है, एवं कितने एक याज्ञिक और काष्ठ डाल कर अग्नि प्रज्वलित करते हैं। दोनों में इष्टापत्ति है। अग्नि प्रज्वलन ही फलांश में अभिप्रेत है। वस्तुतस्तु अगले ब्राह्मण में इस कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता समाप्त होती है। अतः यहां काष्ठादि से भस्मापाकरण ही अभिप्रेत समझना चाहिए।

बनाता है। (शिरोभाग से उपलक्षित मुखाग्नि ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कर्म्म से प्रदीप्त किया जाता है, यही निष्कर्ष है)। आहवनीयाग्नि के ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखना हुआ ही अग्नि को क्लृप्त (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तर स्तुप (केशसङ्घातलक्षण शिखा) है। इसी को इस कर्म्म से इस प्रबलीकरण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी–शिखास्थित ऊर्ध्वाग्नि भी–इस कर्म्म से प्रबल बन जाय)–इस लिए प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रबल बनाता है। * ॥ १२ ॥

५–आहवनीय कुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर वह अध्वर्य्यु (आहवनीय कुण्ड के पश्चिम, उत्तर, तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमशः तीन) परिधियाँ स्थापित करता है। सो जिस लिए कि, परिधियाँ स्थापित करता है–(उस की उपपत्ति बतलाई जाती है)। (जिस समय) देवताओं नें (प्राणात्मक पार्थिव आग्नेयदेवताओं नें) जिस (अपने प्राकृतिक भूपिण्ड सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का होत्र–कर्म्म के लिए वरण किया–(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की), उस समय अग्नि (प्रत्युत्तर में यह) बोले कि, मैं इस कर्म्म के लिए अपना उत्साह नहीं दिखला सकता, जो कि (मैं) आप का होता बनूं, एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त लेजाने के लिए) हविर्द्रव्य का (भार) वहन करूं। (अग्नि ने होत्र कर्म्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया ? इस का कारण बतलाती हुई आगे जाकर

---

* इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में भोजन–व्यवहार के समय कहा जाता है कि, 'अमुक भूदेव चोटी पर हाथ फेरते गए, और भोजन करते गए'। अवश्य ही भोजन वेला में शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है, अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

श्रुति कहती है कि)–(अग्नि ने अनुत्साह का कारण बतलाते हुए देवताओं से यही कहा कि)–हे देवताओ ! आपने मेरे ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्नियों) को (होत्र कर्म्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था), और इसी विभीषिका से ये तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे *)।

(प्रवरण कर्म्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपतः विकृत उन) तीनों अग्नियों को यदि आप (पुनः) वापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अविकृत बना कर) लौटा सकते हैं, तो मैं (फिर भी यथाकथञ्चित्–आप के) इस होत्र कर्म्म के लिए उत्साह दिखला सकता हूं, जोकि (मैं) आप का होता बन जाऊं, तथा आप के हव्य का वहन करने लगजाऊं। (अग्नि की इस सन्धा-शर्त्त को स्वीकार करते हुए देवताओं नें कह दिया कि) ऐसा ही होगा । (तत्-काल देवताओं नें) उन (पलायित अग्नियों) को इस अग्नि के लिए (यज्ञ में पुनः अविकृत बनाकर) लौटा लिया। वे ही ये तीन परिधियाँ हैं। (अर्थात् पलायित तीनों अग्नियों के द्वारा यज्ञाग्नि को समृद्ध बन ने के लिए ही निदानविधि से परिधियाँ स्थापित की जातीं हैं) ॥१३॥

(तीनों पूर्वपुरुषों के यज्ञ में लौट आनेपर होत्र कर्म्म में नियुक्त) अग्नि यह बोले कि, वषट्कार (रूप वज्र ने ही उन तीनों को पलायित किया था। मैं (स्वयं भी) इस वषट्कार (रूप) वज्र से डर रहा हूं, कहीं यह वषट्कार–वज्र मुझे भी (उन तीनों की तरह इस यज्ञ से) पृथक् न करदे। (मेरी दृष्टि में इस

---

* ये ही पलायित अग्नि व्यष्टिरूप से 'एकता, द्विता, त्रिता' नामों से, तथा समष्टिरूप से 'आप्त्या' नामों से प्रसिद्ध हैं। जिन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याब्राह्मण' में–'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास०' (शत० १२।१।१) इत्यादि रूप से किया जाचुका है। अग्नि के मौलिक-स्वरूपज्ञान की दृष्टि से 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष स्थान रखता है।

वज्र भय से बचने का सरल यही उपाय है कि, आप लोग) इन तीनों (पुनः लौटे हुए अग्नियों) से ही (तीनों ओर से) घेर दीजिए। (इन के अङ्गरक्षक बन जाने पर) वषट्कार वज्र मुझे (यज्ञ से) पृथक् न छांट सकेगा। (देवताओं नें कहा) ऐसा ही होगा। (तत्काल) देवताओं नें इन तीनों से इसे सीमित कर दिया। (परिणामस्वरूप वषट्कार वज्र (इस सीमित, सुरक्षित) अग्नि को (यज्ञ से) पृथक् न छांट सका। (यहां इस वैधयज्ञ में जो अध्वर्यु होत्र कर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि के तीनों ओर पलायित अग्नियों के प्रतिरूप में तीन परिधियाँ स्थापित करता है) इस कर्म्म से यह इस अग्नि के लिए (रक्षार्थ) वर्म्म (कवच) ही बांधता है, जो कि इन तीनों से परिधान करता है। (होत्र कर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप रक्षा के लिए ही परिधियाँ स्थापित की जातीं हैं, यही तात्पर्य्य है ॥१४॥

(होत्र कर्म्म में नियुक्त अग्नि के कहने से पलायित उन तीनों अग्नियों को अङ्गरक्षक बनाने के लिए देवता जब यज्ञमण्डल में ले आए, तो) वे तीनों कहने लगे कि, यदि आप हमें इस यज्ञकर्म्म में नियुक्त करना चाहते हैं, तो इस यज्ञ में (प्रयाजादि अन्य गौण देवताओं की तरह) हमारा भाग (भागधेय भी नियत) होना चाहिए ॥१५॥

(देवताओं नें कहा)—ऐसा ही होगा। (प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागधेय की व्यवस्था करते हुए) देवता कहने लगे कि, (आहवनीय में आहुति देते समय) जो आहुति द्रव्य परिधियों के बाहिर जा गिरेगा, वह तुम में हुत होगा। (अर्थात् परिधि से बाहिर स्कन्न द्रव्य तुह्मारा प्रातिस्विक—असाधारण भागधेय समझा जायगा)। इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य ऋत्विक् लोग तुम्हारे (परिधियों के) ऊपर ऊपर डाल देंगे, वह तुम्हारी (स्वरूप) रक्षा का कारण बनेगा। साथही ऋत्विक्—लोग जो द्रव्य (साक्षात्) अग्नि में हुत करेंगे, वह (भी)—(देवताओं के साथ साथ) तुम्हारी रक्षा करेगा।

(परिधि–स्थानीय पलायित अग्नियों के भागधेय के सम्बन्ध में आरम्भ में उक्त व्यवस्था हुई थी। एवं -'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' यह आदेश है। इसलिए आज भी यज्ञों में इन अग्नियों के लिए वही व्यवस्था चली आरही है। इसी व्यवस्था को उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है कि)। (सो जो कि) यह अध्वर्यु आहवनीयाग्नि में आहुति देता है, यह (द्रव्य) इन परिधिस्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है, जो द्रव्य इन परिधियों के ऊपर ऊपर डालता है, वह (भी) इन की रक्षा करता है, जो द्रव्य परिधियों से बहिःप्रदेश में जा गिरता है, वह (इन का प्रातिस्विक भाग बनता हुआ) इन में हुत होता है।

[स्कन्न आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों के लिए प्रातिस्विक आहुति है, इस सम्बन्ध में एक यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि, यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय द्रव्य उपयोग क्षेत्र से बाहिर होजाता है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का भाग बनता हुआ यजमान के लिए अनिष्ट का कारण बनता है इधर अग्नितृप्ति के लिए थोड़ा बहुत आहुतिद्रव्य बहिःप्रदेश में अवश्य गिराया जायगा। इस स्कन्न-दोष का क्या उत्तर ? इसी विप्रपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि]—[चूंकि देवताओं नें स्कन्न द्रव्य अग्नियों का भागधेय नियत कर दिया है, अतः स्कन्नदोष नहीं माना जासकता]—इसीलिए यदि आहुतिद्रव्य बाहिर गिर जाय, तो इस में कोई अपराध [आगः] नहीं [माना जायगा] [पलायित तीनों] अग्नि इसी पृथिवी में प्रविष्ट हुए हैं। [फलतः स्कन्न द्रव्य पृथिवी प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तृप्ति का कारण बनेगा, न कि यह द्रव्य शत्रु का भागधेय बनेगा]। जो कुछ यज्ञिय द्रव्य गिरता है, वह सब कुछ इसी पृथिवी में ही [तो] प्रतिष्ठित होता है। [अतः स्कन्नदोष का प्रकृत में कोई अवसर नहीं है] ॥ १६ ॥

वह अध्वर्यु–"भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानांपतये स्वाहा" [यजुः सं० २।२–'भुवपति के लिए स्वाहा, भुवनपति के लिए स्वाहा, भूतपति के लिए स्वाहा है–'] यह मन्त्र बोलता हुआ [उस] स्कन्न [हविर्ग्रहण करते समय

परिधि के बहिःप्रदेश में गिरे हुए आहुतिद्रव्य] का स्पर्श करता है। 'भुवपति' आदि ही उन [पलायित 'अग्निभ्रातरः' नाम से प्रसिद्ध] तीनों अग्नियों के नाम हैं। सो जैसे प्रधान देवताओं के लिए वषट्कार से युक्त हविर्द्रव्य हुत होता है, इसी प्रकार [उक्तमन्त्रप्रयोग पूर्वक स्कन्नद्रव्य के स्पर्श से] इन अग्नियों में हुत बन जाता है। [तात्पर्य यही है कि–'स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्ति' इस श्रुति के अनुसार 'स्वाहा–वौषट्' पूर्विका आहुति का सम्बन्ध देवताओं के साथ माना गया है। तीनों अग्नियों के लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्नद्रव्य का स्पर्श करना इन्हें देवताओं की तरह ही आहुति देते हुए देवकोटि में स्थापित करता है ॥१७॥

[परिधियाँ किस लकड़ी की बनाई जायँ ? इस प्रश्न की मीमांसा की जाती है]- कितने एक याज्ञिक [अग्नि-समिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत] इध्म की [लकड़ियों से ही] इन परिधियों का परिधान करते हैं। [अर्थात् जो काष्ठसम्भार आहवनीयाग्निसमिन्धन के लिए आया है, इन के मतानुसार इसी में से परिधियों के लिए लकड़ी लेलेनी चाहिए]।

[इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि] सो ऐसा कभी न करे। [अर्थात् इध्मसंभारकाष्ठ से परिधियाँ न बनाई जायँ]। उस यजमान के लिए ये परिधियाँ [परिधानलक्षण कर्म्म के लिए] असमर्थ होतीं हैं, जिन्हें इध्म काष्ठ की बनाया जाता है। केवल अभ्याधान [अग्निसमिन्धनार्थ, आहवनीय में स्थापनार्थ] ही इध्म का ग्रहण किया जाता है। [जब इध्मकाष्ठ केवल अग्निस-मिन्धनोद्देश्य से यज्ञसंस्था में संगृहीत है, तो इस से दूसरा काम नहीं लिया जासकता। यदि इध्म काष्ठ की परिधियाँ बनाई जायँगीं, तो इन से कभी परिधानलक्षण कर्म्म सिद्ध न होगा]। उसी यजमान के लिए ये परिधियाँ स्वपरिधान कर्म्म में समर्थ होतीं हैं, जिस यजमान के लिए ऋत्विक् लोग अन्य काष्ठ का 'ये परिधियां हैं' इस रूप से (स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करते हैं। इसलिए (परिधियों के लिए) दूसरी ही परिधियाँ लेनीं चाहिएं ॥ १८ ॥

वे परिधियां ÷ पलाश की लकड़ियों की होनीं चाहिएं। पलाश निश्चयेन ब्रह्म (ब्रह्मवीर्य्यप्रधान) है। (इधर) अग्नि [भी] ब्रह्म [ब्रह्मवीर्य्यप्रधान] है। ये परिधियाँ [प्रतिरूपमर्य्यादा से] अग्नियाँ ही हैं। इस सजातीय सम्बन्ध से ये पलाश की ही होनींचाहिएं ॥ १६ ॥

यदि पलाश की न मिलें, तो विकङ्कत काष्ठ की होनीं चाहिएं। यदि वैकङ्कत सम्भव न हो, तो कार्ष्मर्य्यमय होनीं चाहिएं। यदि कार्ष्मर्य्य न मिले, तो बिल्व काष्ठ की होनीं चाहिएं। [ये भी न मिलें तो] खदिर काष्ठ की [होनीं चाहिएं]। [यदि खादिर भी उपलब्ध न हो, तो] उदुम्बर काष्ठ की परिधियाँ [होनीं चाहिएं]। ये [परिगणित]] वृक्ष यज्ञिय हैं। इसलिए इन वृक्षों [में से किसी एक] की ही परिधियाँ होतीं हैं ॥२०॥ *

(अत्र तृतीयाध्याये तृतीयं, द्वितीयप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्।
द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः)

÷ इन यज्ञिय वृक्षों का विशेष विवरण विवेचना में किया जायगा।

* यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थ की मर्य्यादा के अनुसार यहीं ब्राम्हण समाप्त हो जाता है, तथापि प्रकरण साम्य की दृष्टि से हमने इस से अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के साथ समावेश कर लिया है। प्रकृत ब्राह्मण की १२ वीं कण्डिका से जिस 'परिधि परिधान' प्रकरण का आरम्भ हुआ है, वह तृतीय प्रपाठकके प्रथम ब्राह्मण की ४ थी कण्डिका पर समाप्त हुआ है। इस के आगे जो कर्म्म हैं, वे भी परिशिष्ट स्थानीय बनते हुए इसी से सम्बद्ध है। अतः दोनों ब्राह्मणों की एक साथ व्याख्या करना उचित मान लिया गया है

(तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्)

वे परिधियाँ आर्द्र [गीले काष्ठ की] होनीं चाहिएं। आर्द्रभाव ही इन [काष्ठों का] जीवन [जीवनलिङ्ग—जीवितरूप] है। इसी आर्द्रभाव से ये काष्ठ [स्वावयवों से] कान्तियुक्त बनें रहते हैं। इसी आर्द्रभाव से ये काष्ठ [शुष्ककाष्ठ की अपेक्षा] वीर्य्ययुक्त [विशेषप्राणशक्तियुक्त] बनें रहते हैं। इस लिए परिधियाँ आर्द्र होनीं चाहिएं ॥१॥

[परिधिग्रहण के सम्बन्ध में उपपत्ति, जाति, स्वरूप, यज्ञान्तर, आदि जो कुछ विशेष बतलाना था बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं]—वह अध्वर्यु सब से पहिले —**"गन्धर्व्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु, विश्वस्यारिष्ट्यै, यजमानस्य परिधिरसि, अग्निरिड ईडितः"** [यजुः सं० २।३—विश्व रक्षा के लिए विश्वावसु नाम का गन्धर्व आप को स्थापित करे। आप यजमान की परिधि है, अग्नि हैं, अतएव स्तुत्य हैं, होत्रादिद्वारा ईडित-स्तुत हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ मध्य की * परिधि को प्रतिष्ठित करता है। [आहवनीय का पश्चिमभाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम परिधि स्थापनानन्तर— **'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै, यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः"** [यजुः सं० २।३—विश्वरक्षा के लिए आप इन्द्र की दाहिनी बाहु हैं०] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की दक्षिण लेखा पर दूसरी परिधि स्थापित करता है ॥३॥

दक्षिण परिधि-स्थापनानन्तर—**मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै, यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः"** [यजुः सं० २।३ हे उत्तरपरिधे ! विश्व की रक्षा के लिये अपने स्थिरधर्म्म से मित्रावरुण

* यजमान के स्कन्ध प्रदेश से आरम्भ कर बाहुपर्य्यन्त इन का लम्बाई में परिमाण होता है। आकार में मोटीं होतीं हैं, स्वरूपतः गीलीं होतीं हैं।

देवताओं ने आपको उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित किया है०] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की उत्तर लेखा पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

६—आहवनीयाग्नि में समिध स्थापन—

[पूर्वब्राह्मण की—"अथाग्निं कल्पयति०" इत्यादि १२ वीं कण्डिका में यह स्पष्ट किया गया है कि, आहवनीयाग्नि को हविर्दहन समर्थ बनाने के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत इध्म—सम्भार में से काष्ठ लेकर उस से आहवनीयाङ्गारों का भस्म पृथक् कर इसे प्रबल बना दिया जाता है। इस प्रकार इध्मभार से गृहीत जिस समिध—एतन्नामक काष्ठ—से परिधिस्थापन से पूर्व अग्निप्रबलीकरण कर्म्म किया जाता है, उसी समिध का अब—परिधिस्थापनानन्तर—आहवनीय में प्रक्षेप करना ही—समिधाधान कर्म्म कहलाया है। प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है]।

[इस समिध का पूर्वाघार से सम्बन्ध है, अतएव इसे—'पूर्वाघारसमिधो-ऽभ्याधानकर्म्म" भी कहा जासकता है। आहवनीय कुण्ड की वायव्य दिशा से आरम्भ कर आग्नेय दिशा पर्य्यन्त अविच्छिन्न धारा से जो होम होता है, वही 'पूर्वाघार' कहलाया है। यह पूर्वाघार कर्म्म जिस आग्नेयदिक्—समाप्ति पर समाप्त होता है, वहीं इस समिध का आधान होता है। इस परिस्थिति को सामने रखते हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए]।

परिधिस्थापनानन्तर वह अध्वर्यु [आहवनीयाग्नि के पूर्वाघार समाप्ति प्रदेश में] समिध डालता है। [आहवनीयाग्नि में समिध डालने से पहिले] वह अध्वर्यु पश्चिमभागस्थित मध्य की परिधि का [हस्तगृहीत समिध से] स्पर्श करता है। इस स्पर्शकर्म्म से अध्वर्यु 'अग्निभ्रातरः' स्थानीय परिधिरूप अग्नियों का ही पहिले समिन्धन करता है। अनन्तर उस समिध को आहवनीय अग्नि में डालता

है। इस उत्तर कर्म्म से यह अध्वर्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिद्ध करता है ॥५॥

(अब पद्धति बतलाते हैं)–वह अध्वर्यु (परिधिस्पर्शकर्म्मानन्तर) **"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे"** (यजुः सं० २।४–यज्ञसमृद्धिप्रवर्त्तक, तथा सर्वज्ञ, तेजोराशियुक्त, तथा महान्, ऐसे हे अग्ने! इस यज्ञकर्म्म में मैं आप को–इस समिधाधान से–प्रदीप्त कर रहा हूं) इस गायत्री मन्त्र से आहवनीयाग्नि में समिध डालता है। इस समिन्धन कर्म्म से अध्वर्यु गायत्री छन्द को ही प्रदीप्त कर रहा है। वह गायत्री (इस कर्म्म से) प्रदीप्त बन कर दूसरे (सहयोगी त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्) छन्दों को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त छन्द देवताओं के लिए यज्ञ (आहुतिद्रव्य) का (द्युलोक में) वहन करते हैं ॥६॥

प्रथमसमिधाधानान्तर जिस दूसरी समिध को अध्वर्यु (आहवनीयाग्नि में) डालता है, उस से वसन्त ऋतु को ही प्रदीप्त करता है। (समिन्धनकर्म्म से) वह वसन्त प्रदीप्त होकर अन्य ग्रीष्मादि ऋतुओं को प्रदीप्त करता है। (परम्परया) प्रदीप्त ऋतुएं प्रजा उत्पन्न करतीं हैं, और ओषधियों का परिपाक करतीं हैं। (द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है। अब पद्धति बतलाते हैं)–वह अध्वर्यु **'समिदसि'** (यजुः सं० २।५–हे वसन्त! आप–अग्नि को प्रज्वलित करने के कारण–समित् हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ समिधाधान करता है। (वसन्त से चूंकि अग्नि समिन्धन आरम्भ होता है) अतः निश्चयेन वसन्त समित् है ॥७॥

इस प्रकार आघारसमिदभ्याधान करके अध्वर्यु (आहवनीय की ओर देखता हुआ–**"सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै"** (यजुः सं० २।५–हे आहवनीयाग्ने! सूर्य्यदेवता पूर्वदिशा की ओर से (होने वाले) किसी भी (आसुर) हिंसा कर्म्म से आप की रक्षा करें) इस मन्त्र का जप (स्वरसंधानपूर्वक

उच्चारण) करता है। आहवनीयाग्नि की रक्षा के लिए ही (क्रमशः इस के पश्चिम—दक्षिण—उत्तर प्रान्तों में) परिधियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। (इन तीन परिधियों से तीनों दिशाएं तो इस अग्नि के लिए सुरक्षित हो जातीं हैं। पूर्वदिशा शेष रहती है)। पूर्व की ओर से (समृद्धिनाशक) नाष्ट्रा लोग, तथा समृद्धि—अवरोधक राक्षसलोग इस अग्नि को हानि न पहुंचा सकें, इस लिए (इस मन्त्र जपकर्म्म से) पूर्व की ओर से ही सूर्य्य को (इस अग्नि का) रक्षक बनाता है। सूर्य्य निश्चयेन नाष्ट्रा, तथा राक्षसों का नाशक है ॥८॥

(अनुयाजकर्म्म से पहिले अग्नि-समिन्धन के लिए एक समिध आहवनीय में और डाली जाती है। चूंकि समिधाधानप्रकरण चल रहा है, अतः समान—प्रसङ्ग से उस अभ्याधान का भी यहां विधान बतलाती हुई श्रुति उस की उपपत्ति बतला देती है)—

जिस तीसरी समिध का अध्वर्यु अनुयाजकर्म्म में आधान करता है इस तीसरी समिध से (यज्ञकर्म्मेतिकर्त्तव्यतासञ्चालक) ऋत्विक् ब्राह्मण को ही प्रदीप्त करता है। वह ब्राह्मण इस कर्म्म से प्रदीप्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ वहन करता है (समर्थ बनता है) ॥९॥

७—उत्तराग्र दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इस प्रकार परिधिपरिधान—समिधाधानादि आहवनीयानुगत कर्म्म करने के अनन्तर वह अध्वर्यु (आहवनीय की ओर से) कुशास्तरणयुक्त वेदि की ओर लौट आता है। (वहां आकर बर्हि में से) दो पवित्र (दर्भ तृण) लेकर इन्हें (वेदि के ऊपर बिछे हुए पश्चिम भागस्थ कुशासमूह पर उत्तर को अग्रभाग करते हुए)— 'सवितुर्बाहूस्थः" (यजुः सं० २।५—हे *तृणे ! आप सविता के बाहू

---

* यह दर्भतृण 'विधृती' नाम से प्रसिद्ध हैं।

हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तिर्य्यग् रूप से रखता है । (इन्हें रखने का प्रयोजन बतलाती हुई श्रुति कहती है)-(वेदि पर रक्खा हुआ कुशमुष्टिलक्षण) प्रस्तर स्तुप (शिखा-स्थानीय)है, अन्य बर्हि लोम स्थानीय हैं, अब केवल दोनों भ्रुवों-भौंहों-का प्रतिरूप बच रहता) है । इस विधृति-स्थापनकर्म्म से अध्वर्यु इस के दोनों भ्रुव ही तिर्य्यक् रूप से प्रतिष्ठित करता है । (अर्थात् ये दोनों दर्भतृण भ्रुवों के ही प्रतिरूप हैं । चूंकि ये तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित किए जाते हैं) अतएव ये दोनों भ्रुव (आध्यात्मिकी पुरुषसंस्था में) तिर्य्यक् ही हैं । (चूंकि ये तृण भ्रुव के प्रतिरूप हैं, इधर आध्यात्मिक यज्ञ में भ्रुव तिर्य्यग् रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, इसलिए भी इन्हें इस वैध यज्ञ में तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित किया जाता है । इस के अतिरिक्त तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि) वेदि पर प्रतिष्ठित प्रस्तर (निदानेन) क्षत्र (शास्ता राजा) है, एवं बिछी हुई इतर बर्हि (निदानेन) विट् (शासित प्रजा) है । इस प्रस्तररूप क्षत्र, तथा बर्हि-रूप विट्, दोनों की प्रतिष्ठा के लिए ही (दोनों की स्वरूपरक्षा के लिए, पारस्परिक सम्बन्ध के लिए ही तिर्य्यक् स्थापन उचित है) । इस लिए इन्हें तिर्य्यग् रूए से ही प्रतिष्ठित करता है । इस (विधरण कर्म्म के सम्बन्ध) से ही इन तृणों को (यज्ञविज्ञान परिभाषा में) 'विधृती' नाम से व्यवहृत किया गया है ॥१०॥

८-विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

(वेदिस्थित बर्हिस्तरण के ऊपर पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित किए गए उन दोनों 'विधृती' नामक दर्भतृणों पर) वह अध्वर्यु-**ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः"** (यजुः सं० २।५-देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने योग्य ऊर्णासूत्र निर्म्मित कम्बलवत् मृदुस्पर्श, ऐसे आप को-प्रस्तर को-बिछाता हूं) यह मन्त्र बोलता हुआ (उस दर्भमुष्टिलक्षण) प्रस्तर को फैलाता है । 'आप देव·

ताओं के लिए साधु-मृदुस्पर्श-हो' यही कहा गया है, जोकि 'ऊर्णम्रदसं त्वा' यह कहा गया है। 'स्वासस्थं देवेभ्यः' इस मन्त्रभाग से 'आप देवताओं के लिए अच्छी बैठक हो' यही कहा गया है ॥११॥

९-दोनों हाथों से प्रस्तर का स्पर्श करना—

मन्त्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणानन्तर वह अध्वर्यु-"**आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु**" (यजुः सं० २।५-सवनत्रयाधिष्ठाता वसु-रुद्र-आदित्य देवता आपको-प्रस्तर को-देवप्रतिष्ठा के लिए-सब ओर फैलावें) यह मन्त्र बोलता हुआ स्तीर्ण प्रस्तर पर अपने दोनों हाथ रखता है।

१०-प्रस्तर का बाएं हाथ से स्पर्श किए हुए स्रुचों का दहिने हाथ से ग्रहण, तथा प्रस्तर पर स्थापन—

वह अध्वर्यु प्रस्तर के साथ अपने वाम हस्त का सम्बन्ध बनाए हुए ही रखता है (हुआ) ॥१२॥ दहिने हाथसे जुहू का ग्रहण करता है। नाष्ट्रा-राक्षस लोग (दोनों के मध्य में) पहिले (ब्राह्मणशरीर के नाष्ट्रा-राक्षस नाशक दिव्यप्राण के सम्बन्ध होने से पहिले) प्रविष्ट न हो जायँ (इस उद्देश्य से ही प्रस्तर के साथ हस्त-सम्बन्ध बनाए रखते हुए ही जुहू ग्रहण करता है)। ब्राह्मण निश्चयेन राक्षसों का नाशक है। इसीलिए (करस्पर्श द्वारा अविच्छिन्नरूप से दिव्यशक्ति का प्रवेश सुरक्षित रखने के लिए) सव्य हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अनन्तर ही-"**घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना**" (यजुः सं० २।६।-हे जुहू आप (स्वरूप से तो) घृत से परिपूर्ण हो, (एवं) नाम से जुहू (आहुति देने वाली) हो, यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण हाथ मे (आग्नीध्र द्वारा समर्पित) जुहू ग्रहण करता

है। निश्चयेन जुहू (घृतप्राप्ति के कारण) घृताची है, साथ ही यह नाम से निश्चयेन जुहू (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानन्तर वह अध्वर्यु)–**"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद"**–[यजुः सं० २।६।–ऐसी आप अपने प्रिय धामरूप आज्य के साथ इस प्रस्तर पर बिराजिए, यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू को वेदिस्थित प्रस्तर पर रख देता है)। इसके अनन्तर वह अध्वर्यु **'घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना'** (यजुः सं० २।६–हे उपभृत आप घृताची हो, नाम से-जुहू के उप–समीप–रह कर आज्य लेने से–उपभृत हो) मन्त्र बोलता हुआ उपभृत् का ग्रहण करता है। यह सचमुच घृताची है एवं सचमुच नाम से उपभृत है। अनन्तर **"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद"** (यजुः सं० २।६) यह मन्त्र बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रख देता है। उपभृतग्रहण–स्थापनानन्तर वह अध्वर्यु–**"घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना"** (यजुः सं० २।६–हे ध्रुवा आप घृताची हो, एवं आत्मरूप से एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहने के कारण लोक में यथार्थतः 'ध्रुवा' नाम से प्रसिद्ध हो) यह मन्त्र बोलता हुआ ध्रुवा ग्रहण करता है। अनन्तर–**सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद'** (यजुः सं० २।६) यह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (इस प्रकार वाम-हाथ से प्रस्तर से सम्बन्ध बनाए रखता हुआ अध्वर्यु क्रमशः आग्नीध्र से अपने दहिने हाथ में जुहू–उपभृत्–ध्रुवा लेता जाता है, और वेदि–पश्चिमभाग में बिछे हुए प्रस्तरासन पर इन्हें रखता जाता है)। इन तीनों से अतिरिक्त जो पुरोडाशादि हविर्द्रव्य हैं, उन्हें भी **"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद"** यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है-(यदन्यद्धविः) ॥ १४॥

(स्रुचों के सादन कर्म में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है)–वह अध्वर्यु प्रस्तर के ऊपर तो जुहू रखता है, एवं अन्य (उपभृत्–ध्रुवा) स्रुचों को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रखता है। कारण यही है कि (निदानेन) जुहू क्षत्र है, अन्य स्रुक् विट् हैं। (जुहू रूप क्षत्र को ऊपर, तथा उपभृत्-ध्रुवारूप विट् को

नीचे रखता हुआ) अध्वर्यु क्षत्र को ही विट् से श्रेष्ठ–ऊंचा बैठने वाला बनाता है। अतएव ऊंचे आसन पर विराजमान क्षत्रिय राजा की नीचे से खड़े खड़े प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू को प्रस्तर के ऊपर रखता है, अन्य स्रुचों को नीचे (रखता है)॥१५॥

११.–स्पर्शकर्म्म—

(अनन्तर वह अध्वर्यु–"ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" (यजुः सं० २।६–यज्ञ की योनिरूप, कर्म्मसमाप्ति-पर्य्यन्त निश्चल रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले जो हविर्द्रव्यादि यहां प्रतिष्ठित हुए हैं, हे विष्णो! आप उन की रक्षा करें, यज्ञ की रक्षा करें, एवं यज्ञपति यजमान की रक्षा करें, यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थालीस्थ आज्य, जुह्वादिस्थित आज्य, एवं पुरो-डाश आदि का उपयोग क्रम से स्पर्श करता है। इसी कर्म्म का मन्त्र--खण्डरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

वह अध्वर्यु 'ध्रुवा असदन्' यह मन्त्र बोलता हुआ (आज्यादिका स्पर्श करता है। ये द्रव्य कर्मसमाप्तिपर्य्यन्त निश्चलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। (मन्त्र का अगला भाग है)–"ऋतस्य योनौ" यह। यज्ञ ही ऋत की योनि है। यज्ञ पर ही ये जुह्वादि प्रतिष्ठित हैं। (मन्त्र का अगला भाग है)–"विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" यह। इस से (यज्ञरक्षा के साथ ही) यजमानरक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

अनन्तर–"पाहि मां यज्ञन्यम्" (यजु सं० २।६।–यज्ञकर्म्म को अग्रगामी बनाने वाले मुझ–ऋत्विक् की भी रक्षा करें) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु स्वयं अपने शरीर का स्पर्श करता है। इस कर्म्म से यह अपने आप को भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। विष्णु को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ की रक्षा में ही रक्षार्थ (इस स्पर्श कर्म्म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभिप्राय से–'हे विष्णो! आप रक्षा करें!' यह कहा गया है॥१६॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थं, तृतीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

इति–मूलानुवादः

घ–सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रह—

१–इध्म–वेदि–बर्हिषां प्रोक्षणम्

आज्यग्रहण के अनन्तर वेदिमध्य से आज्यस्थली लेकर उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अनन्तर अग्निसमिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत रज्जु से बंधे हुए इध्मभार (काष्ठभार) की ग्रन्थि खोलता है। ग्रन्थि खोलने के अनन्तर प्रोक्षणकर्म्म के लिए ब्रह्मा से–**"ब्रह्मन् ! इध्मं प्रोक्षिष्यामि"** इन शब्दों में आज्ञा मांगता है। ब्रह्मा–**"ओं प्रोक्ष यज्ञं, देवता वर्धय त्वं, नाकस्य पृष्ठे यजमानोऽस्तु। सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि"** (का० श्रौ० २।२।८) यह चुपचाप बोलता हुआ–**"ओं प्रोक्ष"** इन शब्दों में प्रोक्षणकर्म्म की आज्ञा देता है। इसी अध्वर्युकृत प्रोक्षणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्मं प्रोक्षति विस्रंस्य, वेदिं च, बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्ताद्ग्रन्थि–"कृष्णोऽसि" इति प्रतिमन्त्रम्" (का० श्रौ० सू० २।७।१६)।

स्वस्थान पर प्रतिष्ठित इध्म की ग्रन्थि खोलकर ——**"ओं कृष्णोस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"** यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु इध्म का (प्रणीता–पात्रस्थ प्रणीता जल से कुशा द्वारा) प्रोक्षण करता है। इध्मप्रोक्षणानन्तर–**"ओं वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"** यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। वेदि प्रोक्षणानन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से सोंपे गए 'बर्हि' नामक कुशों को लेकर इन्हें वेदि के ऊपर (बर्हिग्रन्थि को पूर्व की ओर रखता हुआ) रखकर प्रोक्षण-कर्म्म के लिए ब्रह्मा से–**"ब्रह्मन् ! बर्हिः प्रोक्षिष्यामि"** इन शब्दों में आज्ञा मांगता है। ब्रह्मा–**'ओं प्रोक्ष यज्ञं देवता वर्धय त्वं०"** इत्यादि मन्त्रपाठानन्तर **"ओं प्रोक्ष"** इन शब्दों में आज्ञा देता है। इस मन्त्र से अनुज्ञात अध्वर्यु–**"ओं बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"** यह मन्त्र बोलता हुआ वेदिस्थ बर्हि का प्रोक्षण

करता है। अग्नि के अभाव में अवभृथेष्टि में, तथा परिश्रित कर्म्म में इध्म का प्रोक्षण नहीं होता। एवं गृहमेधीयकर्म्म में (का० श्रौसू० ५।६।६।२५) चूंकि बर्हिः स्तरण नहीं होता, अतः वहां वेदि का प्रोक्षण नहीं होता। प्रोक्षणकर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक विशेषता समझनी चाहिए।

२–प्रोक्षणी-शेषेण बर्हिर्मूलोपसेचनम्

प्रोक्षणकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र में बाकी बचे हुए जल को "ओं अदित्यै व्युन्दनमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ कुशा के मूल भाग में डाल देता है। यही बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'शेषं मूलेषूपसिञ्चति-"अदित्यै व्युन्दन" मिति" (का० श्रौ० सू० २।७ १७)

३—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिषः पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणम्

मूलोपसिञ्चन कर्म्म के अनन्तर अपने हाथ से प्रणीता–पात्रस्थ जलों में दो दर्भतृण रखता है। अनन्तर वेदि पर स्थित बर्हि की गांठ पृथक् करता है। अनन्तर बर्हि के पूर्वभाग से कुशमुष्टि का ग्रहण करता है, जो कि कुशमुष्टि 'प्रस्तर' नाम से व्यवहृत हुई है। बर्हिपूलक से प्रस्तरनामक कुशमुष्टि के ग्रहण के लिए ही चूंकि– "ओं विष्णो स्तुपोऽसि' यह मन्त्र विहित है, अतएव जहां पितृयज्ञ में प्रस्तर का बर्हि से पृथक्–करण नहीं होता, वहां–"प्रस्तर उपसन्नद्धः" (का० श्रौ० ५।२।२७) इस सिद्धान्त के अनुसार पहिले से बद्ध प्रस्तर का ही ग्रहण होजाता है। फलतः पितृयज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल में मन्त्रप्रयोग नहीं होता। प्रस्तरग्रहण की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'पवित्रे निधाय प्रणीतासु, बर्हिर्विस्रंस्य, पुरस्तात्–प्रस्तरग्रहणं– "विष्णो" रिति" (का० श्रौ० सू० २।७।१८)।

४–वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत्स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण के अनन्तर वह अध्वर्यु स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को सौंप देता है। वेदिस्थित बर्हिपूलक की बन्धन रज्जु को वेदि की दहिनी श्रोणि पर उसे रखकर अन्य बर्हि–तृणों से ढाँक देता है। अनन्तर–"ओं ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर तीन बार करके प्रागग्र कुश बिछाता है। यही त्रिवृत्–स्तरणकर्म्म कहलाता है, जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

"ब्रह्मणे प्रदाय, सन्नहनं विस्रंस्य, दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय, अन्यैरवच्छाद्य वेदिं स्तृणाति–"ऊर्णाम्रदस" मिति त्रिवृत"
(का० श्रौ० सू० २।७।१९)।

अथवा त्रिवृत स्तरण न कर जितने तृणों से वेदि इस प्रकार ढँक जाय, जिस से वेदि का मृण्मय प्रदेश न दिखाई पडे, ऐसे घनरूप से स्तरण कर्म्म करना चाहिए। इसी पक्षान्तर को उद्धृत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"उपपसा वा बहुलम्" का० श्रौ० सू० २।७।२०

स्तरण के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि, बर्हि के मूलभाग अधः रहने चाहिए। कहा गया है कि, तीन कुशमुष्टियाँ बिछाईं जातीं हैं। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है, उसके मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से, तथा दूसरी के मूलभागों को तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित करदेना चाहिए। इस प्रकार अधरमूल–पद्धति से स्तरण कर्म्म करना चाहिए। इस विशेषता के अतिरिक्त 'पश्चादपवर्ग' रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वेदि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म्म का आरम्भ होना चाहिए, एवं पश्चिम भाग में अवसान करना चाहिए। यही पश्चादपवर्गस्तरणात्मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग–रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष में पूर्व–पूर्व स्तृत बर्हि के अग्रभागों से पश्चात् स्तीर्य्यमाण बर्हि के

मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्म्मानुगत इन्हीं तीनों विशेषभावों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अधरमूलम्"-"पश्चादपवर्गम्"-"प्रदृढं वा"(का० श्रौ० सू० २।७।२१,२२,२३)

५–आहवनीयकल्पनात् पूर्वं हविषामुद्वासनम्

हविःपरिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष मानें गए हैं। गार्हपत्याग्नि में हविःपरिपाक करना एक पक्ष है, एवं आहवनीयाग्नि में परिपाक करना एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है, उस यजमान के यज्ञ में इस स्तरणकर्म्म के अनन्तर 'हविरुद्वासन' कर्म्म होना चाहिए। स्तरण कर्म्म के अनन्तर ही इध्मादि से अग्नि को प्रबल बनाया जाने वाला है। यदि इस कर्म्म के पीछे उद्वासन कर्म्म किया जायगा, तो हविर्द्रव्य के जलने का भय रहेगा। अतः अग्नि-प्रक्लृप्ति (ज्वलन) से पूर्व ही उद्वासन कर लेना उचित है। जो गार्हपत्यपक्ष का अनुगामी है, वह उद्वासन कब करे? इसका निर्णय आगे (का० २ ८।१४) होने वाला है। आहवनीयश्रापी यजमान के यज्ञ में इसी उद्वासन कर्म्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्रोद्वासनमाहवनीयश्रापिणः" (का० श्रौ० सू० २।७।२४)।

६–समित्प्रक्षेपेणाहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हविरुद्वासन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु इध्मभार में से एक समिध लेकर, तथा ब्रह्मा से प्रस्तर लेकर आहवनीयाग्निकुण्ड के ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ में रखता हुआ उस समिध के आघात से आहवनीय कुण्ड में प्रतिष्ठित काष्ठादि का भस्म अलग कर अग्नि को प्रबल बनाता है। इध्म से होने वाला यह समर्थन कर्म्म चूंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि अप् से, तथा परिश्रित् से। अतएव

अप् में, और परिश्रितों में यह कर्म्म नहीं होता है। इसी समर्थन–कर्म्म का स्पष्टी-करण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्माद् समिधमादायाहवनीयं कल्पयति,
उपर्य्युपरि प्रस्तरं धारयन्" (का० श्रौ० सू० २।७।२५।)।

७–अनुयाजार्थमुल्मुकयोराहवनीयान्निष्काशनम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्वलित अग्नि में से दो उल्मुक लिए जाते हैं। छन्दो–देवता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाज कर्म्म वैकल्पिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म्म संगृहीत है, तो उसी दशा में अनुयाज के लिए दो उल्मुक आहवनीय से पृथक निकाल लिए जाते हैं। जब अनुयाजकर्म्म का समय आता है, तब पुनः उन (अन्यत्र स्थापित) उल्मुकों को आहवनीय में डालकर अनुयाजकर्म्म किया जाता है। चूंकि आतिथ्येष्टि में (का० श्रौ० ८।१।१ के अनुसार), तथा गृहमेधीयादि में (का० श्रौ० ५।६।६।२५ के अनुसार) अनुयाजकर्म्म का अभाव है, अतएव वहां उल्मुक निष्काशन भी नहीं होता।

इति–द्वितीयाध्याये सप्तमी कण्डिका समाप्ता
२।७।

८–आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिपरिधानम्

उल्मुकनिष्काशन–कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु क्रमशः "ओं–गन्धर्वस्त्वा वि-श्वा वसुः०"–"ओं-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो०"– 'ओं-मित्रावरुणौ त्वा०" इन तीनों मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ,(ब्राह्मणग्रन्थों में परिगणित पलाशादि किसी)एक यज्ञिय वृक्ष के काष्ठ से निर्म्मित, परिमाण में बाहुमात्र, स्वरूप में गीली, जातितः

पालाश:-वैकङ्कत-काष्मर्य्य-बैल्व में से पूर्व पूर्व की न मिलने पर उत्तर के, अथवा खादिर-औदुम्बर की तीन परिधियाँ आहवनीयकुण्ड के मध्यम (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर प्रान्तभागों में क्रमशः प्रतिष्ठित करता है। इसी क्रमिक परिधानकर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"परिधीन् परिदधाति-आर्द्रान् एकवृत्तीयान् बाहुमात्रान्. पालाशवैकङ्कत-कार्ष्मर्य्य-बैल्वान्, पूर्वालाभे पूर्वालाभे उत्तरान्, खादिरौदुम्बरान्वा, मध्यम-दक्षिणोत्तरान्-"गन्धर्व०" इति प्रतिमन्त्रम्" (का०श्रौ०सू० २।१।१)।

९-आहवनीयाग्नौ समिधाधानम्

परिधि-परिधानकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु अग्निकल्पार्थ पहिले से गृहीत समिधा का पहिले रक्खी हुई मध्यम परिधि के साथ स्पर्श कराके, खड़ा होकर-"वीतिहोत्रम्०" यह मन्त्र बोलता हुआ उस समिधा को आहवनीयाग्नि में डालता है। दूसरी समिधा को परिधि से बिना स्पर्श कराए ही 'समिदसि' यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय में डालता है। इन्हीं दोनों प्रक्षेप-कर्म्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य "वीतिहोत्र" मित्यादधाति"।
अनुपस्पृश्य द्वितीयां "समिदसी" ति" (का०श्रौ०सू० २।१।२,३)।

१०-आहवनीयेक्षणपूर्वकं मन्त्रस्मरणम्

समिधाधान-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु आहवनीय अग्नि की ओर देखता हुआ "ओं सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै" इस मन्त्र का संहितापठितस्वरसंधान पूर्वक उच्चारण करता है। इसी कर्म्म का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"सूर्यस्त्वे" ति जपति, आहवनीयमीक्षमाणस्तद्वचनात्"।

(का० श्रौ० सू० २।८।४)

११.–उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्यां निधानम्

मन्त्रस्मरण–कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु पुनः वेदि की ओर लौट आता है। वहां आकर वेदि पर बिछे हुए बर्हिके ऊपर दो पवित्र (दर्भतृण) उत्तराग्र तिर्य्यग्-रूप से–"ओं सवितुर्बाहूस्थः" यह मन्त्र बोलता हुआ रखता है। ये दर्भतृण ही 'विधृती' नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कर्म का स्पष्टीकरण होरहा है—

"आस्तीर्य वेदिं बर्हिषस्तृणे तिरश्ची निदधाति–"सवितु" रिति"

(का० श्रौ० सू० २।८।५)।

इन दर्भतृणों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यह कि, जिन दो तृणों के निधान का विधान हुआ है, वे इस वेदि पर बिछे बर्हिमें से ही लिए जायँ, अथवा अन्य दर्भतृण लिए जायँ ?। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्ये वाऽयुक्तत्वात्" (का० श्रौ० सू० २।८।६)।

इस निधान कर्म्म के लिए दूसरे ही तृण लेने चाहिएं। क्योंकि वेदिसम्बन्धी बर्हितृणों में से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वेदि–तृणों का केवल स्तरण कर्म्म में विनियोग विहित है। अतः अन्य तृण ही रखने चाहिएं। अन्यत्र भी पवित्र–पशूपाकरण–ग्रहोपस्पर्शन–अग्निमन्थनादि में जहां तृणनिधान विहित है, सर्वत्र अन्य तृण ही लेनें चाहिएं। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्यत्रापि तृणार्थे" (का० श्रौ० सू० २।८।७)।

चूंकि तृणनिधान–प्रसङ्ग से अन्य स्थलों की चर्चा चल पड़ी। अतएव इसी प्रसङ्गदृष्टि से आज्यसम्बन्ध में भी विनियोग–मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आज्य से एक 'यूपाञ्जन' कर्म होता है। यज्ञिय यूप के चारों ओर घृत का सम्बन्ध कराना ही यूपाञ्जन कर्म है। प्रश्न होता है कि, जिस आज्य-स्थाली में प्रयाजानुयाजादि के लिए आज्य लिया जाता है, इस यूपाञ्जन–कर्म के लिए भी इसी में से लिया जाता है? अथवा इसके लिए अन्य आज्य का ग्रहण होता है? सूत्रकार उत्तर देते हैं—

"यूपाञ्जने च सर्पिः" (का० श्रौ सू० २।८।८)।

यूपाञ्जन साधक घृत अन्य (लौकिक) ही लेना चाहिए। आज्यस्थाली का आज्य इस कर्म में विनियुक्त नहीं है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ में पुरोडाश का इन्द्र-वायू के लिए, पयस्या का मित्रा-वरुण के लिए, तथा धान का अश्विनीकुमारों के लिए प्रक्षेप होता है। इस प्रकार प्रक्षेप कर्म के लिए अपेक्षित पुरोडाशादि प्राकृत लिए जायँ? अथवा लौकिक? इस सम्बन्ध में ऐच्छिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पुरोडाश–पयस्या–धानासु चेच्छन्" (का०श्रौ०सू० २।८।९)

१२–विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणं, पाणिद्वयेन तदभिमर्शनञ्च

वेदिके ऊपर विधृती–स्थापन कर्म के अनन्तर वह अध्वर्यु उन तिर्यग्रूप से उदगग्र प्रतिष्ठित दर्भ–तृणों के ऊपर–"ओं-ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक दर्भमुष्टि) बिछाता है। प्रस्तर बिछाने के अनन्तर वह अध्वर्यु–"ओं–आत्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दोनों हाथों से वेदिपर फैलाए गए उस

प्रस्तर को दबाता है। इन्हीं स्तरण-अभिमर्शन-कर्म्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"तयोः प्रस्तरं स्तृणा-"स्यूर्णम्रदस" मिति (का०श्रौ०सू० २।८।१०)।
"अभिनिदधा-"सा त्वा वसव" इति (का०श्रौ०सू० २।८।११)।

१३-प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचां ग्रहणं, प्रस्तरे स्थापनञ्च

प्रस्तरणास्तरण-स्पर्श-कर्म्मानन्तर वह अध्वर्यु अपने दोनों हाथों में से वाम हाथ तो प्रस्तर पर रक्खे रहता है, एवं दहिने हाथ में आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से क्रमशः सौंपे गए जुहू-उपभृत्-ध्रुवा नामक स्रुक्पात्रों को-"घृताची०" इत्यादि संहितोक्त तीनों मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वाग्र स्थापित करता है। इस स्थापन कर्म्म में विशेषता यह है कि, जुहू को तो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है, एवं उपभृत्, तथा ध्रुवा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रक्खा जाता है। ग्रहण, स्थापन-वैशिष्ट्य की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति "घृताची" इति
(का० श्रौ० सू० २।८।१२)।

"एवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रं बर्हिष्युपभृतं, ध्रुवां चावकृष्टेऽनुपूर्वम्"
(का०श्रौ०सू० २।८।१३)।

१४-पुरोडाशस्य घृतेनाञ्जनं, कपालानाञ्च घृतेनपदञ्जनम्

स्रुक्स्थापन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। वहां आकर पुरोडाशद्रव्य पर घृत डालकर उसे ठंडा कर पहिले से सम्पन्न पुरोडाशपात्री में उन्हें रख कर-"यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टो देवानां

त्विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाऽग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय विन्द" यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशपात्री में प्रतिष्ठित पुरोडाशद्वयी को आज्य से चुपड़ता है।

जहां अग्निदेवता का सम्बन्ध है, वहां 'अग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय०' इत्यादि रूप से मन्त्र प्रयोग होगा। एवं जहां अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहां "अग्नीषोमौ गच्छ स्व०"–"इन्द्राग्नी गच्छ स्वर्यजमानाय०" इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा।

पुरोडाशाञ्जन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रक्खे गए थे, उसी क्रम से उन उन कपालों का वह अध्वर्यु–"यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः। पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम्" यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपड़ता है। किन्हीं याज्ञिकों के मत में कपालाञ्जन कर्म्म तूष्णीं (विना मन्त्र-प्रयोग के) होता है। दोनों वैकल्पिकपक्ष ऐच्छिक हैं।

जितने कपाल इस कर्म्म में गृहीत हैं, उनका निधानक्रम से संख्यापूर्वक–प्रथममुद्वासयामि, द्वितीयं०, तृतीयं०, इत्यादिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए। इन्हीं कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पुरोडाशौ–अभिघार्य, उद्वास्यऽउपस्तीर्णे निधायाऽनक्ति "यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे। आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय विन्दे" ति" (का० श्रौ० सू० २।८।१४)।

'यथा देवतमन्यत्" (का० श्रौ० सू० २।८।१५)।

"प्रत्यनक्ति कपालानि–"यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः। पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चता" मिति" (का० श्रौ० सू० २।८।१६)।

"तूष्णीं वा" (का० श्रौ० सू० २।८।१७)।

"संख्ययोद्वासयति", (का० श्रौ० सू० २।८।१८)

१.५–सर्वालम्भनम्

उक्त कर्म्मानन्तर वह अध्वर्यु–"ओं-प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य-पुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदेश में वेदि पर रखकर–"ओं-ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपति" इस मन्त्र की आवृत्ति पूर्वक आज्यस्थालीस्थित आज्य का, जुहू–उपभृत्-ध्रुवा–स्थित आज्य का, पुरोडाश पात्री में स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोग क्रम से स्पर्श करता है। अनन्तर–"ओं–पाहि मां यज्ञन्यम्" यह मन्त्र बोलता हुआ वह अध्वर्यु अपने हृदय का स्पर्श करता है। यही सर्वालम्बन कर्म्म बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"प्रियेण धाम्ने" ति हवींषि वेद्यां कृत्वा "ध्रुवा असद" न्निति–सर्वाण्यालभते (का० श्रौ० सू० २।८।१९)।

"पाहि मां" मित्यात्मानम्" (का० श्रौ० सू० २।८।२०)।

व्रतोपायन कर्म्म के सम्बन्ध में दो विकल्प–पक्ष मानें गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्र वा व्रतोपायनमत्र वा व्रतोपायनम्" का० श्रौ० सू० २।८।२१)।

इति- कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः

इति–सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रहः

—घ—

ङ-वैज्ञानिकविवेचना—

अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः

"पवित्रं वा आपः'-'मेध्या वा आपः' (शत० ब्रा० १.११) इन ब्राह्मण श्रुतियों के अनुसार पानी में मेध्य, और पवित्र नामक दो धर्म्म प्रतिष्ठित रहते हैं, जिन की विशद वैज्ञानिक व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जाचुकी है। इस यज्ञ कर्म्म में उपयुक्त बर्हि, वेदि, तथा इध्म, तीनों यज्ञसंस्था में गृहीत होने से पवित्र तो बन-चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेध्य गुण का अभाव है, जिस के सम्बन्ध से ये यज्ञ के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध करने में समर्थ होसकतीं हैं। उस संगमनीयगुण का (स्नेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इन का प्रोक्षण किया जाता है, एवं प्रकृत प्रोक्षण कर्म्म की यही एकमात्र उपपत्ति है, जिस का "तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति" इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्नि (आहवनीयाग्नि) के समिन्धन के लिए जो काष्ठभार यज्ञसंस्था में संगृहीत होता है, उसे 'इन्धे ह वा अध्वर्युरग्निम्' इस निर्वचन से 'इध्म' कहा जाता है। यह इध्मकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। मृग्याग्नि ही कृष्णाग्नि कह-लाया है, अतएव काष्ठप्रसुप्त इस अग्नि को 'मृग' भी कहा जाता है। सौराग्निम-ण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। इस में प्रतिष्ठित सौर सावित्राग्नि (प्राणाग्नि) अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर यज्ञ का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ यज्ञात्मक है। इस सौर यज्ञाग्नि के ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, भेद से दो विभाग होजाते हैं। जो सौर अग्नि सूर्य्यसंस्था की स्वरूपरक्षा के लिए सदा सौरमण्डल में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, उसे ब्रह्मौदन अग्नि कहा जाता है, एवं यह सूर्य्य का अपना प्रातिस्विक अग्निभाग है। जो सौर अग्नि प्रजापति की कामना से सौरसंस्था से पृथक् होकर भूगर्भ में प्रविष्ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि वनस्पतियों में (इन के स्वरूप निर्म्माण के लिए) प्रविष्ट रहता है, वह प्रवर्ग्याग्नि कहलाता है। इसी सौर-प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि से पार्थिवसंस्था की स्वरूप निष्पत्ति हुई

है। यही पार्थिव अग्नि, जो कि सौर अग्नि का प्रवर्ग्यांश है, 'गायत्र' नाम से व्यवहृत होने लगता है।

स्व–सौरसंस्था में प्रतिष्ठित वही सावित्र यज्ञाग्नि पारमेष्ठ्य, दाह्य, ब्रह्मणस्पति नामक सोमाहुति से शुक्ल (ज्योतिर्म्मय) बना रहता है, जिसे कि हम इस का जाग्रतरूप कहसकते हैं। यही शुक्ल–तथा प्रत्यक्ष दृष्ट सौर यज्ञाग्नि प्रवर्ग्य सम्बन्ध से जब पार्थिवसंस्था में प्रविष्ट हो जाता है, तो इस का शुक्लरूप उत्क्रान्त होजाता है। पारमेष्ठ्य सोम सम्बन्ध के उत्क्रान्त होजाने से अपना शुक्लरूप छोड़ता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्रत्यक्षरूप में) परिणत हो जाता है। यही इसका सुप्तरूप है। पार्थिव पदार्थों में, विशेषतः काष्ठादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठित है। जब अन्याग्नि–सम्बन्ध से इसे जगाया जाता है, तो यह जग-पड़ता है, काष्ठ प्रज्वलित हो जाता है। तत्काल यह अपने शुक्लरूप में आता हुआ स्वस्थानभूत द्युलोकोपलक्षित सौर–देवमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि का इसी सुप्त–जाग्रत-अवस्थाद्वयी का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है–

"शेष वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि"॥
(ऋक्सं० ८।७।१५)।

सौर यज्ञाग्निवत् चूंकि यह अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु मृग्यमाण (खोजने योग्य) है, अतएव इसे 'कृष्णमृग' कहना अन्वर्थ बनता है। यज्ञभूमि नाम से प्रसिद्ध भारतवर्ष में स्वच्छन्दरूप से विचरण करने वाले *कृष्णमृग (काले हरिण) में भी इस कृष्णमृगाग्नि की प्रधानता है। अतएव यज्ञ कर्म्म में यज्ञाग्नि समृद्धि के लिए कृष्णमृग चर्म्म पर ही हविःपेषणादि कर्म्म होता है, जैसाकि पूर्वके– "अथ कृष्णाजिनमादत्ते" (शत० १।१।४।१) इत्यादि रूप से कृष्णाजिनब्राह्मण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सौर यज्ञाग्नि ही प्रवर्ग्य सम्बन्ध से

*—"तस्य (अग्नेः) एष स्वो लोकः, यत् कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।२।६)।

+पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट होता हुआ कृष्णमृग नाम से व्यवहृत होने लगता है, इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण–श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

"यज्ञो ह देवेभ्योऽप चक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्नुः" (शत० १।१।४।१)।

"मृगधर्म्मा वै यज्ञः" (पलायनशीलः) (तां० ब्रा० ६।७।१०)।

वही मृगाग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यहां तो आहवनीय खर में प्रतिष्ठित है, एवं उस प्राकृतिक यज्ञ में आहवनीयखरस्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव 'आहवनीये खरे तिष्ठति' इस निर्वचन से इसे 'आखरेष्ठः' नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठदृष्टि से भी इस नाम का समन्वय किया जासकता है। 'आ–समन्तात् खरे–कठिने वृक्षे–काष्ठे–तिष्ठति' इस निर्वचन से (महीधरभाष्य) इस इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि को भी 'आखरेष्ठः' कहना अन्वर्थ बनता है। इध्म में भूत–देव भेदसे दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है, साथ ही इसका दिव्यातिशययुक्त यज्ञ से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का, जो इस में कृष्णरूप से (अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित रहता हुआ 'आखरेष्ठः' बन रहा है। वही सङ्गमनीय है। भूतभाग प्राणसम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अमेध्य (असंगमनीय) धर्म्म का समावेश हो जाता है। काष्ठस्थित कृष्णाग्नि के भूतसंसर्गजनित इसी अमेध्यभाव को हटाने के लिए 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः' यह मन्त्र बोलते हुए इध्म का प्रोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षण कर्म्म नहीं कर लिया जाता, तबतक इस इध्मस्थित कृष्णाग्नि का उस दिव्याग्नि-प्रतिरूप आहवनीययज्ञाग्नि के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध नहीं होसकता। एवं जबतक पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक 'यज्ञेन–पार्थिव

+—"इयं (पृथिवी) वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६)।
"यज्ञो वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६)।

यज्ञेन-यज्ञमयजन्त-दिव्याग्निमयजन्त' परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव (आधिभौतिक), दिव्य (आधिदैविक), यजमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि) के समन्वय पर स्वरूपसम्पत्ति निर्भर रखने वाला यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब इध्मकाष्ठाग्नि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण द्वारा भूतानुगत अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुष्ट (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। इसी मेध्य फल का-"अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" इस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है ॥१॥

वेदि पर बर्हि का आस्तरण होता है। बर्हि (दर्भ) वेन नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है, जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्म्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठ्य पानी का जो भाग सौर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वाभाविक आसुरभाव को छोड़ता हुआ ज्योतिर्म्मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाता है, उसी वेन नामक यज्ञिय अप्तत्त्व से दर्भ की उत्पत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व के 'पवित्रे करोति' (शत १ १।१।२।१) इत्यादि पवित्र ब्राह्मण में 'दर्भोत्पत्तिविज्ञान' बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है×। दिव्य प्राणात्मक दर्भ के दिव्यातिशय का वेदिके साथ तभी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इध्मकाष्ठवत् पृथ्वीप्रतिकृतिरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतसंसर्गजनित अमेध्य धर्म्म से पृथक् कर लिया जाय। इसी प्रयोजनके लिए (बर्हिस्थित दिव्य प्राणके साथ वेदिस्थित कृष्णाग्नि

---

*—"अय वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति॥"
(यजुः सं० ७।१६)।

×—"सर्वत इव ह्ययं समुद्रः। तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे।
ता उपर्य्युपर्येति पप्रुविरे। त इमे दर्भाः। ता हैता अनापूयिता आपः"
(शत १।१।३।५)।

के सम्बन्धके लिए) ही इध्मप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षण मन्त्र है—'वेदिरसि, बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' यह। 'यह वेदि है' इस वाक्य से श्रुति का तात्पर्य्य यही है—कि यही यज्ञप्राप्ति का साधन है÷। इसी में तो प्रवर्ग्य यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे मेध्य बनाना ही प्रोक्षणकर्म्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि में भी भूत—प्राण भेद से दो विभाग हैं। फलतः इध्म-वेदिवत्—इसका दिव्य आप्य अग्नि भी भूतसंसर्ग-जनित अमेध्यधर्म्म से युक्त है। पवित्र—मेध्य स्रुक्पात्र इस पर तभी रक्खे जासकते हैं, जब कि इस का अमेध्य धर्म्म हटा दिया जाय। तदर्थ ही—'बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्भ उस वेन पानी का प्रतिरूप है, जिस वेन पानी के वेष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रलोक्य चारों ओर से वेष्टित होरहा है। पृथिवीरूपा वेदि का बृंहणकर्म्म (वेष्टन-कर्म्म) वेनरूप दर्भ पर ही अवलम्बित है। इसी बृंहणधर्म्म के कारण वेनप्रतिरूपस्थानीय दर्भ को अवश्य ही—'बर्हि' कहा जासकता है।

यज्ञ में गृहीत भौतिक पदार्थों में भूत—प्राण भेद से दो दो वस्तुएं हैं। दोनों में भूतभाग अग्राह्य है, प्राणभाग ग्राह्य है। भूत अमेध्य है, तत्संसर्ग से प्राण भी अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकर्म्म किया जाता है, और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्म्मोंकी उपपत्ति है। प्रोक्षणकर्म्म होता है—दर्भतृणों द्वारा प्रोक्षणीपात्र में रक्खे हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्भतृण पूर्वकथनानुसार स्वयं पवित्र हैं। अतएव इन से प्रोक्षण करना अन्वर्थ बनता है ॥३॥

पर्जन्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्जन्य द्वारा आकाश से मरुत्—गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखलाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित

÷—"तं (यज्ञं) वेद्यामन्वविन्दन्। यद्वेद्यामन्वविन्दन्, तद्वेदेर्वेदित्वम्" (ऐ० ब्रा० ३६)

ओषधि-वनस्पतियों के मूलों में हीं होता है। इसीलिए तो ओषधि-वनस्पतियाँ जहां अपने तूलभागों से शुष्क-इव प्रतीत होतीं है, वहां इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलार्द्रता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि, एक वृक्ष को उखाड़ कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है, तो उस वृक्ष की जड़ों को उत्पाटक लोग (रांई) मिट्टी सहित उस तरह उखाड़ते हैं, जिस से उन का मूलार्द्रभाग शुष्क न होजाय। इस प्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिञ्चक पर्जन्य देवता द्वारा सींचा हुआ पानी ओषधियों के मूल में प्रतिष्ठित रहता है। यह वैधयज्ञ उसी का प्रतिरूप है। अत-'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि' इस निगम से यहां भी प्रोक्षणीपात्र में बचे जल को बर्हि के मूलों में ही डालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य बात है कि, यज्ञकर्म्म में जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं, उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है। जैसा कि-"तद्वै तदाहर्चयेवाधि" इत्यादि रूप से अनुवादमें ही स्पष्ट होनेवाला है। यहां जलसेक से जो सिञ्चन कर्म्म होता है, उस का फल यह होता है कि, यज्ञकर्त्ता यजमान के उपभोग में आनें वालीं ओषधि-वनस्पतियाँ सदा उपजीवनीय बनीं रहतीं हैं। इसलिए कभी ओ० व० सम्पत्तिकी कमी नहीं रहती।

ओषधिमूलों को आर्द्र बनाना ही इस सिञ्चन कर्म्म का मुख्य उद्देश्य है। हम देखते हैं कि, यदि केवल ओषधियों पर पानी डाला जाता है, तो इस से वे आर्द्रमूल तब तक नहीं बनतीं, जब तक कि उनकी मिट्टी में पानी न डाला जाय। भूप्रदेश की आर्द्रता हीं ओषधि-मूलार्द्रता का कारण है। फलतः सिञ्चनकर्म्म का प्रधानलक्ष्य भूप्रदेश ही बनता है। एतद्द्वारा परम्परया ही आर्द्रमूलसम्पत्ति प्राप्त होती है। अतएव यहां भी पानी डाला तो जाता है-बर्हिमूलों में। परन्तु भावना की जाती है-'अदित्यै व्युन्दनमसि" यह। 'हे शेष जल! आप इस पृथिवी के लिए क्लेदनद्रव्य हो' मन्त्रभाग यही बतला रहा है कि, गीली मिट्टी ही आर्द्रमूला सम्पत्ति-प्राप्ति का कारण है। यही कारण है कि, जबतक पर्याप्त वृष्टि नहीं होती,

तबतक भूगर्भ आर्द्र नहीं होता। जबतक भूगर्भ आर्द्र नहीं होता, तबतक ओषधि-प्ररोहण नहीं होता। भूगर्भ की आर्द्रता ही जीवनरसप्रदात्री है, अतएव कृषकवर्ग भूगर्भ में ही बीजवपन करते हैं ॥४॥

इति-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः

अथ प्रस्तरग्रहणोपपत्तिः

प्रोक्षणकर्म्म के अनन्तर कुशमुष्टिलक्षण 'प्रस्तर' का ग्रहण किया जाता है। प्राकृतिक यज्ञपुरुष का जैसा स्वरूप आधिदैविक संस्था में है, वैसा ही यहां होना चाहिए। यह यज्ञपुरुष अध्यात्म—अधिदैवत भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है। दोनों में से पहिले आधिदैविक यज्ञपुरुष के स्वरूप का विचार कीजिए। ऋताग्नि—ऋतसोमात्मक सम्वत्सर मण्डल का ही नाम 'आधिदैविक यज्ञपुरुष' है। इस सम्वत्सरयज्ञ के उत्तरायण, दक्षिणायन, विष्वद्वृत्त, भेद से तीन प्रधान पर्व हैं। उत्तरायण पर्व इसके शरीर का उत्तर पार्श्व है, द० पर्व दक्षिणपार्श्व है, मध्यस्थ विष्वद्वृत्त आत्म-स्थानीय मध्याङ्ग (धड़) है। स्तोमविज्ञान के अनुसार त्रिवृत्स्तोम से आरम्भ कर एकविंशस्तोम पर्य्यन्त (सूर्य्यपर्य्यन्त) अपनी व्याप्ति रखने वाले इस सम्वत्सर पुरुष का त्रिवृत्स्थान 'पाद' है, पञ्चदशस्थान 'मध्याङ्ग' है. एकविंशस्थान मस्तक है। तीनों के क्रमशः अग्नि—वायु—आदित्यप्राण अतिष्ठाता हैं। आदित्यप्राणात्मक २१ एकविंश स्थानस्थित मस्तक स्थान के ऊर्ध्वभाग पर सूर्य्य स्थित है, जिसे कि यज्ञपरिभाषा में हम यूप' कहा करते हैं। यह सूर्य्यात्मक यूप सोमाहुति से ही स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यूप का यूपत्त्व सोमाहुति पर ही निर्भर है आधिदैविक संवत्सरयज्ञ के इसी त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

१.–"अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिस्तात्-सोऽन्यतरः, आत्मा विषुवान्" (शत० १२।२।३।७)।

२–"आत्मा वै सम्वत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि मासाः"

(शत० १२।२।३।६)।

३–"आत्मा वै सम्वत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि पक्षौ"

(गो० ब्रा० पू० ४।१८)।

४–"सम्वत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतद् द्वारं यदमावास्या, चन्द्रमा एव द्वारपिधानः" (शत० ११।१।१।१)।

५-"पुरुषो वाव सम्वत्सरः" (शत० १२।२।४।१)।

६–"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" (यजुः सं० ३१।१*)।

उक्त सम्वत्सरयज्ञपुरुष के मस्तकोर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित यूपात्मक सूर्य्य ही इस की–'शिखा' है। शिखा केशात्मक–केशगुच्छात्मक होती है। केश–लोमकी

* सहस्र शब्द पूर्णभावात्मक वर्त्तुल वृत्त का सूचक है। क्योंकि जो वर्त्तुल होता है, उस के केन्द्र से चारों ओर वषट्कारसम्पादिका वेद-लोक-वाक् साहस्रियों का वितान होता है। सम्वत्सरपुरुष त्रिकेन्द्र है, अतएव क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर चक्र त्रिकेन्द्र बनता हुआ दीर्घवृत्त (अण्डवृत्त) माना गया है। 'अक्षः' से विज्ञान-चक्षु अभिप्रेत है। विज्ञानचक्षु का हृदय से सम्बन्ध है। हृदयस्थ मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थ विज्ञानसे मध्याङ्ग अभिप्रेत है। त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, तीनों क्रमशः पाद-मध्य–मस्तक–पर्व हैं। त्रिपर्वा यह पुरुष सप्तवितस्तिकाय से तो भूपिण्ड पर खड़ा है। एवं यही अध्यात्मसंस्था में १०।। अङ्गुलात्मक प्रादेशमित प्रदेश में प्रतिष्ठित है। इसी आध्यात्मिक दृष्टि से—'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' कहा गाया है।

उत्पत्ति ओषधि–वनस्पतियों से मानी गई है, जैसाकि–"ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः" (बृ० आ० उप० ३।२।१३) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। पारमेष्ठ्य सोम ही ओषधि–वनस्पति के स्वरूप का जनक है। अन्तर यही है कि, वही सोम चन्द्ररूप से (अग्निगर्भित सोमरूप से) ओषधियों का जनक बनता है, एवं वही सोम सूर्य्यरूप से (सोमगर्भित ×अग्निरूप से) वनस्पतियों का उत्पादक बनता है। जब सूर्य्यात्मक +यूप सोमात्मक है, सोम ही परम्परया केशलोमात्मक है, तो हम अवश्य ही सूर्य्य को इस यज्ञपुरुष की शिखा कहसकते हैं। इसी शिखात्मक सोमभाव के आगमन से तद्रूप सौरदिव्येन्द्रप्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिखात्मकसोम का (सोमाहुति का) सम्बन्ध न रहे, तो तत्काल सौरसंस्था उच्छिन्न होजाय।

इसी उक्त स्वरूपलक्षण आधिदैविक यज्ञपुरुष के अनुरूप आध्यात्मिक यज्ञ–पुरुष का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। सम्वत्सरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड से आरम्भ कर हृदय रेखापर्य्यन्त दक्षिणपार्श्व का, वामपार्श्व से मेरुमण्डल से आरम्भ कर हृदयरेखापर्य्यन्त वामपार्श्व का, तथा मध्याङ्गस्थानीय विषुवप्राण से मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार त्रिवृत्–सम्वत्सरभाग से पाद भाग का, पञ्चदशभाग से मध्याङ्ग का, एव त्रिंशभाग से शिरोभाग का निर्म्माण हुआ है। इसी में सौर–इन्द्रप्राण प्रतिष्ठित है, जो शिखान्तरस्थान से निकलकर शिरो-

---

+–"त्वामिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥"

(ऋक् सं० १।९१।२२)।

×–"अग्निर्वै वनस्पतिः" (कौ० ब्रा० १०।६)।

+–"असौ वा अस्य आदित्यो यूपः" (ऐ० ब्रा० ५।२८)।
"आदित्यो यूपः" (तै० ब्रा० २।१।५।२)।

बिन्दु से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्र तक वितत *महापथ के मार्ग से सूर्य्यकेन्द्रपर्य्यन्त एक निमेषमात्र में तीन बार आता जाता है। यही प्राणगमनागमन शतायुः का प्रवर्त्तक माना गया है। सूर्य्यस्थित मनःप्राणवाङ्मय ×३६००० संख्यात्मक आयु-र्नामक मनोता का आगमन ही आयु-रक्षा का कारण है। 'बृहती प्राण' नाम से प्रसिद्ध इस वैश्वामित्र, आयु प्राण का आगमन इसी प्राणसञ्चालनक्रिया पर निर्भर है÷। जिस क्षण आध्यात्मिकप्राण, तथा उस सूर्य्य केन्द्रस्थ आधिदैविक प्राण के मध्य में अवसानधर्म्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता है, तत्काल आयुःसूत्र विच्छिन्न होजाता है, प्राण को उत्पादक दिव्यप्राण का जीवन स्रोत मिलना बन्द होजाता है, निधन होजाता है। इस निधन का अवरोधक प्राणगमनागमनलक्षण वही दैनंदिनयज्ञ है, जिसे यज्ञ परिभाषा में 'अहरहर्यज्ञ'A कहा गया है।

---

*—अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्-पुण्यकृत्-तैजसश्च॥
(बृ० आ० ३।४।४।८,९)

×—"तदात्मानमन्वैच्छत, तत्तपोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत, तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाङ्मयान्॰"
(शत० १०।४ प्र० १ ब्रा०)

÷"तमिन्द्र उवाच-ऋषे! प्रियं वै मे धामोपागाः। वरं ते ददामि-इति। स होवाच त्वामेव जानीयां, इति। तमिन्द्र उवाच-प्राणो वा अहमस्मि-ऋषे!, प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणो ह्येष य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम्।
'तद्वैश्वामित्रेण तपन्नेवास्मि' इति होवाच। तद्वा इदं बृहती-सहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि (३६०००) भवन्ति। तावन्ति शतसम्वत्सराह्नां-सहस्राणि भवन्ति। परस्तात् प्रज्ञमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति। तद्योह-सोऽसौ, योऽसौ-सोऽहम्" (ऐ० आ० २।२।४)।

A"अहरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरेन स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहनेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"(शत० ६।४ प्र० १ ब्रा० १५ कं०)।

बतलाया गया है कि 'बृहती' नामक, आयुःस्वरूपसमर्पक वह दिव्य सौरप्राण शिखान्तस्थानस्थित मार्ग से निकलकर महापथद्वारा स्वप्रभव सूर्य्य से सम्बन्ध करता है। वही शिखान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान भाषा में इसे ही *'विद्दतिद्वा' (द्वार) 'नानन्दनद्वा' (द्वार) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। मस्तकस्थ केशों का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। जहां यह अवसान बिन्दु है, वहीं एक सुसूक्ष्म द्वार होता है। यही द्वार उस आयुःप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर–दिव्यप्राण का प्रवर्ग्यांश है। अतएव सूर्य्यविरोधी तमोमय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण के साथ स्वाभाविक विरोध है। लौहधातु में आसुरप्राण की प्रधानता रहती है। इधर क्षौर कर्म्म में लौह–क्षुरिका का उपयोग होता है। इस में रहने वाले आसुरप्राण के स्पर्श से उस दिव्यप्राण को बचाने के लिए ही परमवैज्ञानिक महर्षियों नें केशान्तभाग पर शिखा धारण आवश्यक माना है, जोकि शिखाधारण आर्षधर्म्म के अनुगामी भारतीयों की महत्ता, तथा विज्ञानानुगामिता प्रकट कर रहा है।

यह तो शिखाधारण का एक प्रासङ्गिक प्रयोजन बतलाया गया। दूसरा प्रयोजन है–प्रतिरूप मर्य्यादा से देवमर्य्यादानुगमन। प्राकृतिक यज्ञपुरुष जब यूपरूप शिखा से युक्त है, तो यज्ञमार्ग का अनुगमन करने वाली, तथा यज्ञपुरुष से तदाकारेण उत्पन्न होने वाली आर्षप्रजा को भी अपनी अध्यात्मसंस्था का वैसा ही बाह्य आकार रखना चाहिए। 'देवो भूत्वा देवं भावयेत्' का भी यही रहस्य है। आधिदैविक यज्ञपुरुष के और और पर्व तो आध्यात्मिकयज्ञ पुरुष में स्पष्ट हैं। परन्तु यूपस्थानीय शिखा अस्पष्ट है। अतः यूपाकृतिभृत् केशान्त भाग में इस का प्रतिरूप मर्य्यादा से अवश्य ही समावेश होना चाहिए।

---

*"स एतमेव सीमानं विदार्य्य, एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विद्दतिर्नाम द्वाः। तदेतन्नान्दनम्" [ऐ० आ० २।४।३]।

शिखा–धारण से जहां आर्षधर्म्मानुबन्धिनी यज्ञमर्य्यादा की रक्षा होती है, वहां दिव्यप्राण–रक्षापूर्वक विज्ञान भी सुरक्षित, तथा पुष्पित–पल्लवित होता है। विज्ञानशब्द हमारी परिभाषा में आत्मानुगत उस नित्य विज्ञान का सूचक है, जिस के परिज्ञान, एवं अनुष्ठान से इहत्र–अमुत्र अभ्युदय–निःश्रेयस् सम्पत्तियाँ प्राप्त होतीं हैं। अतएव जो जातियाँ शिखा नहीं रखतीं, अथवा जो भारतीय सन्तानें इस 'स्वस्त्ययनकर्म्म' का महत्व न समझती हुई कल्पित, विभीषिकामय नग्न सौन्दर्य्य का मोहकर शिखाधारण को व्यर्थ का आडम्बर समझतीं हैं, उन का विज्ञान (बुद्धि) भले ही भौतिक, नाशलीलाप्रवर्त्तक आसुरभावात्मक विज्ञान में निपुणता प्राप्त करलें, परन्तु वे "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" की परिभाषा से तो सर्वथा वञ्चित ही रहते हैं। जिन्हें यह वञ्चना स्वीकृत है वे भले ही शिखा को शर्म्म (लज्जा) का कारण समझें, परन्तु जो वास्तव में शर्म्म (सुख) का मर्म्म समझने वाले हैं, वे भारतीय तो अपनी शिखा–रक्षा को जातीयता, धर्म्म, विज्ञानवृद्धि, आदि का उपोद्‌बलक ही मानेंगे।

वेदशास्त्र पर अनन्य निष्ठा रखने वालों के लिए तो उस समय उपपत्ति–जिज्ञासा का कोई महत्व ही नहीं रह जाता, जब कि–"तस्येयमेव शिखा स्तुपः" इत्यादि-रूप से वह शिखाधारण को आवश्यक कर्म्म मानने का आदेश दे रहा है। प्रस्तुत प्रासङ्गिक चर्चा को हम इसलिए विशेष महत्व देरहे हैं कि, आज नवशिक्षितों की परिष्कृत बुद्धि के क्षेत्र में शिखा–सूत्रादि चिन्हों को लेकर बड़ा कोलाहल मच रहा है। विशेषतः शिखा के निष्काशन का तो बहुसंख्या में अनुगमन होरहा है। हम समझते हैं, ऐसी दुष्प्रवृत्ति आर्षसंस्कृति के अधःपतन की सूचना देनेवाली है। इस लिए हम उन सम्भ्रान्त पुरुषों से निवेदन करेंगे कि, वे अपने इस लाभप्रद, तथा गौरवपूर्ण चिह्न की रक्षा करने में ही अपना लाभ, तथा गौरव समझें।

आधिदैविक यज्ञपुरुष से आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, एवं आध्यात्मिक यज्ञ से इस आधिभौतिक यज्ञपुरुष (पुरुषप्रयत्नसाध्य वैध यज्ञ) का

वितान होरहा है। जब दोनों यज्ञपुरुष शिखा से युक्त हैं, तो प्रतिपद उन्हीं की अनुरूपता से सम्बन्ध रखने वाले इस वैध यज्ञमें भी शिखा-स्थापन होना चाहिए। इस यज्ञ से जो यज्ञातिशयरूप दैवपुरुष (दैवात्मा) उत्पन्न होने वाला है, वह शिखाशून्य रहता हुआ दिव्यप्राण विकास से वञ्चित न रह जाय, अतएव यहां प्रस्तरग्रहण किया जाता है। प्रस्तर दर्भमुष्टि है। दर्भ वेन लक्षण सौम्य आपोमय हैं। सोम ही शिखा है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इसी सादृश्य से दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर को अवश्य ही शिखा का निदान माना जासकता है। 'विष्णो स्तुपोऽसि' यह प्रस्तर ग्रहण का मन्त्र है। विष्णु यज्ञपुरुष है। इसके पूर्वभाग में (शिरोभाग) में ही प्रकृतयज्ञ में स्तुप (शिखा) प्रतिष्ठित है। अतः प्रस्तर का ग्रहण भी पुरस्तात् ही होता है ॥५॥

इति-प्रस्तरग्रहणोपपत्तिः

अथ-सन्नहनविस्रंसन-स्थापनोपपत्तिः

जो बर्हि वेदि पर बिछाने के लिए संगृहीत हैं, वे 'सन्नहन' नामक रज्जु से बंधी रहतीं हैं। गांठ खोल कर पहिले तो इस बर्हि-संघात से प्रस्तर (स्तुप) लेलिया जाता है। अनन्तर इस सन्नहन (बन्धन रज्जु) को बर्हिसंधान से पृथक् कर लिया जाता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, जिस वेदि पर बर्हि का आस्तरण होने वाला है, वह वृषास्थानीय देवताओं की (यज्ञपुरुष की) योषा (पत्नी) है। इसी के दाम्पत्यभाव से दैवात्मलक्षण अपत्य उत्पन्न होने वाला है। प्रजनन क्रिया में नीवीबन्धन प्रतिबन्धक है। इधर सन्नहन रज्जु इस योषा (वेदि) की नीविस्थानीया है। चूंकि अब प्रजनन कर्म्म होने वाला है, अतः इस बन्धन को पृथक् करना ही प्रकृत्या सुसङ्गत है।

बन्धन को पृथक् कर इसे वेदि के दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर रक्खा जाता है। चूंकि यह बन्धन प्रतिरूपमर्य्यादा से नीवि है, उधर नीविबन्धन लोकव्यवहार में

दक्षिण श्रोणि पर रहता है, साथ ही वह वेष्टन वस्त्र से ढँका भी रहता है। कन्या-सन्तान की अपेक्षा पुत्रसन्तान का (पितृऋण–मोचन की दृष्टि से) विशेष महत्व माना गया है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान बनता हुआ पुरुषप्रधान है, वामभाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्रीप्रधान है। अतएव महर्षि चरकादि ने गर्भाधान संस्कार-काल में पति के दक्षिण पैर से ही शय्यारूढ होना आवश्यक माना है। इधर इस यज्ञ से भी दैवात्मालक्षण पुरुषविध सन्तान का प्रजनन अपेक्षित है। अतः अग्नि-प्रधान दक्षिण श्रोणि पर ही सन्नहन रखना उचित है। नीवीबन्धन शिष्टमर्यादा के अनुसार ढँका रहता है। अतः यहां भी उसी मर्य्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥ ६ ॥

अथ बर्हिस्तरणोपपत्तिः

कहा गया है कि, इस यज्ञ कर्म्म में गृहीत प्रस्तर शिखा–स्थानीय है। सब शरीरावयवों का प्रतिरूप मर्य्यादा से संग्रह होगया, शिखाधारण प्रस्तर से गतार्थ बन गया। अब वे केश-लोम बच रहते हैं, जो शिखा के अधोभाग में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी लोमसम्पत्तिसंग्रह के लिए यहां प्रतिरूप मर्य्यादा से बर्हि बिछाई जाती है, यही बर्हिस्तरण की एक उपपत्ति है ॥७॥

वेदि को योषा (स्त्री) स्थानीय बतलाया गया है। शिष्टाचार का यह आग्रह है कि, कुलीन स्त्री यदि किसी आवश्यक कार्य्य से भद्रपुरुष–मण्डली में बैठे, तो अपने सर्वाङ्गशरीर को ढांक कर बड़े विनय, तथा लज्जा भाव से युक्त रहै। यहां वेदिरूपा स्त्री–प्राकृतिक प्राणदेवताओं, तथा यज्ञसञ्चालक ऋत्विजों की मण्डली में प्रतिष्ठित है। अतः आवश्यक है कि, इसे नग्न (निर्लज्ज) न रहने दिया जाय। इसलिए भी वेदिपर बर्हि बिछाना आवश्यक है। बर्हिस्तरण की यही दूसरी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

वेदि जैसे निदानेन योषा (स्त्री) है, वैसे निदानेन यह पृथिवी भी है। पृथिवी के उर्वर, ऊसर भेद से दो विभाग रहते हैं। 'निर्ऋृति' नामक दरिद्रदेवता (अलक्ष्मी, धूमावती, अवरोहिणी, ज्येष्ठा,) के अनुग्रह से सस्यादिप्रजनन के अयोग्य, क्षत-विक्षत भूप्रदेश ऊसर है। एवं 'रोहिणी' के नामक भाग्यदेवता (लक्ष्मी, कमला) के अनुग्रह से सस्यादिबहुल सम भूप्रदेश उर्वर है। बहुल-ओषधियुक्त भूप्रदेश ही भोग्यतम माना गया है। जो पृथिवी का प्रदेश यहां वेदिरूप से गृहीत है, वह इस यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए बहुल ओषधि-वनस्पतियों से युक्त बनता हुआ जीवनीयतम बने, इसी लक्ष्य से इस पर ओषधि वनस्पति के प्रतिरूप बर्हि बिछाए जाते हैं। यज्ञकर्म्म में यजमान के निमित्त निदानविधि से ऋत्विक लोग जिस सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, अवश्यमेव "यावद्वित्तं तावदात्मा" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यजमान की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाती है। यही बर्हिस्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥९॥

पृथिवी के जिस भाग में जितनी अधिक ओषधियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं, वह भाग उतना ही अधिक उपजाऊ कहलाता है। वही उपजीवनीयतम (भोग्यतम) प्रदेश माना गया है। इस सम्पत्ति के लिए बर्हि उस मात्रा से बिछाई जाती है, जिससे वेदि का प्रदेश अप्रत्यक्ष होजाय। ओषधिमूल भूगर्भ में प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बर्हि के अग्रभागों से द्वितीय-तृतीय दर्भमुष्टि के मूलभागों को दबा दिया जाता है त्रिसत्य देवताओं के त्रिवृत्यज्ञ की स्वरूप निष्पत्ति के लिए ही स्तरण कर्म्म विहित है। उसी त्रित्वानुगता यज्ञसम्पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥ १० ॥

"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः" यह स्तरणकर्म्मसाधक मन्त्र है। मन्त्र का भाव यही है कि, यद्यपि दर्भतृण का आस्तरण होता है, तथापि भावना ऐसी रखनी चाहिए, मानों हम वेदि पर बैठने वाले प्राणदेवताओं के लिए

कोमलस्पर्श आसन बिछा रहे हैं। 'अन्य को अन्य भावना से देखना' यही तो निदान है। एवं भावनात्मक निदान ही तो हमारे कर्म्मों की श्रेष्ठता का मूलाधार है॥११॥

इति—बर्हिस्तरणोपपत्तिः

अथ—अग्निकल्पोपपत्तिः

कहा गया है कि, सम्वत्सर यज्ञपुरुष का एकविंश स्तोमात्मक द्युप्रदेश शिरोभाग है। यहां आहवनीयकुण्ड निदानेन इस वैधयज्ञ का शिरोभाग है। शिरोभागस्थ मुख भाग में आहुतिग्राहक अन्नादाग्नि प्रतिष्ठित रहता है। तत्स्थान में यहां आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित आहवनीयाग्नि है। यदि अग्नि प्रबल रहता है, तो आहुत अन्न की आकर्षण, दहन, पचनादि क्रिया ठीक ठीक होतीं हैं। अग्निमान्द्य में ये क्रियाएं निर्बल रहतीं हैं। परिणामतः पुष्टि, तुष्टि, तृप्ति, बल, वीर्य्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि, शिरोभागोपलक्षित, मुखस्थित, आहुतिग्राहक, आहवनीयाग्नि को आहुतिद्रव्य के आकर्षणादि के लिए इध्मकाष्ठ से भस्मादि हटा कर प्रबल बना दिया जाय। यज्ञपुरुष का पूर्णस्वरूप शिखा पर्य्यन्त माना गया है। इधर कुशमुष्टिलक्षण प्रस्तर इस वैधयज्ञपुरुष की शिखा है। अतः प्रस्तररूप शिखा का आहवनीय के ऊपर सम्बन्ध बनाते हुए पूर्णरूपेण ही यह प्रबलीकरण किया जाता है॥ १२॥

इति—अग्निकल्पोपपत्तिः

अथ—परिधिपरिधानोपपत्तिः

जिन तीन परिधियों का आहवनीय कुण्ड के पश्चिम—दक्षिण—उत्तरप्रान्त भागों में क्रमशः स्थापन होता है, उन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के आख्या-

विज्ञान में (शत० भाष्य० द्वि० व० पृ० सं० ७४ से ११८ पर्यन्त) किया जाचुका है। अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानों नें अनेकधा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रत्यक्ष किया। एवं इसी आधार पर "चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास" यह अनुगमन वचन प्रतिष्ठित है। उन सब अग्निविवर्त्तों का उक्त आप्त्या ब्राह्मण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आवश्यक होगा कि, पाठक एक बार वह प्रकरण अवश्य अपने लक्ष्य में ले आवें यहां प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में उस का सिंहावलोकन कर दिया जाता है।

"पुरुषाग्नि, प्राकृताग्नि, विराडाग्नि, सम्वत्सराग्नि" इन चार अग्नियों में से चौथा सम्वत्सराग्नि ही इस कथानक का मूलाधार है। इस सम्वत्सराग्नि को ही 'भूतानां पतिः' कहा गया है*। इस 'भूतानांपतिः' सम्वत्सराग्नि की ही आगे जाकर चार अवस्था हो जातीं हैं, जिन के लिए—'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' यह कहा गया है। सम्वत्सरचक्र सौर, पार्थिव, भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव सम्वत्सरचक्र गायत्राग्निप्रधान है, एवं सौर सम्वत्सरचक्र सावित्राग्निप्रधान है। प्रकृत में केवल पार्थिवाग्निसम्बन्धी पार्थिवसम्वत्सर चक्र से ही अग्नि की अवस्था-चतुष्टयी से सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूपिण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि 'अन्नादाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी अन्नादाग्नि को 'रुद्र' कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अहर्गणवितान से आगे जाकर चार अवस्था होजातीं हैं। इन चार पार्थिव सम्वत्सराग्नियों में एक तो पार्थिव यज्ञ के होता बनते हैं, शेष तीन अग्नि 'आप्त्या' रूप में परिणत होकर इस अग्नि

*—"अस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां पतिः सम्वत्सरायादीक्षन्त। भूतानां पतिर्गृहपतिरासीद्, उषाः पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि-ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः" (शत० ६।१ अ० १।३ ब्रा० ६,७, कं०)।

की परिधियां बनें रहते हैं। पार्थिव प्रजापतिअग्नि की गृहपति, सम्वत्सर, भेद से दो अवस्था हो जातीं है। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में अन्नादरूप से प्रतिष्ठित रहता है, सम्वत्सराग्नि पार्थिव सम्वत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की उक्थ–अर्क भेद से दो अवस्था रहतीं हैं। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित, 'अनिरुक्तप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हृद्य अग्नि सर्वप्रभव बनता हुआ 'उक्थ' नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का प्रजापति (यजमान) है, पार्थिव उषा इस की पत्नी है। इन्हीं दोनों के दाम्पत्यभाव से पार्थिवप्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अर्क–(रश्मियाँ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त रहतीं हैं। जहां तक यह अर्कात्मक प्राणाग्नि व्याप्त रहता है, वहांतक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है, जोकि सीमा सामपरिभाषा में 'रथन्तर साम' नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ, उक्थनात्मक हृद्य, गृहपति, प्रजापति अग्नि से अर्करूप में परिणत होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे जाकर पार्थिव अग्नि, सम्वत्सराग्नि भेद से दो अवस्था होजातीं हैं। भूपिण्डावच्छिन्न वही प्राणाग्नि (अर्काग्नि) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही 'भूपति' कहा जाता है। एवं भूमहिमावच्छिन्न वही अर्काग्नि सम्वत्सराग्नि है, एवं–इसे ही पूर्व कथनानुसार 'भूतानांपतिः' कहा जाता है। भूमहिमा का वषट्कारमण्डल से सम्बन्ध है। एवं अग्निसम्बन्ध से इस वषट्कार के ३३ अहर्गणों में से २१ अहर्गण संगृहीत है। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त जो भूमहिमा प्रदेश है, वही सम्वत्सरचक्र है। इस पार्थिव सम्वत्सरचक्र में ही वह पार्थिव प्राणाग्निविध सम्वत्सराग्नि प्रतिष्ठित है।

'भूतानांपतिः' नामक, सम्पूर्णसम्वत्सरचक्र में एक रूप से प्रतिष्ठित, अतएव 'सम्वत्सरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे जाकर क्रमशः पार्थिव त्रिवृत (९), पञ्चदश (१६), एकविंश (२१) स्तोम भेद से तीन भेद होजाते हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युप्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानां पतिः 'भूतानांपतिः' नाम से

प्रसिद्ध है। यही देवविज्ञानानुसार 'आदित्य' कहलाया है। पञ्चदश-स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानां पतिः 'भुवनपतिः' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में-'वायु' कहलाया है। एवं त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानां पतिः 'भुवपतिः' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में 'अग्नि' कहलाया है। इस प्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्वत्सरचक्र में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्वत्सराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यह निकला कि, भूपिण्डकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधारपर 'भूपिण्ड, त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंशस्तोम' इन चार प्रदेशों में विभक्त अर्काग्नि के भूपति, भुवपति भुवनपति, भूतानां पति' ये चार रूप होजाते हैं। इन्हीं चारों को लक्ष्य में रखकर 'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' यह कहा गया है।

भौमाग्निः ←— [१-भूपतिः→भूपिण्डावच्छिन्नः-अर्कविधः--अग्निः] ज्येष्ठभ्राता

सम्वत्सराग्निः ← { २-भुवपतिः→पृथिव्यवच्छिन्नः- ,, -अग्निः
३-भुवनपतिः→अन्तरिक्षावच्छिन्नः-,, -वायुः
४-भूतानां पतिः→द्युलोकावच्छिन्नः-,, -आदित्यः } अग्निभ्रातरः

} पिता—प्रजापतिर्हृदयः   गृहपतिः—उक्थ्यः

प्रश्न यह है कि, अर्कविध उक्त चारों अग्नियों में से पार्थिव गृहपति यजमान के पार्थिव हविर्यज्ञ-कर्म्म में होता कौन सा अग्नि बनता है? आख्यानविज्ञान में एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। पार्थिव सौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त त्रिविध सम्वत्सराग्नित्रयी इस कर्म्म में असमर्थ है। क्यों कि, इसका भूपिण्ड से-अन्तर्य्याम सम्बन्ध सुरक्षित नहीं रहने पाता। कारण इस का यही है कि-'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार भूपिण्ड चारों ओर से अर्णव समुद्र से वेष्टित है। इस अप्तत्त्व के सम्बन्ध से तत्रस्थ सम्वत्सराग्नित्रयी का भौमयज्ञवहन में अन्तर्याम सम्बन्ध नहीं होने पाता। आरम्भ में एकरूप से प्रतिष्ठित तीनों साम्वत्सरिक प्राणाग्नि इस अप्समुद्र के गर्भ में चले जाते हैं। इन का भूपिण्ड से

अन्तर्य्याम सम्बन्ध नहीं रहता। सम्बन्ध रहता है-उस भौम प्राणाग्नि का, जिसे 'गायत्रअग्नि' भी कहा जाता है। यही अपने 'एति-च प्रेति चात्वाह' बल से तृतीय द्यु से सोमापहरण में भी समर्थ होता है, एवं पार्थिवदेवताओं के यज्ञ के 'हौत्र-कर्म्म' का भी सञ्चालन करता है।

साम्वत्सारिक अग्नित्रयी ने क्यों नहीं इस कर्म्म को अपनाया? इस का उत्तर है-वषट्कार। भूपिण्ड की अपनी एक वाङ्मयी सीमा है। वही वाक्सीमा 'वषट्-कार' नाम से प्रसिद्ध है। इस भौम-वषट्कारसीमा में वही अग्नि अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रह सकता है, जो भूमि की प्रातिस्विक वस्तु बना रहता है। सम्वत्स-राग्नि का इस वषट्कार-सीमा से सम्बन्ध अवश्य रहता है, परन्तु यह उस में प्रति-ष्ठित नहीं होसकता। इसी प्राकृतिक स्थिति का आख्यानरूप से निरूपण करते हुए श्रुति ने कहा है कि, तीन अग्नि भाग कर पानी (अर्णवसमुद्र) में जाछुपे, एक अग्नि (गायत्र) ने 'हौत्र-कर्म्म' करना स्वीकार किया।

हौत्रकर्म्म में नियुक्त गायत्राग्नि इस सम्वत्सराग्नि के सहयोग से सर्वथा वञ्चित रहता है, तथा सम्वत्सराग्नित्रयी को पार्थिवयज्ञ का कोई फल भी नहीं मिलता, यह बात नहीं है। जब गायत्राग्नि द्युलोकस्थ देवताओं के पास हवि लेकर पहुंचते हैं-+-, तो अर्णव समुद्र में व्याप्त आप्य आसुरप्राण के आक्रमण से यही सम्व-त्सराग्नित्रयी इस की रक्षा करती है। पश्चिम-दक्षिण-उत्तर-प्रान्तस्थ स० अग्नित्रयी सीमारूप से इन तीनों ओर से गायत्राग्नि की रक्षा करती है, यही इस अग्नित्रयी का पार्थिवयज्ञ में उपयोग है। साथ ही जो हविर्द्रव्यांश प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सराग्नित्रयी के गर्भ में रह जाता है, वह इन के लिए आहुतिद्रव्य बन जाता है। सीमारूप से होना अग्नि की स्वरूपरक्षा तथा प्रतिफल में उच्छिष्टद्रव्य का ग्रहण करना ही इन का यज्ञसंस्था में उपयुक्त होना है।

+—"अतन्द्रं हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि"।

इस सम्बन्ध में एक यह विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए कि, इन पलायित आप्याग्नियों की शुद्ध–मलिन भेद से दो अवस्था होजातीं हैं, जैसाकि आप्या-विज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सम्वत्सराग्नित्रयी का अर्णवसमुद्र से सम्बन्ध बतलाया गया है। इस अर्णवसमुद्र के आप्यभाग में सम्वत्सराग्नित्रयी का जो प्रवर्ग्यभाग प्रविष्ट रहता है, वह मलिन आप्या हैं, एवं ब्रह्मौदनात्मक सम्वत्स-राग्नित्रयी शुद्ध आप्या हैं। ये ही अग्निरक्षक बनते हुए सीमा हैं। मलिन आप्यायुक्त अप्तत्त्व ही भूपिण्ड का उत्पादक है। इस परम्परा से प्रवर्ग्यभूत आप्याग्नित्रयी भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहती है। जो हविर्द्रव्य भूपिण्ड पर प्रवर्ग्य सम्बन्ध से रह-जाता है, वह इस मलिन–प्रवर्ग्य–आप्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एवं द्युलोक में होता–अग्नि के द्वारा ले जाया जाता हुआ जो हविर्द्रव्य प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सर मण्डल में रह जाता है, वह तत्रस्थ, सीमारूप, शुद्ध आप्याग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

यह वैध हविर्यज्ञ उक्त प्राकृतिक–पार्थिवहविर्यज्ञ का ही प्रतिरूप है। अतः जैसे वहां सीमारूप से पलायित अग्नित्रयी का सम्बन्ध हो रहा है, तथैव यहां भी प्रतिरूप विधि से उन का संग्रह होता है। वहां की तरह यहां भी प्रवर्ग्य द्रव्य का सम्बन्ध होना चाहिए। वहां की तरह भूगर्भस्थ मलिन आप्याग्नित्रयी की तृप्ति का भी यहां समावेश होना चाहिए। इसी उद्देश्य से 'देवाननुविधा वै मनुष्याः''–"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत करवाणि" इस आदेश के अनुगमन के लिए प्राकृतिक अग्निसम्पत्तिसंग्रह के लिए पलायित अग्नित्रयी के प्रतिरूप में तीन परिधियों का परिधान किया जाता है। इन की तृप्ति के लिए इन पर प्रवर्ग्यरूप से आज्यादि डाला जाता है। एवं जो आहुतिद्रव्य भूपृष्ठ पर गिर जाता है, वह मलिन आप्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एवं परिधिपरिधानकर्म्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है॥ १३, १४, १५, १६, १७, १८॥

ये परिधियाँ किस काष्ठ की बनाई जायँ? इसका उत्तर यज्ञिय वृक्ष हैं। साम्वत्सरिक आप्याग्नित्रयी सम्वत्सरयज्ञसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतः इन का

प्रतिरूप काष्ठ वही बन सकता है, जिन में यज्ञातिशय विकसित हो। पलाश, विकङ्कित, काष्मर्य, बिल्व, खदिर, उदुम्बर, इन वृक्षों में यज्ञातिशय विकसित रहता है, अतएव ये यज्ञिय वृक्ष मानें गए हैं। इन में से प्रधानपक्ष तो 'पलाश' ग्रहण का ही है। क्योंकि पलाशवृक्ष में ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक अग्नितत्त्व प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। एवं अग्निसम्पत्तिसंग्रह के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समयपर न मिलने से ही विकङ्कादि अन्य काष्ठों का ग्रहण करना चाहिए। पाठकों की सुविधा के लिए इन यज्ञिय वृक्षों के नामान्तर उद्धृत कर दिए जाते हैं ॥ १९ २० ॥

१—पलाशः—

पलाश, किंशुक, करक, सुपर्णी, वातपोत, ये सब शब्द समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से इसी पलाश के निम्न लिखित नाम प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक, ब्रह्मवृक्ष, ब्रह्मपादप, ब्रह्मोपनेता, पूतद, समिद्वर, काष्ठद्र पर्ण, त्रिपर्ण, त्रिपत्रक, वक्रपुष्प, रक्तपुष्प, बीजस्नेह कृमिघ्न, क्षारश्रेष्ठ इत्यादि। निम्न लिखित संग्रहश्लोक पलाश के इन्हीं गुणों का स्पष्टकरण कर रहे है—

कषायतिक्तकटुकः स्निग्धोष्णो दीपनः सरः ॥
भग्नसन्धानकृद् वृष्यः पलाशो गुणतो मतः ॥१॥
त्रिदोषहृत् कृमिघ्नोऽयं पलाशो यज्ञपादपः ॥
ग्रहण्यर्शो गुल्मगुदरोगप्लीहाव्रणे हितः ॥२॥
रक्तैः पीतैः सितैर्नीलैः पुष्पैरेष चतुर्विधः ॥
सर्वे समगुणा उक्ताः सितस्तु ज्ञानवर्द्धनः ॥३॥
पुष्पं विपाकमधुरं ग्राहिशीतलमूषणम् ॥
कषायातिक्तकटुकं वातलं चोष्णमिष्यते ॥४॥
एतत् पुष्पं कफं पित्तं कुष्ठं दाहं तृषामपि ॥
वातरक्तं रक्तदोषं मूत्रकृच्छ्रं च नाशयेत् ॥५॥

फलं विपाककटुकं लघूष्णं रूक्षमिष्यते ॥
शूलकुष्ठप्रमेहार्शः कृमिगुल्मोदरं हरेत् ॥६॥
पामकण्डूतिदद्रूत्वग्दोषघ्नं तन्त्रबीजकम् ॥
फलबीजं कटुस्निग्धोष्णं कृमिघ्नं कफापहम् ॥७॥
तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्ररुक्छायान्ध्यपुष्पकम् ॥
नूतनः पल्लवश्चास्य कृमिं वातं च नाशयेत् ॥८॥
ग्राही तस्य तु निर्यासो हरेत् स्वेदातिनिर्गमम् ॥
मुखरोगांश्च कासांश्च ग्रहणीं च विनाशयेत् ॥९॥ इत्यादि ॥

संस्कृत	हिन्दी	बंगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तैलङ्गी	तामिली	उत्कल
पलाशः	पलाश ढाक टेसू केसू धारा कांकरिया	पलास	पळस	खाखरो	मुत्तुलु	मातुका-चट्टू	परशन्	पराशु

२–त्रिकङ्कतः—

विकङ्कत, वैकङ्कत, रावण, मधुपर्णी, गोपघोण्टा, पिण्डार, किंकरी, पूतर्किकिणी, हिमक, इत्यादि शब्द समनार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही निम्न नामों से प्रसिद्ध है—यज्ञिय, यज्ञवृक्ष, ब्रह्मपादप, स्रुग्दारु स्रुवद्रुम, स्रुवावृक्ष, सुधावृक्ष, पृथुबीज, बहुफल, मृदुफल, ग्रन्थिल, दन्तकाष्ठ, पादरोहिणी, व्याघ्रपात् वृतिकर, कण्टकी, कण्टकारी, कण्टपाद, कण्टपत्र, स्वादुकण्टक, इत्यादि। निम्न लिखित संग्रहश्लोक त्रिकङ्कत के इन्हीं गुणों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

कषायोऽम्लश्च मधुरः पाकेऽति मधुरो लघुः ॥
त्रिकङ्कतोऽयं नात्युष्णशीतो दीपनपाचनः ॥१॥

कफं पित्तं रक्तदोषान् नेत्रपुष्पं च कामलाम् ॥
शोषं शोकं व्रणं दाहं लूतामर्शश्च हन्ति सः ॥
विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषहृत् ॥२॥

सं०	हिं०	बँ०	म०	गु०	क०	तै०	उ०
शमी	छोंकर छिकुर सफेद कीकर	शाई छुई बाव्ला	थोरशमी लघुशमी	खिजड़ो नान्हो-खिजड़ी	वती कात्रन्नि	शमीचेट्टु	शुमी

३—काश्मर्य्यः—

काश्मर्य्य, कार्श्मरी, गम्भारी, श्रीपर्णी, भद्रपर्णी, स्निग्धपर्णी, मधुपर्णी, कुमुदा, मोदिनी, गृष्टि, भद्रा, सुभद्रा, सर्वतोभद्रा, स्वरूपभद्रा, गोपभद्रा, मधुभद्रा, महाभद्रा, सदाभद्रा, रोहिणी, पीतरोहिणी, हीरा, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इन में 'काश्मर्य्य' शब्द का विशुद्ध 'छन्दोभ्यस्ता' नामक वैदिकी भाषा से ही सम्बन्ध है। गुणदृष्टि से यही निम्न नामों से व्यवहृत हुआ है—क्षीरिणी, विदारिणी, मधुरसा, मधुमन्ती, सुफला, पीतफला, कटुफला, कृष्णफला, कृष्णवृन्ता, कृष्णय, अश्वेता, वातहा, स्थूलत्वचा, दृढत्वचा, इत्यादि। निम्न लिखित संग्रह-श्लोकों से विकङ्कत के इन्हीं गुणों का समर्थन हो रहा है—

गम्भारी मधुरा तिक्ता कषाया कटुका गुरुः ॥
दीपनी पाचनी मेध्योष्णावीर्या भेदनी तथा ॥१॥
हृद्या हन्ति ज्वरं दाहं शोषं शोकं तृषां विषम् ॥
आमशूलं प्रमेहार्शस्त्रिदोषं च भ्रम कृमिम् ॥२॥
शीतलं मधुरं तिक्तं गुरुस्निग्धं च तत्फलम् ॥
बृंहणं ग्राहि मेध्यं च वृष्यं केश्यं रसायनम् ॥३॥

हन्ति मूत्रविबन्धञ्च वातं पित्तं तृषां क्षयम् ॥
दाहं च रक्तदोषं च सतिक्तमधुरं फलम् ॥४॥
फलमम्लकषायं तु गुरुस्निग्धं विशुद्धिकृत् ॥
मूत्रदं बुद्धिदं हन्ति वातपित्तं क्षयं तृषाम् ॥५॥
रक्तक्षतं रक्तपित्तं रक्तदोषं च हन्ति तत् ॥
आमवातं मूत्रकृच्छ्रं दाहं च प्रदरं हरेत् ॥६॥
कषायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम् ॥
ग्राहिणी वातला बल्या वृष्या पित्तं कफं हरेत् ॥७॥
कषायतिक्तमधुरं पुष्पं तस्यास्तु शीतलम् ॥
विपाकमधुरं ग्राहि वातलं रक्तदोषहृत् ॥८॥
गम्भारीमूलमत्युष्णं मानुषेषु हितं न तत् ॥९॥

सं०	हिंदी	बँ०	म०	गु०	क०	तै०
गम्भारी	कुम्भरे खम्भारी	गांभारी गांभार	शीवण गभारो	शवन्य	सींवनी	साल्लागुवुंटी चेट्टु

४—बिल्वः—

बिल्व, श्रीफल, शलूष, मालूर, शाण्डिल्य, शल्य, सोमहरीतकि, गोहरीतकि, कपीतन, शलाटु, महाकपित्थ, नीलमल्लिक, ककट, सुनीतक, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही निम्न नामों से व्यवहृत हुआ है—शिवेष्ट, शिवद्रुम, मङ्गल्य, अतिमङ्गल, समीरसार, पूतिवात, पीतफल, महाफल, लक्ष्मीफल, सदाफल, गन्धफल, सत्यफल, सत्यधर्म्म, हृद्यगन्ध, गन्धपत्र, शैलपत्र, त्रिशाखापत्र, त्रिशिख, त्रिदल, पत्रश्रेष्ठ, कण्टकाढ्य, सितानन, अधरारुह, इत्यादि। निम्न श्लोक बिल्व के इन्हीं गुणों का समर्थन कर रहे हैं—

कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम् ।।
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ।।१।।
तदेव विद्यात् संपक्वं मधुरानुरसं गुरु ।।
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ।।२।।

सं०	हिं०	बँ०	म०	गु०	क०	तै०	ता०
बिल्वः	बेल	बेल	बेलवृक्ष	बिलोविलु	बेललु	मारेडीपंदू बिल्व	विल्वपाम्माम

५-खदिरः—

खदिर, खद्यपत्री प्रमरव, कर्कटी, गायत्री, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही निम्न नामों से भी प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक, यज्ञाङ्ग, मेध्य, यूपद्रुम, दन्तधावन, पथिद्रुम, रक्तसार, तिक्तसार, बहुसार, क्षितिक्षम, बालपत्र, बालपुत्र, बालतनय, वक्रकण्टक, कण्टकी, बहुशल्य, सुशल्य, जिह्मशल्य, जिह्माशल्य, कुष्ठारि, कुष्ठहृत्, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक खदिर गुणों का ही यशोगान कर रहे हैं—

शीतोष्णः खदिरो दन्त्यः कषायकटुतिक्तकः ।।
अरिमेदो विट्खदिरे कदरः खदिरे सिते ।।१।।
कदरो हन्ति कण्डूतिं कुष्ठं भूतग्रहं ज्वरम् ।।
मुखरोगं पाण्डुरोगं रक्तदोषं कृमिं व्रणम् ।।२।।
श्वित्रं शोथं चामपित्तं प्रमेहं च विषं तथा ।।
मेदोरोगं वातकफं नाशयेत् खदिरः सितः ।।३।।
सारो व्रण्यो रक्तदोषं मुखरोगं कफं हरेत् ।।
निर्य्यासो मधुरो बल्यः खादिरः शुक्रवर्द्धनः ।।४।।

सं०	हिं०	बँ०	म०	गु०	क०	तै०
खदिरः	खैर कत्था पपड़िया खयर	खएर-गाछ	खयर पांडरा-खयर	खेरियो गोरड़	कोपिन खैर पिलीयतत्रि	चण्डचेट्टू खापु तेल्लचण्ड

६—उदुम्बरः—

उदुम्बर, उदम्बर, प्रतिष्ठित, सुचत्तु, जन्तुफल, इत्यादि शब्द समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से यही निम्न नामों से व्यवहृत हुआ है—यज्ञिय, यज्ञयोग्य, यज्ञाङ्ग, यज्ञसार, यज्ञफल, पवित्रक, ब्रह्मवृक्ष, सौम्य, कालस्कन्ध, श्वेतवल्कल, शीत-वल्कल, शीतफल, जनफल, सदाफल जन्तुफल, अपुष्पफल, पुष्पशून्य, पुष्पहीन, पाणिमुख, क्षीरवृक्ष, हेमदुग्ध, हेमदुग्धी, कृमिकण्टक, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक उदुम्बर के गुणहीं व्यक्त कर रहे हैं—

कषायमधुरः शीतो रूक्षो वर्ण्य उदुम्बरः ॥
व्रणापहोऽस्थिसंधानगर्भसन्धानकृद्गुरुः ॥१॥
कफपित्तमतीसारं योनियोगं च हन्ति सः ॥
कषायशीतलं वल्कं गर्भ्यं दुग्धं व्रणापहम् ॥२॥
आमं फलं कषायाम्लं मांसवृद्धिकरं जड़म् ॥
दोषलं रक्तरुक्कारि दीपनं रुचमिष्यते ॥३॥
अतिशीतं फलं पक्वं कषायमधुरं जडम् ॥
कृमिकृत् कफकृद् रुच्यं हन्ति पित्तं प्रनहकम् ॥४॥
रक्तरोगं क्षुधां मूर्च्छां दाहं शोषं श्रमं तृषाम्॥
कोमलं तवतृषां रक्तदोषं पित्तं कफं हरेत ॥५॥

किञ्चित्तु कोमलं स्वादु कषायं शीतलं फलम् ॥
हन्ति भहारजं क्लेशं वान्ति पित्तमसृक्स्रुतिम् ॥६॥

सं०	हिं०	बँ०	म०	गु०	क०	तै०
उदुम्बर.	गूलर	यज्ञडुमुर	उम्बर	उम्बरो	अत्ति	वाडुचेट्ट

अत्र–ब्राह्मणं समाप्तम्

उक्त यज्ञियवृक्षों में से किसी समयप्राप्त एक यज्ञियवृक्ष की जो परिधियाँ लीं जातीं हैं, वे गीलीं होतीं हैं। आर्द्रभाव ही इन का जीवनीय रस है, यही इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति-संग्रह दृष्टि से जहां आर्द्रभाव अभिप्रेत है, वहां आप्याग्नि के अवृगर्भ—स्वरूप की दृष्टि से भी आर्द्र भावही अपेक्षित है। तीनों परिधियाँ उस आप्याग्नित्रयी की प्रतिरूप हैं, जो आपोमय अर्णवसमुद्र में प्रविष्ट हैं। अतः तत्सादृश्येन परिधियाँ आर्द्र हीं लीं जातीं हैं। जिस प्रकार आक्रमण कर्त्ता के आक्रमण को वीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है एवमेव ये परिधियाँ आक्रमणरक्षक बनीं हुई हैं। अतएव लम्बाई में ये बाहुपरिमाण हीं बनाई जातीं हैं ॥१॥

'गन्धर्वस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्खी जाती हैं। प्राकृतिकयज्ञ में तृतीय द्युस्थानीय सोम की (पारमेष्ठ्य आप्यअसुराक्रमण से) रक्षा विश्वावसुप्रमुख, एतन्नामक गन्धर्वप्राण से हो रही है। यहां भी परिधि द्वारा वही रक्षा कर्म्म अभिप्रेत है। अतएव इस परिधिस्थापनलक्षण रक्षाकर्म्म में उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। 'अन्तर्जगद् विज्ञान' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व, जिस में कि यह जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है, अपना विश्व

है। इस की शान्ति में ही यजमान की शान्ति है। इस रक्षाकर्म्म से इसी के लिए इसी के भोग्य विश्व को सुरक्षित रहने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से–'विश्वस्यारिष्ट्यै ०' इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हविर्यज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होते रहते हैं, वे अग्नियुक्त इन्द्रप्राण से रोके जाते हैं৺। एवं भौमदेवव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनुष्यविध असुरों के आक्रमण मनुष्यविध इन्द्र से रोके जाते थे÷। अतएव यहां भी दक्षिण परिधिस्थापन इन्द्र के बाहु की भावना से उसी इन्द्ररक्षक की प्राप्ति की जाती है। 'इन्द्रस्य बाहुरसि ०' इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्य्यार्थ है। ॥ ३ ॥

उत्तरादिक् की ओर से होनें वाले आक्रमण तत्रस्थ मित्रावरुण देवताओं से रोके जाते हैं, जैसा कि–"उदीची दिक्, मित्रावरुणौ देवता" (तै० ब्रा० ३।११ ५।२।) इत्यादि कृष्णश्रुति से प्रमाणित है। उन्हीं रक्षकों की भावना के लिए–"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः ०" इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी परिधि का स्थापन होता है। ॥ ४ ॥

अथ–समिधाभ्याधानोपपत्तिः

अग्निकल्पार्थ पूर्व में गृहीत समिध को आहवनीय में डालना ही समिधाभ्याधान कर्म्म है। समिधाभ्याधान छन्द, तथा ऋतुदेवता के समिन्धन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्–यह समिन्धन छन्द, तथा ऋतुओं का ही किया जाता है। बात यह है कि, आहवनीय अग्नि में आहुत द्रव्य का इसी अग्नि से द्युलोकस्थ देव-

৺–"दक्षिणा दिक्, इन्द्रोदेवता" (शै० ब्रा० ३।११।५।१)।

÷–"अतो ह्येन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्" (श० १।४।५ ३।)।

ताओं में गमन होने वाला है। अग्नि आहुति लेजाने वाले हैं। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द, तथा ऋतुएं हैं। यदि छन्द–ऋतु समिद्ध हैं, तो हव्यवाट् अग्नि भी समिद्ध है। एवं समिद्ध अग्नि ही हव्यवहन कर्म्म में समर्थ है। अतः आहुतिकर्म्म से पहिले छन्द–ऋतु का समिन्धन आवश्यक हो जाता है। समिन्धन होता है– अग्नि के उद्देश्य से, परन्तु लक्ष्य हैं–ऋतु और छन्द। अग्नितत्व सम्वत्सराग्नि त्रयी, पार्थिव गायत्राग्नि भेद से चार भागों में विभक्त बतलाया गया है। तीनों परिधि–निदानेन सम्वत्सराग्नित्रयी के प्रतिरूप हैं, आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है। दोनों के समिन्धन के लिए पहिले समिध का परिधि से स्पर्श कराया जाता है, इस से तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिद्ध होजाती है, अनन्तर समिध आहवनीय में डाली जाती है, इस से इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्धन हो जाता है ॥५॥

'वीतिहोत्रं त्वा०' इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करना है। उधर छन्द गायत्री–प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्धन से इतर सब छन्दों का समिन्धन हो जाता है अतः सर्वछन्द-समिन्धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्रद्वारा गायत्रीछन्द का समिन्धन किया जाता है। समिद्ध गायत्री इतर ६ ओं छन्दों का समिन्धन कर देती है। एवं ये समिद्ध छन्द देवताओं के लिए हव्यवहन करने में समर्थ हो जाते हैं।

तात्पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है–पार्थिव अग्नि में दिव्य तेजोयुक्त अग्नि का समावेश। जबतक पार्थिव अग्नि में दिव्य तेज का आधान नहीं हो जाता, तबतक यह अग्नि न तो हविर्वहनकर्म्म में हीं पूर्ण समर्थ बनता, एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव–अग्निगृहीत हवि का दिव्यप्राणाग्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता, जैसाकि आगे के सामिधेनी–ब्राह्मणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ में सौर सावित्राग्नि द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्धन

गायत्रीछन्द से ही होता है। खगोलीय उत्तरस्थ कर्कवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणस्थ मकरवृत्तान्त क्रमशः जगती त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती अनुष्टुप्, उष्णिक, गायत्री, ये सात देवछन्द प्रतिष्ठित हैं। जगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमापर है, गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उत्तरादिक् सूर्य्यानुगता मानी गई है। अतएव तत्प्रतिरूप उद्गाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है, जैसाकि—'उदीच्युद्गातुः' (शत० १३।५।४।२४) से स्पष्ट है। कर्कवृत्तात्मक उत्तर प्रदेशोपलक्षित उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तेज दक्षिणस्थ गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सम्पूर्ण छन्दों को समिद्ध करदेता है।

अपिच गायत्री अग्नि का है। उधर 'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार सम्पूर्ण देवता अग्नि की ही अवस्था विशेष हैं। फलतः अग्नि के गायत्रीछन्द का सर्वछन्दोमूलत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। गायत्री समिन्धन से तच्छन्दस्क पार्थिव अग्नि दिव्यभाव समावेश से दिव्यदेवताओं के लिए हवि—वहन में समर्थ हो जाता है। गायत्री छन्द ही पार्थिवाग्नि को दिव्याग्निद्वारा समिद्ध करने वाला माध्यम है। अतएव यह छन्दः—समिन्धनकर्म्म आवश्यक हो जाता है। 'वीतिहोत्रं त्वा०' इत्यादि मन्त्रपूर्वक यह समिन्धन कर्म्म होता है। गायत्री द्वारा होने वाले इस समिन्धन से अग्नि हौत्रकर्म में सफल हो जाता है, दिव्य तेजसमावेश से द्युतिमान् बन जाता है, पृथिवी स्थान से हवि लेकर द्युलोकपर्य्यन्त जाताहुआ बृहत् बन जाता है। इसप्रकार मन्त्र ने समिन्धनकर्म्मजनित अतिशयों का ही स्पष्टीकरण किया है ॥६॥

दूसरी समिध से वसन्त का समिन्धन किया जाता है। हौत्रकर्म्म में दीक्षित पार्थिव अग्नि जिस हवि का द्युदेवताओं के साथ सम्बन्ध कराने वाला है, वही हविर्द्रव्य देवात्मा को उत्पन्न करने वाला है। परन्तु जबतक ऋतुप्राण का अग्नि में समावेश नहीं हो जाता, तबतक प्रजनन असम्भव है। 'सम्वत्सराद् ऋतव रेतो आभृतम्' इस कौषीतकिवचन के अनुसार ऋतुएं ही प्रजनन कर्म्म की अधिष्ठात्री

हैं। आध्यात्मिक यज्ञ में भी ऋतुमती—स्त्री ही गर्भाधान योग्या मानी गई है। फलतः हव्यवहन के लिए जहां छन्दःसमिन्धन आवश्यक है, वहां प्रजन के लिए ऋतु—समिन्धन भी आवश्यक बन जाता है। इस द्वितीय समिधाभ्याधान से वसन्त ऋतु का ही समिन्धन होता है। गायत्री-छन्दोवत् वसन्तऋतु इतर ग्रीष्मादि पांचों ऋतुओं का मूलाधार है। फलतः वसन्त समिन्धन से इतर ऋतुओं का समिन्धन होजाता है, समिद्धऋतुओं से अग्नि में ऋतुधर्म्म का समावेश होजाता है। एतद्धर्म्मावच्छिन्न अग्नि दैवात्मप्रजनन में समर्थ हो जाता है। इसी समिन्धनोपपत्ति को लक्ष्य में रखकर—**"ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति०"** इत्यादि कहा गया है, एवं समिधाभ्याधानकर्म्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥७॥

अथ—मन्त्रजपोपपत्तिः

परिधिस्थापन द्वारा तीनों ओर से तो नाष्ट्रा—राक्षसों का आक्रमण रोक दिया गया। अब पूर्व दिशा बाकी बच रहती है। पूर्व दिशा में भगवान् सूर्य्य का साम्राज्य है। सौरतेज से बढ़कर नाष्ट्रा—राक्षसों का नाशक दूसरा नहीं है। आहवनीय के पूर्व भाग में इस रक्षक—दिव्य—प्राण के स्थापन की भावना से इस ओर मुख करके—**"सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिद् भिशस्त्यै०"** इत्यादि मन्त्र का जप किया जाता है ॥८, ९॥

अथ—विधृती—स्थापनोपपत्तिः

'विधृती' उन दो दर्भ तृणों की याज्ञिक संज्ञा है, जिन्हें वेदि पर स्थापित किया जाता है। यह वैधयज्ञ पुरुषविध बतलाया गया है। प्रस्तररूप शिखा का स्थापन होगया, आहवनीयादि रूप से शिरोभागादि इतर शरीरावयवों का स्थापन होगया। अब भौंहें शेष हैं। इनका स्थापन और अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से

विधृती स्थापन होता है। पुरुषयज्ञसंस्था में भौहें वक्र रहतीं हैं, अतः निदानेन तद्रूप विधृती भी तिर्य्यक् ही रक्खीं जातीं हैं। यही तिर्य्यगाधान की एक उपपत्ति है। उसी निदानमर्य्यादा के अनुसार प्रस्तर क्षत्र का प्रतिरूप है, तो इतर बर्हि विट् का प्रतिरूप है। स्वरूपरक्षा के लिए दोनों का नियन्त्रण अपेक्षित है। नियन्त्रण करना मर्य्यादा सूत्र का काम है। मर्य्यादा सूत्र भावतः वक्र है, टेढा है, उस में सरलता नहीं है। वह क्षमा करना नहीं जानता। निदानेन विधृती मर्य्यादा सूत्र का प्रतिरूप है। अतएव इसे तिर्य्यक्-रूप से ही स्थापित किया जाता है। इसी क्षत्र-विट् विधरण कर्म्म से इसे 'विधृती' कहना अन्वर्थ बनता है। विधृती-स्थापन कर्म्म के अनन्तर जो प्रस्तर बिछाया जाता है, उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१०, ११॥

अथ-स्रुक्स्थापनकर्म्मोपपत्तिः

विधृती के ऊपर प्रस्तर स्थापन के अनन्तर वह अध्वर्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए आग्नीध्र नामक ऋत्विक् के हाथ से क्रमशः जुहू, उपभृत्, ध्रुवा नाम के स्रुक्पात्रों को 'घृतच्यसि०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ लेलेकर "सेदं प्रियेण धाम्ना०" इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ इन्हें वेदिपर रखता जाता है। यही स्रुक्ग्रहण-स्थापन कर्म्म है। अनन्तर 'ध्रुवा असदन्०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ स्थापन क्रमानुसार इन सब का स्पर्श करता है। इस ग्रहण-स्थापन-स्पर्श-कर्म्म की कोई विशेष उत्पत्ति नहीं है मन्त्रशब्दार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ विशेष वक्तव्य था, वह मूलानुवाद से ही गतार्थ है॥१२,१३,१४,१५,१६॥

इति-शतपथविज्ञानभाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थे,

तृतीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणं

समाप्तम्।

शतपथब्राह्मण–हिन्दीत्रैमासिक पत्र के नियम

१—यह पत्र वर्ष में चार बार कार्तिक, माघ, वैशाख, श्रावण, की पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—प्रत्येक चतुर्थमासिक अङ्क में २०+२६ अठपेजी साइज के १५० पृष्ठ रहते हैं।

३—पत्र का वार्षिक मूल्य सर्वसाधारण के लिये डाकव्यय सहित ६॥) हैं।

४—इस पत्र में शतपथब्राह्मण, और भाष्यसहित उसका मूलानुवादमात्र प्रकाशित होता है।

५—विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वार्षिक शुल्क मनिऑर्डर द्वारा ही प्राप्त करने का नियम है।

६—पत्रोत्तर के लिए)॥। टिकिट भेजना आवश्यक है। अन्यथा उत्तर में विलम्ब की सम्भावना है।

७—पत्र व्यवहार करते समय ग्राहकों को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य सूचित करना चाहिए।

मनिऑर्डर भेजने, एवं पत्र व्यवहार आदि के लिए एकमात्र पता—

मोतीलालशर्म्मा

विज्ञानमन्दिर भूराटीबा, जयपुर सीटी. (राजपूताना)

शतपथब्राह्मण-हिन्दीविज्ञानभाष्य

(त्रैमासिक पुस्तकरूप से प्रकाशित)

भाष्यकार

वेदवीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः (गौडः)

वर्ष ४	प्रथम ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा सम्वत् १६६६	संख्या ३-४

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशन फण्ड द्वारा प्रकाशित
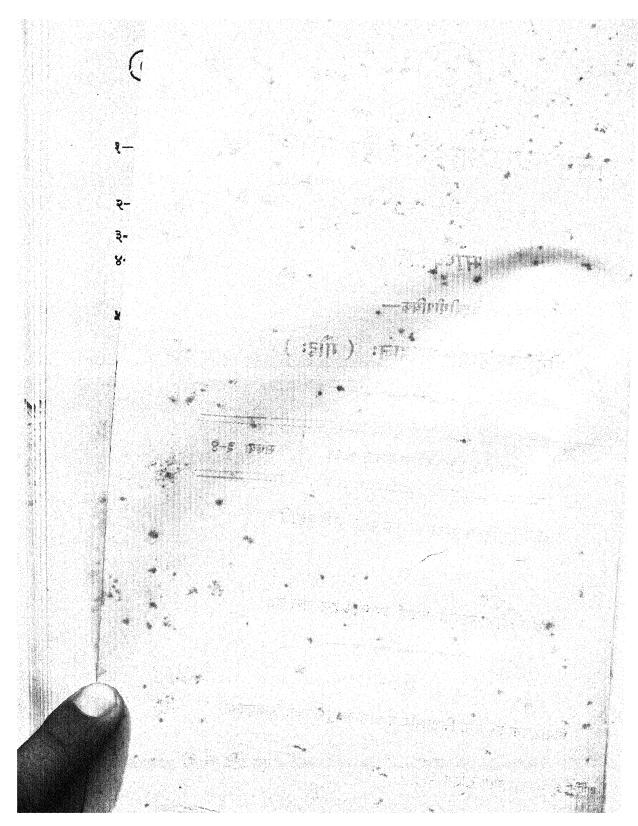
एव

श्रीगौरीलालशर्म्मा-पाठक उपाध्याय द्वारा सम्पादित

मुद्रक—

* ओं तत् सद् ब्रह्मणे नमः *

अथ

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये

दर्शपूर्णमासनिरूपणात्मके प्रथमकाण्डे

तृतीयाध्याये पञ्चमं, चतुर्थाध्याये प्रथमं, द्वितीयं, तृतीयं,

तृतीयप्रपाठके द्वितीयं, तृतीयं, चतुर्थं, पञ्चमं ब्राह्मणम्

चतुर्ब्राह्मणात्मकं-"सामिधेनीब्राह्मणम्"

क-निर्भुजपाठः-(पारायणपाठः)

इन्धे ह वा ऽएतदध्वर्युः । इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्यो नाम ॥ १ ॥

स ऽआह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये ह्येतत् समिध्यमानायान्वाह ॥ २ ॥

तदु हैक ऽआहुः । अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति तदु तथा न ब्रूयादहोता वा ऽएष पुरा भवति यदैवैनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥ ३ ॥

आग्नेयीरन्वाह । स्वयैवैनमेतद्देवतया समिन्धे गायत्रीरन्वाह गायत्रं व्वाऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे व्वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री व्वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे ॥ ४ ॥

एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब् ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुबेताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्याᳲ समिन्धे तस्मादेकादशान्वाह ॥ ५ ॥

स वै त्रिः प्रथमामन्वाह । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात् त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥६॥

ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्रः वीर्यं वज्रो वीर्यमेवैतत्सामिधेनीरभि संपादयति तस्मादेता-स्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेतेदमहममुम-वबाध इति तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥ ७ ॥

पञ्चदश वा अर्द्धमासस्य रात्रयः । अर्धमासशो वै संवत्सरोभवन्नोति तद्रात्रीराप्नोति ॥ ८ ॥

पञ्चदशानामु वै गायत्रीणाम् । त्रीणि च शतानि षष्टि-श्चाक्षराणि त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि तदहान्याप्नोति तदेव संवत्सरमाप्नोति ॥ ९ ॥

सप्तदश सामिधेनीः । इष्ट्या अनुब्रूयादुपाᳲशु तस्यै देवतायै यजति यस्या इष्टिं निर्वपति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्त्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं वै प्रजापतिस्तत्सर्वेणैव तं काममनपराधᳲ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपाᳲशु देवतां यजत्यनिरुक्तं वा उपाᳲशु

सर्वं वा ऽअनिरुक्तं तत्सर्वेणैव तं काममनपराधꣳ राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्येष इष्टेरुपचारः ॥ १० ॥

एकविꣳशतिꣳ सामिधेनीः । अपि दर्शपूर्णमासयो-रनुब्रूयादित्याहुर्द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्त्तवस्त्रयो लोकास्तद्विꣳशतिरेष ऽएवैकविꣳशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तस्मादे-कविꣳशतिमनुब्रूयात् ॥ ११

ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्रेयान्त्स्यान्न पापीयानिति यादृशाय हैव स तेऽन्वाहुस्तादृङ् वा हैव भवति पापीयान्वा यस्यैवं विद्वुष ऽएता ऽअन्वाहुः सो ऽएषा मीमाꣳसैव नु त्वेवैता ऽअनूच्यन्ते ॥ १२ ॥

त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वा ऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकान्त्सन्तनोतीमांल्लोकान्त्स्पृणुते त्रय ऽइमे पुरुषे प्राणा, ऽएतमेवास्मिन्नेतत्सततमव्यवच्छिन्नं दधात्ये-तदनुवचनम् ॥ १३ ॥

स यावदस्य वशः स्यात् । एवमेवानुविवक्तेत्तस्यैतस्य परिचक्षीत साम्यवान्यादनवानन्ननुविवक्तांस्तत्कर्म विवृह्येत सा परिचत्ता ॥ १४ ॥

स यद्येतन्नोदाशꣳसेत । अप्येकैकामेवानवानन्ननुब्रूया-त्तदेकैकयैवेमांल्लोकान्त्सन्तनोत्येकैकयेमांल्लोकान्त्स्पृणुतेऽथ

यत् प्राणं दधाति गायत्री वै प्राणः स यत् कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति तस्मादेकैकामेवानवानन्ननु ब्रूयात ॥ १५ ॥

ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना ऽअन्वाह संवत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि संतनोति तानीमानि संवत्सरस्याहोरात्राणि संततान्यव्यवाच्छिन्नानि परिप्लवन्ते द्विषत ऽउ चैवैतद् भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोत्युपस्थानꣳ ह कुर्याद्यदसन्तता अनुब्रूयात् तस्माद्वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥ १६ ॥ २ ॥

इति—तृतीयप्रपाठके द्वितीयं,
तृतीयाध्याये च पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम
तृतीयोऽध्यायश्च समाप्तः

अथ—चतुर्थाध्याये प्रथमं, तृतीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

हिङ्कृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा ऽआहुर्न्न वा ऽअहिङ्कृत्य साम गीयते स यद्धिङ्करोति तद्धिङ्कारस्य रूपं क्रियते प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छत्योꣳम् ओꣳमित्येतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपि गृह्य नासिके न हिङ्कर्त्तुꣳ शक्नोति व्वाचा

वा ऽऋचमन्वाह व्वाक् चं वै प्राणश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्ता न्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्वै हिङ्कृत्या- न्वाह ॥ २ ॥

स वा ऽउपाꣳशु । हिङ्करोति । अथ यदुच्चैर्हिङ्कुर्यादन्य- तरदेव कुर्याद्वाचमेव तस्मादुपाꣳशु । हिङ्करोति ॥ ३ ॥

स वा ऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं व्वहत्यर्वाची मनु- ष्यानवति तस्माद्वा ऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ४ ॥

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राण एत्युदानः प्राणोदानावेवैतद्दधाति तस्माद्वा ऽएति च प्रेति चान्वाह ।५।

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सिच्यत ऽएति प्रजायते प्रेति पशवो व्वितिष्ठन्त ऽएति समावर्त्तन्ते सर्वं वा ऽइदमेति च प्रेति च तस्माद्वा ऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ६ ॥

सोऽन्वाह । प्र वो व्वाजा अभिद्यव ऽइति तन्नु प्रेति भवत्यग्न ऽआयाहि व्वीतय ऽइति तद्वेति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक ऽआहुः । उभयं वा ऽएतत्प्रेति संपद्यत ऽइति तदु तदातिविज्ञान्यमिव प्र वो व्वाजा अभिद्यव ऽइति तन्नु प्रेत्यग्न ऽआयाहि व्वीतय ऽइति तद्वेति ॥ ८ ॥

सोऽन्वाह । प्र वो वाजा ऽअभिद्यव ऽइति तन्नु प्रेति भवति वाजा इत्यन्नं वै वाजा अन्नमेवैतदभ्यनूक्तमभिद्यव ऽइत्यर्धमासा वा ऽअभिद्यवोऽर्धमासानेवैतदभ्यनूक्तꣳ हविष्मन्त ऽइति पशवो वै हविष्मन्तः पशूनेवैतदभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

घृताच्येति । विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याता ऽइति ॥ १० ॥

तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे । वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे विदेघेति ॥ ११ ॥

स न प्रतिशुश्राव । उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते तव ज्योतीꣳष्यर्चयो विदेघा३ ऽइति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिशुश्राव । तन्त्वा घृतस्नवीमह ऽइत्येवाभिव्याहरदथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल तन्न शशाक धारयितुꣳ सोऽस्य मुखान्निष्पेदे स इमां पृथिवीं प्रपाद ॥ १३ ॥

तर्हि विदेघो माथव आस । सरस्वत्याꣳ स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः स इमाः सर्वा नदीरतिददाह

सदानीरेत्युत्तराद्गिरेर्निर्धावति ताᳬं हैव नातिददाह ताᳬं ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि । प्राचीनं बहवो ब्राह्मणास्तद्ध क्षेत्रतरमिवास स्रावितरमिव स्वदितमग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि । क्षेत्रतरामिव ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन्त्सापि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावच्छीतानतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच । विदेघो माथवः क्वाहं भवानीत्यत एव ते प्राचीनं भवनमिति होवाच सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा ते हि माथवाः ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहूगणः कथं नु न ऽआमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति स होवाचाग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्स नेन्मे मुखान्निष्पद्याता इति तस्मात्ते न प्रत्यश्रौषमिति ॥१८॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं घृतस्नवीमहे ऽइत्यभिव्याहार्षीस्तदेव मे घृतकीर्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्तं नाशकं धारयितुᳬं स मे मुखान्निरपादीति ॥१९॥

स यत् सामिधेनीषु घृतवत् । सामिधेनमेव तत्समेवैनं तेनेन्धे वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति ॥२०॥

तदु घृताच्येति । देवाञ् जिगाति सुम्नयुरिति यजमानो वै सुम्नयुः स हि देवाञ्जिगीषति स हि देवाञ् जिघांसति तस्मादाह देवाञ् जिगाति सुम्नयुरिति सैषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता सर्वं वा ऽअनिरुक्तꣳ सर्वेणैवैतत् प्रतिपद्यते ॥२१॥

अग्न ऽआ याहि वीतय ऽइति । तद्धेति भवति वीतय ऽइति समन्तिकमिव ह वा ऽइमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥

ते देवा अकामयन्त । कथन्नु न इमे लोका वितराꣳस्युः कथन्न इदं वरीय इव स्यादिति तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्वीतय ऽइति त ऽइमे विदूरं लोकास्ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवद्वरीयो ह वा ऽअस्मै भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुर्वीतय ऽइति ॥२३॥

गृणानो हव्यदातय ऽइति । यजमानो वै हव्यदातिर्गृणानो यजमानायेत्येवैतदाह नि होता सत्सि बर्हिषीत्यग्निर्वै होतायं लोको बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः सैषेममेव लोकमभ्यनूक्तेममेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२४॥

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिर ऽइति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर—ऽइत्यङ्गिरा उ ह्यग्निर्घृतेन वर्द्धयामसीति

तत्सामिधेनं पदंꣳ समेवैनं तेनेन्धे वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति ॥२५॥

बृहच्छोचा यविष्ठ्येति । बृहद्ध्येष शोचति समिद्धो यविष्ठ्येति युविष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाह यविष्ठ्येति सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षलोकमेव तस्मादाग्नेयीसत्यनिरुक्ता-निरुक्तो ह्येष लोक एतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विद्वुष एतामन्वाहुः ॥२६॥

स नः पृथु श्रवाय्यमिति । अदो वै पृथु यस्मिन्न देवा एतच्छ्रवाय्यं यस्मिन् देवा अच्छा देव विवाससीत्यच्छ देव विवासस्येतन्नो गमयेत्येवैतदाह ॥२७॥

बृहदग्ने सुवीर्यमिति । अदो वै बृहद्यस्मिन् देवा एत-त्सुवीर्यं यस्मिन् देवाः सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्ता दिवमेवैतमेवै-तया लोकं जयति यस्यैवं विद्वुष एतामन्वाहुः ॥२८॥

सोऽन्वाह । ईडेन्यो नमस्य इतीडेन्यो ह्येष नमस्यो ह्येष तिरस्तस्माꣳसे दर्शत इति तिर इव ह्येष तमाꣳसि समिद्धो ददृशे समग्निरिध्यते वृषेति सꣳहीध्यते वृषा वृषो ऽअग्निः समिध्यत ऽइति सꣳ हीध्यते ॥२९॥

अश्वो न देववाहन इति । अश्वो ह वा ऽएष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति यद्वै नेत्यृच्योमिति तत्तस्मादाहाश्वो न देववाहन इति ॥ ३० ॥

तꣳ हविष्मन्त ईडत ऽइति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते तस्मादाह तꣳ हविष्मन्त ईडत इति ॥ २१ ॥

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहीति । सꣳ ह्येनमिन्धतेऽग्ने दीद्यतं बृहादिति दीदयेव ह्येष बृहत् समिद्धः ।२२।

तं वा एतम् । वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाहाग्नेय्यो वा ऽएताः सर्वाः सामिधेन्यो भवन्तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेन्द्रो वृषैतेनो हास्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति तस्माद्वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह ॥ २३ ॥

सोऽन्वाह । अग्निं दूतं वृणीमह ऽइति देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तान्त्स्पर्द्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवीयꣳ हैव तदन्तरा तस्थौ त ऽउभय ऽएव विदाञ्चक्रुर्यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति परेतरे भविष्यन्तीति तामुभय ऽएवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरेऽग्निरेव देवानां दूत आस सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाꣳ साग्निमेवानुप्रेयाय तस्मादन्वाहाग्निं दूतं वृणीमह ऽइति स हि देवानां दूत आसीद्धोतारं विश्ववेदसमिति ॥ ३४ ॥

तदु हैकेऽन्वाहुः । होता यो विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषꣳ ह ते यज्ञे

कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यथैवऽर्चानूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमित्येवास्य यज्ञस्य सुक्रतुमित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादाहास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपावावर्त्त ततो देवा अभवन् परासुरा भवति ह वा ऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ ३५ ॥

तां वा ऽअष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वा ऽएषा निदानेनाष्टाक्षरा वै गायत्री तस्मादष्टमीमनुब्रूयात् ॥ ३६ ॥

तद्धैके । पुरस्ताद्धाय्ये दधत्यन्नं धाय्ये मुखत ऽइदमन्नाद्यं दध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यादनवक्लृप्ता ह तस्यैषा भवति यः पुरस्ताद्धाय्ये दधाति दशमी वा हि तर्ह्येकादशी वा सम्पद्यते तस्यो हैवैषावक्लृप्ता भवति यस्यैतामष्टमीमन्वाहुस्तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

समिध्यमानो ऽअध्वर ऽइति । अध्वरो वै यज्ञः समिध्यमानो यज्ञ ऽइत्येवैतदाहाग्निः पावक ईड्य इति पावको ह्येष ईड्यो ह्येष शोचिष्केशस्तमीमह ऽइति शोचन्तीव ह्येतस्य केशाः समिद्धस्य समिद्धो ऽअग्न ऽआहुतेत्यतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधो ऽपवृक्ण ऽइव ह्येतद्धोता यद्वा ऽअन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यते ऽतिरिक्तं तद्यद्वै यज्ञस्या

तिरिक्तं द्विषन्तꣳ हास्य तद्भ्रातृव्यमभ्यातिरिच्यते तस्माद्दतः प्राचीनꣳ सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधः ॥ ३८ ॥

देवान्याक्षि स्वध्वरेति । अध्वरो वै यज्ञो देवान्यक्षि सुयज्ञियेत्येवैतदाह त्वꣳ हि हव्यवाडसीत्येष हि हव्यवाड् यदग्नि स्तस्मादाह त्वꣳ हि हव्यवाडसीत्याजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति सम्प्रेष्यत्येवैतया जुहुत च यजत च यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत् कुरुतेत्येवैतदाहाग्निं प्रयत्यध्वर ऽइत्यध्वरो वै यज्ञोऽग्निं प्रयाति यज्ञ ऽइत्येवेतदाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमित्येष हि हव्यवाहनो यदाग्निस्तस्मादाह वृणीध्वꣳ हव्यवाहनमिति ॥ ३९ ॥

तं वा ऽएतम् । अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान्त्सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुस्ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरोनाम दुधूर्षन् ह वा ऽएनꣳ सपत्नः पराभवति यस्यैवं विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुर्यावद्वेव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति ॥ ४० ॥ ३ ॥

इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं, चतुर्थाध्याये च प्रथमं ब्राह्मणम्

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयं, तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन् । यद्धोतृत्व ऽइदन्नो हव्यं वहेति तमेतद्ग गरिष्ठे युक्त्वोपामदन्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं

वै त्वमेतस्मा ऽअसीति व्वीर्यं समादधतो यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठं युञ्जन्ति तमुपमदन्ति व्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्मा ऽअसीति व्वीर्यं समादधतः स यदत ऊर्ध्वमन्वाहोपस्तौत्येवैनमेतद्वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥१॥

अग्ने महाँ२॥ ऽअसि ब्राह्मण भारतेति । ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा ऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्माद्वेवाह भारतेति ॥२॥

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ३

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्व्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायस्पतय ऽउ चैवैतं निन्हुत ऽइदᳪ हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्व्वाक् प्रवृणीते ॥४॥

स ऽआर्षेयमुक्त्वाह । देवेद्धो मन्विद्ध ऽइति देवा ह्येतमग्रे ऽइन्धत तस्मादाह देवेद्ध ऽइति मनुर्ह्येतमग्र ऽइन्ध तस्मादाह मन्विद्ध ऽइति ॥५॥

ऋषिष्टुत ऽइति । ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवंस्तस्मादाहऽर्षिष्टुत ऽइति ॥६॥

विप्रानुमदित ऽइति । एते वै विप्रा यदृषय ऽएते ह्येतमन्वमदंस्तस्मादाह विप्रानुमदित ऽइति ॥७॥

कविशस्त ऽइति । एते वै कवयो यदृषय ऽएते ह्येतमशꣳसंस्तस्मादाह कविशस्त ऽइति ॥८॥

ब्रह्मसꣳशित ऽइति । ब्रह्मसꣳशितो ह्येष घृताहवन ऽइति घृताहवनो ह्येषः ॥९॥

प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणामिति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान् प्रणयन्ति ये च पाकयज्ञा ये चेतरे तस्मादाह प्रणीर्यज्ञानामिति ॥१०॥

रथीरध्वराणामिति । रथो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तस्मादाह रथीरध्वराणामिति ॥११॥

अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाडिति । न ह्येतꣳ रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाहातूर्त्तो होतेति तूर्णिर्हव्यवाडिति । सर्वꣳ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥१२॥

आस्पात्रं जुहूर्देवानामिति । देवपात्रं वा ऽएष यदग्निस्तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति देवपात्रꣳ ह्येष आप्नोति ह वै तस्य पात्रं यस्य पात्रं प्रेप्सति य एवमेतद्वेद ॥१३॥

चमसो देवपान ऽइति । चमसेन ह वा ऽएतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपान ऽइति ॥१४॥

अरां २॥ ऽइवाग्ने नेमिर्द्देवांस्त्वं परिभूरसीति । यथाराम्नेमिः सर्वतः परिभूरेवन्त्वं देवान्त्सर्व्वतः परिभरसीत्येवैतदाह १५॥

आवह देवान्यजमानायेति । तदस्मै यज्ञाय देवाना-वोढवा ऽआहाग्निमग्न ऽआवहेति तदाग्नेयायाज्यभागाया-ग्निमावोढवा ऽआह सोममावहेति तत्सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवा ऽआहाग्निमावहेति तद्य ऽएष ऽउभयत्राच्युत ऽआग्नेयः पुरोडाशो भवति तस्मा ऽअग्निमावोढवा ऽआह ॥१६॥

अथ यथादेवतम् । देवां २॥ ऽआज्यपां २॥ ऽआवहेति तत्प्रयाजानुयानावोढवा ऽआह प्रयाजानुयाजा वै देवा ऽआ-ज्यपा ऽअग्निंॐ होत्रायावहेति तदग्निंॐ होत्रायावोढवा ऽआह स्वं महिमानमावहेति तत्स्वं महिमानमावोढवा ऽआह ॐवाग्वा ऽअस्य स्वो महिमा तद्वाचमावोढवा ऽआहा च ॐवह जातवेदः सुयजा च यजेति तद्या ऽएवैतद्देवता ऽआवोढवा ऽआह ता ऽएवै दाहा चैना वहानुष्ठ्या च यजेति यदाह सुयजा च यजेति ॥१७॥

स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह ह्येतदसौ ह्यनुवाक्या तदसावेवैतद्भूत्वान्वाह तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥१८॥

आसीनो याज्यां यजति । इयᳬ हि याज्या तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीयᳬ हि याज्या तदियमेवैतद्भूत्वा यजति तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥१९॥

इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं, चतुर्थाध्याये च
द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयं, तृतीयप्रपाठके च
पञ्चमं ब्राह्मणम्

यो ह वा ऽअग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः । अतितराᳩ ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥१॥

स यथा हैवाग्निः । सामिधेनीभिः समिद्धस्तपत्येवᳩ हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः ॥२॥

सोऽन्वाह । प्र व ऽइति प्राणो वै प्रवान् प्राणमेवैतया समिन्धेऽग्न ऽआयाहि वीतय ऽइत्यपानो वा ऽएतवानपानमेवैतया समिन्धे बृहच्छोचा यविष्ठ्येत्युदानो वै बृहच्छोचा ऽउदानमेवैतया समिन्धे ॥३॥

स नः पृथु श्रवाय्यमिति । श्रोत्रं वै पृथु श्रवाय्यꣳ श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति श्रोत्रमेवैतया समिन्धे ॥४॥

ईडेन्यो नमस्य ऽइति । वाग्वा ईडेन्या वाग्घीदꣳ सर्वमीट्टे वाचेदꣳ सर्वमीडितं वाचमेवैतया समिन्धे ॥५॥

अश्वो न देववाहन ऽइति । मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन ऽएवैतया समिन्धे ॥६॥

अग्ने दीद्यतं बृहदिति । चक्षुर्वै दीदयेव चक्षुरेवैतया समिन्धे ॥७॥

अग्निन्दूतं वृणीमह ऽइति । य एवायं मध्यमः प्राण ऽएतमेवैतया समिन्धे स हैषान्तस्थः प्राणानामतो ह्यन्य ऽऊर्द्ध्वाः प्राणा ऽअतोऽन्येऽवाञ्चोऽन्तस्थो ह भवत्यन्तस्थमेनं मन्यन्ते य एवमेतमन्तस्थं प्राणानां वेद ॥८॥

शोचिष्केशस्तमीमह ऽइति । शिश्नं वै शोचिष्केशꣳ शिश्नꣳ हीदꣳ शिश्निनं भूयिष्ठꣳ शोचयति शिश्नमेवैतया समिन्धे ॥९॥

समिद्धो ऽअग्न ऽआहुतेति । य ऽएवायमवाङ् प्राण एतमेवैतया समिन्ध ऽआजुहोता दुवस्यतेति सर्वमात्मानꣳ समिन्ध ऽआ नखेभ्योऽथो लोमभ्यः ॥१०॥

स यद्येनं प्रथमायाᳪं सामिधेन्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात् प्राणं त्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः प्राणेनात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥११॥

यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादपानं त्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावधा अपानेनात्मन ऽआर्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१२॥

यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत् । तं प्रतिब्रूयादुदानं त्वाऽएतदात्मनोऽग्नावाधा उदानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१३॥

यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयाच्छ्रोत्रं त्वा ऽएतदात्मनोऽ नावाधाः श्रोत्रेणात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१४॥

यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयाद्वाचं त्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधा वाचात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यसि मूको भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१५॥

यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत । तं प्रतिब्रूयान्मनो त्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधा मनसात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१६॥

यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रतिब्रूयाच्चक्षुर्व्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधाश्चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१७॥

यद्यष्टम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयान्मध्यं व्वा ऽएतत् प्राणमात्मनोऽग्नावाधा मध्येन प्राणेनात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यस्युदूध्माय मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१८॥

यदि नवम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रतिब्रूयाच्छिश्नं व्वा ऽएतदात्मनोऽग्नावाधाः शिश्नेनात्मन ऽआर्त्तिमारिष्यासि क्लीबो भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥१९॥

यदि दशम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादवाञ्चं वा ऽएतत् प्राणमात्मनोऽग्नावाधा ऽअवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२०॥

यद्येकादश्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात् सर्व्वं व्वा ऽएतदात्मानमग्नावाधाः सर्व्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यासि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥२१॥

स यथा हैवाग्निꣳ। सामिधेनीभिः समिद्धमापद्यार्त्तिं न्येत्येवꣳ हैव ब्राह्मणꣳ सामिधेनीर्विद्वाꣳसमनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्त्तिं न्येति ॥२२॥

इति–निर्भुजपाठः

—क—

इति–तृतीयाध्याये पञ्चमं, चतुर्थाध्याये प्रथमं, द्वितीयं, तृतीयं, तृतीय प्रपाठके च द्वितीयं, तृतीयं, चतुर्थं, पञ्चमं ब्राह्मणम्
(१।३।५,–१।४।१,२,३,)—(१।३।२,३,४,५,)

ख–प्रतृराणपाठः–(अर्थावबोधानुगतः)—

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमं, तृतीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ सामिधेन्यनुवचनम्

इन्धे ह वा एतदध्वर्युरिध्मेनाग्निम्–तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता, तस्मात् सामिधेन्यो नाम॥ स आह–"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इति॥ अग्नये ह्येतत् समिध्यमानायान्वाह॥ तदु हैक आहुः–'अग्नये समिध्यमानाय-होतरनुब्रूहि' इति। तदु तथा न ब्रूयात्। अहोता वा एष पुरा भवति। यदैवैनं प्रवृणीते–अथ होता। तस्मादु ब्रूयात्–'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्येव॥ आग्नेयीरन्वाह। स्वयैवैनमेतद्देवतया समिन्धे। गायत्रीरन्वाह। गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः। स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे। वीर्यं गायत्री, ब्रह्म गायत्री। वीर्येणैवैनमेतत् समिन्धे॥ एकादशान्वाह। एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। ब्रह्म-

गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप्। एताभ्यामेवैतदुभाभ्यां वीर्य्याभ्यां समिन्धे—तस्मादेकादशान्वाह ॥

स वै त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्। त्रिवृत्-प्रायणा हि यज्ञाः, त्रिवृदुदयनाः। तस्मात् त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम् ॥ ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते। पञ्चदशो वै वज्रः, वीर्य्यं वज्रः। वीर्य्यमेवैतत्सामिधेनीरभिसम्पादयति। तस्मादेतास्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्यामवबाधते—'इदमहममुमवबाधे" इति। तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥ पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः। अर्धमासशो वै सम्वत्सरो भवन्नेति, तद्रात्रीराप्नोति ॥ पञ्चदशानामु वै गायत्रीणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि। त्रीणि च शतानि षष्टिश्च सम्वत्सरस्याहानि। तदाहान्याप्नोति, तद्वेव सम्वत्सरमाप्नोति ॥ सप्तदश सामिधेनीरिष्ट्या अनुब्रूयात्। उपांशु तस्यै देवतायै यजति, यस्या इष्टिं निर्वपति। द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य, पञ्चर्त्तवः। एष एव प्रजापतिः सप्तदशः। सर्वं वै प्रजापतिः। तत् सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति—यस्मै कामायेष्टिं निर्वपति। उपांशु देवतां यजति। अनिरुक्तं वा उपांशु। सर्वं वा अनिरुक्तम्। तत् सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति—यस्मै कामायेष्टिं निर्वपति। एष इष्टेरुपचारः ॥

'एकविंशतिं सामिधेनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयात्'—इत्याहुः। द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य, पञ्चर्त्तवः, त्रयो लोकाः,—तद्विंशतिः। एष एवैकविंशः, य एष तपति। सैषा गतिः, एषा प्रतिष्ठा। तदेतां गतिं, एतां प्रतिष्ठां गच्छति। तस्मादेकविंशतिमनुब्रूयात् ॥ ता हैना गतश्रेरेवानुब्रूयात्। य इच्छेत्—न श्रेयान् स्यात्, न पापीयान्, इति। यादृशाय हैव स ते ऽन्वाहुः—तादृङ् वा हैव भवति, पापीयान्वा,—यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः। सो एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनूच्यन्ते ॥

त्रिरेव प्रथमां, त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वा इमे लोकाः । तदिमानेवैतल्लोकान् सन्तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय इमे पुरुषे प्राणाः । एतमेवास्मिन्नेतत् सन्ततमव्यवच्छिन्नं दधाति । एतदनुवचनम् ॥ स यावदस्य वशः स्यात्-एवमेवानुविवर्त्तेत् । तस्यैतस्य परिचक्षा, उत साभ्यवान्याद्, अनवानन्ननुविवर्त्तँस्तत्कर्म्म विवृह्येत । सा परिचक्षा ॥ स यद्येतन्नोदाशंसेत-अप्येकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात् । तदेकैकयैवेमाँल्लोकान् सन्तनोति । एकैकये-माँल्लोकान् स्पृणुते । अथ यत् प्राणं दधाति-गायत्री वै प्राणः, स यत् कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह-तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति । तस्मादेकैकामेवानवानन्ननु-ब्रूयात् ॥ ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । सम्वत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि सन्तनोति । तानीमानि सम्वत्सरस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते । द्विषत उ चैवैतद् भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोति । उपस्थानं ह कुर्य्यात्-यदसन्तता अनुब्रूयात् । तस्माद्वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥

इति—तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् (१।३।२।) ।

तृतीयाध्याये च पञ्चमं ब्राह्मणम् (१।३।५।) ।

तृतीयोऽध्यायश्च समाप्तः

३

अथ—चतुर्थाध्याये प्रथमं, तृतीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

हिङ्कृसान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा आहुः । न वा अहिङ्कृत्य साम गीयते । स यत्-हिङ्करोति, तत्-हिङ्कारस्य रूपं क्रियते । प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छति-ओ३म्, ओ३म्-इति । एतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥ यद्वेव हिङ्करोति-प्राणो वै हिङ्कारः । प्राणो हि वै

हिङ्कारः, तस्मात्—अपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुंशक्नोति। वाचा वा ऋचमन्वाह। वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्। तदेतत् पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनाम्। तस्माद्वै हिङ्कृत्यान्वाह॥ स वा उपांशु हिङ्करोति। अथ यदुच्चैर्हिङ्कुर्य्यात्, अन्यतरदेव कुर्य्यात्, वाचमेव। तस्मादुपांशु हिङ्करोति॥

स वा एति च प्रेति चान्वाह। गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति। पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति। तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह॥ यद्वेव एति च प्रेति चान्वाह—प्रेति वै प्राणः, एत्युदानः। प्राणोदानावेवैतद्दधाति। तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह॥ यद्वेव—एति च प्रेति चान्वाह—प्रेति वै रेतः सिच्यते, एति प्रजायते। प्रेति पशवो वितिष्ठन्ते, एति समावर्त्तन्ते। सर्वं वा इदं—एति—च, प्रेति च। तस्माद्वा एति च प्रति चान्वाह॥

सोऽन्वाह—"* प्र वो वाजा अभिद्यवः" इति। तन्नु 'प्रेति' भवति। "× अग्न आयाहि वीतये" इति। तदु 'एति' भवति। तदु हैक आहुः—'ऊभयं वा एतत् प्रेति सम्पद्यते'—इति। तदु तदातिविज्ञान्यमिव। 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इति—तन्नु 'प्रेति'। 'अग्न आयाहि वीतये' इति—तदु 'एति'॥ सोऽन्वाह—'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इति—तन्नु 'प्रेति' भवति। 'वाजाः' इति। अन्नं वै वाजाः, अन्नमेवैतदभ्यनूक्तम्। 'अभिद्यवः' इति। अर्धमासा वा अभिद्यवः, अर्धमासानेवैतदभ्यनूक्तम्। 'हविष्मन्तः' इति। पशवो वै हविष्मन्तः, पशूनेवैतदभ्यनूक्तम्॥

---

* "प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।" (तै० ब्रा० ३।५।१)। (सैषा प्रथमा सामिधेनी ऋक्)।

+—"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि" (तै० ब्रा० ३।५।१)। (सैषा द्वितीया सामिधेनी ऋक्)।

'घृताच्या' इति—

"विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार । तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस । तस्मै ह स्म आमन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति—'नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्यातै' इति ॥ तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे—"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे—विदेघ" इति ॥ स न प्रतिशुश्राव । "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयो—विदेघा ३" इति ॥ स ह नैव प्रतिशुश्राव । "तन्त्वा घृतस्नवीमहे" इत्येवाभिव्याहरत्,—अथास्य घृतकीर्त्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल । तं न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्निष्पेदे । स इमां पृथिवीं प्रापाद ॥ तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दहन्नभीयाय—इमां पृथिवीम् । तं गोतमश्च राहूगणः, विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः । स इमाः सर्वा नदीरतिददाह । 'सदानीरा' इत्युत्तराद् गिरेर्निर्द्धावति, तां हैव नातिददाह । तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेण—इति ॥ तत एतर्हि प्राचीनं बहवो ब्राह्मणाः । तद्ध—अक्षेत्रतरमिवास, स्रावितरमिव,—अस्वदितमग्निना वैश्वानरेण—इति ॥ तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेतद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि जघन्ये नैदाघे समिवेव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ स होवाच विदेघो माथवः—'क्वाहं भवानि' इति । अतएव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच । सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्य्यादा । ते हि माथवाः ॥ अथ होवाच गोतमो राहूगणः—'कथन्नु न आमन्त्र्यमाणो प्रत्यश्रौषीः' इति । स होवाच—"अग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेन्मे मुखान्निष्पद्यातै,'—तस्मात्ते न प्रत्यश्रौषम्" इति । तदु कथमभूत्—इति । "यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, तदेव मे घृतकीर्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्, तन्नाशकं धारयितुं, स मे मुखान्निरपादि" इति ॥" स यत् सामिधेनीषु घृतवत्, सामिधेनमेव

तत्। समेवैनं तेनेन्धे, वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति ॥ तदु-'घृताच्या' इति। "देवाञ्जिगाति सुम्नयुः" इति। यजमानो वा सुम्नयुः, स हि देवान् जिगीषति, स हि देवान् जिगांसति। तस्मादाह-'देवाञ्जिगाति सुम्नयुः' इति। सैषा आग्नेयी सती अनिरुक्ता। सर्वं वा अनिरुक्तम्। सर्वेणैवैतत् प्रतिपद्यते ॥

"अग्न आयाहि वीतये" इति। तदु-'एति' भवति। 'वीतये' इति। समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः, 'इत्युन्मृश्या' हैव द्यौरास। ते देवा अकामयन्त-'कथन्नु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यात्'-इति। तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्-'वी-त-ये' इति। त इमे विदूरं लोकाः, ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत्। वरीयो ह वा अस्मै भवति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः-'वीतये' इति ॥ "गृणानो हव्यदातये" इति। यजमानो वै हव्यदातिः। 'गृणानो यजमानाय' इत्येवैतदाह। "नि होता सत्सि बर्हिषि" इति। अग्निर्वै होता, अयं लोको बर्हिः। अस्मिन्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति। सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः। सैषा-इममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥

"*तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः" इति। समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत। 'अङ्गिरः' इति। अङ्गिरा उ ह्यग्निः। "घृतेन वर्द्धयामसि" इति। तत् सामिधेनं पदम्। समेवैनं तेनेन्धे, वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति ॥ 'बृहच्छोचा यविष्ठय' इति। बृहदु ह्येष शोचति समिद्धः। 'यविष्ठ्य' इति। यविष्ठो ह्यग्निः, तस्मादाह 'यविष्ठय' इति। सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव। तस्मादाग्नेयी सती-अनिरुक्ता। अनिरुक्तो ह्येष लोकः। एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥

*-"तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठय" (तै० ब्रा० ३।५।१) (सैषा तृतीया सामिधेनी ऋक्)।

"*स नः पृथु श्रवाय्यम्" इति। अदो वै पृथु—यस्मिन् देवाः। एतत् श्रवाय्यम्—यस्मिन् देवाः। "अच्छा देव विवाससि" इति। अच्छा देव विवाससि, एतन्नो गमय, इत्येवैतदाह॥ "बृहदग्ने सुवीर्य्यम्" इति। अदो वै-बृहत्—यस्मिन् देवाः, एतत् सुवीर्य्यम्—यस्मिन् देवाः। सैषा एतमेव लोकम-भ्यनूक्ता—दिवमेव। एतमेवैतया लोकं जयति—यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः॥

सो ऽन्वाह—"ℬईडेन्यो नमस्यः" इति। ईडेन्यो ह्येषः, नमस्यो ह्येषः। "तिरस्तमांसि दर्शतः" इति। तिर इव ह्येषस्तमांसि समिद्धो ददृशे। "समग्निरिध्यते वृषा" इति। संहीध्यते वृषा। "वृषो अग्निः समिध्यते" इति। सं हीध्यते॥ "अश्वो न देववाहनः" इति। अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति। यद्वै 'नेति' ऋचि,—'ओम्' इति तत्। तस्मादाह—अश्वो न देव-वाहनः' इति॥ "तं हविष्मन्त ईडते" इति। हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते। तस्मादाह—'तं हविष्मन्त ईडते' इति (२)॥ 'वृषणं त्वा वयं वृषाणः समिधीमहि" इति। संह्येनमिन्धते। "अग्नेदीद्यन्तं बृहत्" इति। दीदयेव ह्येष बृहत् समिद्धः (३)॥

तं वा एतं वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह। आग्नेय्यो वा एताः सर्वाः सामिधेन्यो भवन्ति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, इन्द्रो वृषा। एतेन उ ह अस्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति। तस्माद्वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह॥

---

*—"स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्य्यम्" (तै० ब्रा० ३।५।२)। (सैषा चतुर्थी सामिधेनी ऋक्)।

ℬ—"ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा (१)"—"वृषो अग्निःसमिद्ध्यते अश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते (२)"—वृषणं त्वा वयं वृषन्-वृषाणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यन्तं बृहत् (३)" (तै० ब्रा० ३।५।२-३)। (तदिदं वृषण्वन्तं-त्रिचम्)।

सोऽन्वाह—*"अग्निं दूतं वृणीमहे" इति। देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान् गायत्री-अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ। त उभय एव विदाञ्चक्रुः-'यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति, ते भविष्यन्ति,-'परेतरे भविष्यन्ति' इति। तामुभय एव उपमन्त्रयाञ्चक्रिरे। अग्निरेव देवानां दूत आस, 'सहरक्षा' इत्यसुररक्षसमसुराणाम्। सा-अग्निमेवानुप्रेयाय। तस्मादन्वाह-'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति। स हि देवानां दूत आसीत्। "होतारं विश्ववेदसम्" इति॥ तदु हैकेऽन्वाहुः-'होता यो-विश्ववेदसः' इति-'नेत्-'अरम्' इत्यात्मानं ब्रवाणि-' इति। तदु तथा न ब्रूयात्। 'मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य-यन्मानुषम्, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणि' इति। तस्माद्यथैवर्चाऽनूक्तम्, एवमेवानुब्रूयात्-'होतारं विश्ववेदसम्' इत्येव। "अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्" इति। एष हि यज्ञस्य सुक्रतुः-यदग्निः। तस्मादाह-'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' इति। सेयं देवानुपावर्त्तत, ततो देवा अभवन्, पराऽसुराः। भवति ह वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भवन्ति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः॥ तां वा अष्टमीमनुब्रूयात्। गायत्री वा एषा निदानेन। अष्टाक्षरा वै गायत्री। तस्मात् अष्टमीमनुब्रूयात्॥

तद्धैके पुरस्ताद् धाय्ये दधति-'अन्नं धाय्ये, मुखत इदमन्नाद्यं दध्मः' इति वदन्तः। तदु तथा न कुर्यात्। अनवक्लृप्ता ह तस्यैषा भवति-यः पुरस्ताद् धाय्ये दधति। दशमी वा हि तर्हि, एकादशी वा सम्पद्यते। तस्य उ ह एवैषा अवक्लृप्ता भवति-यस्यैतामष्टमीमन्वाहुः। तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात्॥

*—"अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्" (तै० ब्रा० ३।५।३)।

"÷ समिध्यमानो अध्वरे" इति । अध्वरो वै यज्ञः । 'समिध्यमानो यज्ञे' इत्येवैतदाह । "अग्निः पावक ईड्यः" इति । पावको ह्येषः, ईड्यो ह्येषः । "शोचिष्केशस्तमीमहे" (१) इति । शोचन्तीव हि एतस्य केशाः समिद्धस्य । "समिद्धो अग्न आहुत" इति । अतः प्राचीनं सर्वमिध्ममभ्यादध्यात्–यदन्यत् समिधः । अपद्रङ्क इव ह्येतद् होता । यद्वा अन्यत् समिध इध्मस्यातिरिच्यते–अतिरिक्तं तत् । यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं–द्विषन्तं हास्य तद् भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते । तस्माद् अतः प्राचीनं सर्वमिध्ममभ्यादध्यात्–यदन्यत्समिधः ॥ 'देवान् यक्षिस्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । 'देवान् यक्षि सुयज्ञिय' इत्येवैतदाह । "त्वं हि हव्यवाडसि" इति । एष हि हव्यवाट्, यदग्निः । तस्मादाह–'त्वं हि हव्यवाडसि' इति (२) । "आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इति । सम्प्रेष्यत्येवैतया–'आजुहुत च, यजत च, यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं, तत्कुरुत' इत्येवैतदाह । "अग्निं प्रयत्यध्वरे" इति । अध्वरो वै यज्ञः । 'अग्नि प्रयति यज्ञे' इत्येवैतदाह । "वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इति । एष हि हव्यवाहनः–यदग्निः । तस्मादाह–'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इति ॥ (३) ।

तं वा एतं अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह । देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुः । ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्षितुम्, ते पराबभूवुः । तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम । दुधूर्षन् ह वा एनं सपत्नः पराभवति

÷—"समिध्यमानोऽध्वरेऽग्निः पावक ईड्यः । शोचिष्केशस्तमीमहे (१)" (तै० ब्रा० ५।३।३) ।

"समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर । त्वं हि हव्यवाडसि (२) (तै० ब्रा० ५।३।३) ।

"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वं हव्यवाहनम्" (३) (तै० ब्रा० ५।३।३) । (तदिदमध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह) ।

यस्यैवं विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुः । यावद्वेव सौम्येतापवरेणेष्ट्वा जयति, तावज्जयति ॥

इति–सामिधेन्यनुवचनम्

इति–चतुर्थाध्याये द्वितीयं, तृतीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

अथ–चतुर्थाध्याये द्वितीयं, तृतयिप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ निगदानुवचनम्

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन्–यद्धोतृत्वे,–'इदं नो हव्यं वह' इति । तमेतद्गरिष्ठे युक्त्वा–उपादन्–'वीर्य्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा (स्मै) असि' इति वीर्य्ये समाधतः । यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति–'वीर्य्यवान्वै त्वमसि, अलं व त्वमेतस्मा (स्मै) असि' इति वीर्य्ये समाधतः । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह–उपस्तौत्येवैनमतत्, वीर्य्यमेवास्मिन्दधाति ॥ "अग्ने महाँ २॥ असि ब्राह्मण भारत" इति । ब्रह्म ह्यग्निः । तस्मादाह–'ब्राह्मण' इति । 'भारत' इति । एष हि देवेभ्यो हव्य भरति, तस्माद्–'भरतोऽग्निः' इत्याहुः । एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति, तस्माद्वेवाह–'भारत' इति ॥

इति–निगदानुवचनम्

अथ–आर्षेयानुवचनम्

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति–'अयं महावीर्य्यः, यो यज्ञं प्रापत्' इति । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ परस्ताद्धि अ-

र्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते, ज्यायसस्पतय उ चैवैतं निह्नुते, इदं हि-पितैवाग्रे, अथ पुत्रः, अथ पौत्रः । तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥

इति-आर्षेयानुवचनम्

अथ-निवित्पाठः

स आर्षेयमुक्त्वाह-"देवेद्धो मन्विद्धः" इति÷ । देवा ह्येतमग्रे-ऐन्धत । तस्मादाह-'देवेद्धः' इति । 'मन्विद्धः' इति । मनुर्ह्येतमग्रे-ऐन्ध । तस्मादाह-'मन्विद्धः' इति ॥ "ऋषिष्टुतः" इति । ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह-'ऋषिष्टुतः' इति ॥ "विप्रानुमदितः" इति । एते वै विप्राः-यदृषयः । एते ह्येतम मन्वमदन् । तस्मादाह-'विप्रानुमदितः' इति ॥ "कविशस्तः" इति । एते वै कवयः-यदृषयः । एते ह्येतमशंसन् । तस्मादाह-'कविशस्तः' इति ॥ "ब्रह्मसंशितः" इति । ब्रह्मसंशितो ह्येषः । "घृतवाहनः" इति । घृतवाहनो ह्येषः ॥ "प्रणीर्यज्ञानां, रथीरध्वराणाम्" इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान् प्रणयन्ति-ये च पाकयज्ञाः, ये चेतरे । तस्मादाह-'प्रणीर्यज्ञानाम्' इति । 'रथीरध्वराणाम्' इति । रथो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । तस्मादाह-'रथीरध्वराणाम्' इति ॥ "अतूर्त्तो होता, तूर्णिर्हव्यवाट्" इति । न ह्येनं रक्षांसि तरन्ति । तस्मादाह-'अतूर्तो होता' इति । 'तूर्णिर्हव्यवाट्' इति । सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति । तस्मादाह-'तूर्णिर्हव्यवाट्' इति । "आस्पात्रं

÷-"देवेद्धो मन्विद्धः । ऋषिष्टुतो विप्रानुमदितः । कविशस्तो ब्रह्मसंशितो घृतवाहनः । प्रणीर्यज्ञानाम् । रथीरध्वराणाम् । अतूर्तो होता । तूर्णिर्हव्यवाट् । आस्पात्रं-जुहूर्देवानाम् । चमसो देवपानः । अराँ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि ।" (तै० ब्रा० ३।५।३,४,)।

जुहूर्देवानाम्" इति। देवपात्रं वा एषः, यदग्निः। तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति। देवपात्रं ह्येषः। प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रम्-यस्य पात्रं प्रेप्सति, य एवं एतद्वेद ॥ "चमसो देवपानः" इति। चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति। तस्मादाह-'चमसो देवपानः' इति ॥ "अराँ-२॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि" इति। यथा अरान्नेमिः सर्वतः परिभूः, एवं त्वं देवान् सर्वतः परिभूरसि-इत्येवैतदाह ॥

इति-निवित्पाठः

अथ-देवतावाहनम्

* "आवह देवान् यजमानाय" इति। तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवा (वै) आह (१) ॥ "आग्नमग्न आवह" इति। तदाग्नेयायाज्यभागायाग्निमावोढवा (वै) आह (२) ॥ "सोममावाह" इति। तत् सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवा (वै) आह (३) "अग्निमावह", इति। तत्र एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति, तस्मा (स्मै) अग्निमावोढवा (वै) आह (४) ॥ अथ यथादेवतम् (५) ॥ "देवाँ २॥ आज्यपाँ आवह" इति। तत् प्रयाजानुयाजानावोढवा (वै) आह। प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः (६) ॥ "अग्निं होत्रायावह" इति। तदग्निं होत्रायावोढवा (वै) आह (७) ॥ "स्वं महिमानमावह" इति। तत् स्वं महिमानमावो-

---

*"आवह देवान् यजमानाय। अग्निमग्न आवह। सोममावह। अग्निमावह। प्रजापतिमावह। अग्नीषोमावावह। इन्द्राग्नी आवह। इन्द्रमावह। महेन्द्रमावह। देवाँ आज्यपाँ आवह। अग्निं होत्रायाऽऽवह। स्वं महिमानमावह। आ चाग्ने देवान् वह सुयजा च यज जातवेदः" (तै० ब्रा० ३।५।३।४।)।

ढवा (वै) आह (८)। वाग् वा अस्य स्वो महिमा। तद्वाचमावोढवा (वै) आह। "आ च वह जातवेदः, सुयजा च यज" इति। तद्या एवैतद्देवता आवोढवा (वै) आह, ता एवैतदाह। 'आ चैनावहानुष्ठ्या च यज' इति, यदाह-'सुयजा च यज' इति॥

स वै तिष्ठन्नन्वाह। अन्वाह ह्येतत्, असौ ह्यनुवाक्या। तदसावेवैतद् भूत्वाऽन्वाह। तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह॥ आसीनो याज्यां यजति। इयं हि याज्या, तस्मान्न कश्चन तिष्ठन् याज्यां यजति। इयं हि याज्या, तदियमेवैतद्भूत्वा यजति। तस्मादासीनो याज्यां यजति॥

इति-देवतावाहनम्

इति-चतुर्थाध्याये द्वितीयं, तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ-चतुर्थाध्याये तृतीयं, तृतीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ-शान्तिकर्म्म

यो ह वा अग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः, अतितरां ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः॥ स यथा हैवाग्निः सामिधेनीभिः समिद्धस्तपति, एवं हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः॥

सोऽन्वाह-"प्र वः" इति। प्राणो वै प्रवान्, प्राणमेवैतया समिन्धे। "अग्न आयाहि वीतये" इति। अपानो वै एतवान्, अपानमेवैतया समिन्धे। "बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इति। उदानो वै बृहच्छोचा, उदानमेवैतया समिन्धे॥ "ईडेन्यो नमस्यः" इति। वाग् वा ईडेन्या, वाक्-हीदं सर्वमीट्टे, वाचेदं स-

र्वमीडितम् । वाचमेवैतया समिन्धे ॥ "अश्वो न देववाहनः" इति । मनो वै देववाहनम् । मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते । मन एवैतया समिन्धे ॥ "अग्ने दीद्यन्तं बृहत्" इति । चक्षुर्वै दीदयेव । चक्षुरेवैतया समिन्धे॥ "अग्निं दूतं वृणीमहे" इति । य एवायं मध्यमः प्राणः, एतमेवैतया समिन्धे । सा हैषान्तस्था प्राणानाम् । अतो ह्यन्य ऊर्द्ध्वाः प्राणाः, अतोऽन्येऽवाञ्चः । अन्तस्था ह भवति । अन्तस्थमेनं मन्यन्ते, य एवमेतामन्तस्थां प्राणानां वेद॥ "शोचिष्केशस्तमीमहे" इति । शिश्नं वै शोचिष्केशम् । शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति । शिश्नमेवैतया समिन्धे ॥ "समिद्धोऽअग्न आहुत" इति । य एवायमवाङ् प्राणः, एवमेवैतया समिन्धे । "आजुहोता दुवस्यत" इति । सर्वमात्मानं समिन्धे—आ नखाग्रेभ्यः, अथ उ लोमभ्यः ॥

स यद्येनं प्रथमायां सामिधेन्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"प्राणं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः. प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि" इति । तथा हैव स्यात् ॥ स यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"अपानं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, अपानेनात्मनआर्त्तिमारिष्यसि" इति । तथा हैव स्यात्॥ यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"उदानं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, उदानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि" इति । तथा हैव स्यात् ॥ यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"श्रोत्रं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, श्रोत्रेणात्मन आर्त्तिमारिष्यसि. बधिरो भविष्यसि" इति । तथा हैव स्यात् ॥ यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"वाचं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः. वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, मूको भविष्यसि" तथा हैव स्यात् ॥ यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्—"मनो वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरसि"

इति। तथा हैव स्यात् ॥ यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-"चक्षुर्वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, चक्षुषात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, अन्धो भविष्यसि" इति तथा हैव स्यात् ॥ यद्यष्टम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-"मध्यं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, उद्ध्माय मरिष्यसि" इति। तथा हैव स्यात् ॥ यदि नवम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-"शिश्नं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, शिश्नेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, क्लीबो भविष्यसि" इति। तथा हैव स्यात् ॥ यदि दशम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-"अवाञ्चं वा एतत् प्राणमात्मनोऽग्नावाधाः, अवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि, अपिनद्धो मरिष्यसि" इति। तथा हैव स्यात् ॥ यद्येकादश्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-"सर्वं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, सर्वेणात्मना आर्त्तिमारिष्यसि, क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसि" इति। तथा हैव स्यात् ॥ स यथा हैवाग्निं सामिधेनीभिः समिद्धमापद्य आर्त्तिं न्येति, एवं हैव ब्राह्मणं सामिधेनीर्विद्वांसमनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्य आर्त्तिं न्यति ॥

इति-शान्तिकर्म्म

इति-चतुर्थाध्याये तृतीय, तृतीय प्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

इति-प्रतृणपाठः

—ख—

इति-तृ०पञ्चमं, चतुर्थाध्याये प्रथमं-द्वितीयं-तृतीयं,-
तृतीयप्रपाठके च द्वितीयं, तृतीयं, चतुर्थं, पञ्चमं ब्राह्मणम्
चतुर्ब्राह्मणात्मकं-सामिधेनीब्राह्मणं समाप्तम्

ग—मूलानुवाद—

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

वह अध्वर्यु (पन्द्रह समित्—काष्ठ के समूहरूप) इध्मसे (इस आहवनीय) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है, इसीलिए (इन्धन साधन होने से प्रज्वलन-कर्म्म-साधक) इन काष्ठों को (इन्धे—तस्मादिध्मः—इस निर्वचन से) 'इध्म' कहा जाता है। होता (एतन्नामक ऋत्विक—'प्रवो बाजा०' इत्यादि) सामिधेनी ऋचाओं से (आहवनीय अग्नि को) समिद्ध करता है, (अतएव 'समिन्धे-तस्मात् सामिधेनी' इस निर्वचन से इन ऋचाओं को) 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥ १ ॥

वह अध्वर्यु (सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के लिए होता नामक ऋत्विक् के प्रति प्रैष-अनुज्ञा—करता हुआ) कहता है—"अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि" (हे होतः। इध्म काष्ठ से प्रज्वलित हुए अग्नि के लिए, इसे समिद्ध बनाने के लिए, जो सामिधेनी ऋचाएं हैं, उनका यथाक्रम अनुवचन करो)। (उक्त प्रैष मन्त्र से वह अध्वर्यु) अग्नि के लिए ही इसे समिद्ध बनाने के लिए ही कहता है ॥ २ ॥

(उक्त प्रैष के सम्बन्ध में) कितने एक याज्ञिकों ने यह कहा है कि—"अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि" (इत्यादिरूप से होतृपद का उच्चारण करते हुए) इस रूप से प्रैष करना चाहिए। (अध्वर्यु को चाहिए कि वह) वैसा कभी न करे (प्रैष मन्त्र में 'होतरनुब्रूहि, इत्यादि रूप से होतृपद का सन्निवेश न करे)। कारण यही है कि, (होतृप्रवरण कर्म्म से) पहिले (इस सामिधेनी अनुवचन के समय अनुवचन करने वाला) यह ऋत्विक् अहोता रहता है। जब (आगे जाकर) इस का वरण होता है, तब यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिए (बिना होतृपद का सन्निवेश किए)—"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इसी रूप से प्रैष करना चाहिए ॥ ३ ॥

(अध्वर्यु के प्रैष के अनुसार अनुवचन कर्म्म में नियुक्त) वह ऋत्विक् आग्नेयी (अग्निदेवता–सम्बन्धिनी) सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है (अर्थात् इसे आग्नेयी ऋचाओं का ही अनुवचन करना चाहिए । ऐसा करता हुआ यह ऋत्विक्) इस अग्नि को अपने देवता के स्वरूप से युक्त सामिधेनी ऋचा से ही समिद्ध करता है । (अर्थात् आग्नेयी सामिधेनी ऋचा से अनुवचन करना सजातीयभाव से ही अग्नि को समिद्ध बनाना है) । (वह ऋत्विक्) गायत्री (गायत्रीछन्दोयुक्त सामिधेनी ऋचा) का अनुवचन करता है । गायत्र अग्नि का छन्द है । (इसका अनुवचन करता हुआ) अग्नि के अपने हीं छन्द से इसे समिद्ध बनाता है । गायत्री वीर्य्यात्मिका है, गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्णा) है, (ऐसी अवस्था में गायत्री से अनुवचन करता हुआ ऋत्विक्) वीर्य्य से ही इस अग्नि का समिन्धन करता है । तात्पर्य्य यही हुआ कि, छन्द, वीर्य्य, जाति सम्पत्तियों के आधान के लिए गायत्रीछन्दस्का ऋचाओं से ही अनुवचन करना चाहिए ॥ ४ ॥

(जिन सामिधेनी ऋचाओं से यह 'सामिधेनी–अनुवचन कर्म्म होता द्वारा होने वाला है, उनके सम्बन्ध में 'अग्नि' देवता, तथा गायत्रीछन्द की व्यवस्था बतलाई गई । अब संख्या की व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् (आगे जाकर 'होतृप्रवरण कर्म्म से 'होता' कहलाने वाला ऋत्विक्) ग्यारहवीं सामिधेनी ऋचा है अन्त में जिसके, ऐसी सामिधेनी ऋचा का (ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का) अनुवचन करता है । त्रिष्टुप् (छन्द) ग्यारह अक्षर की है । गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्णात्मिका) है, त्रिष्टुप् क्षत्र (क्षत्रियवर्णात्मिका) है । (ब्रह्मात्मिका गायत्री स्वरूप वाली, तथा क्षत्रात्मिका त्रिष्टुप् संख्या वाली सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ) यह होता इन दोनों ब्रह्म–क्षत्रवीर्य्यों से युक्त करने के लिए गायत्री-छन्दस्क एकादश संख्याक ऋचाओं का अनुवचन होता है) इसलिए ग्यारह सामि-धेनी ऋचाओं का अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

(संख्या–व्यवस्था के अनन्तर उच्चारण सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् पहिली ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है, एवं

अन्तिम (ग्याहरवीं) ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि, ('त्रिषत्याः हि देवाः' तै० ३ २।३।८ इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक त्रिसत्य प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य) यज्ञ त्रिवृत् रूप से ही आरम्भ होने वाले हैं, तथा त्रिवृत्रूप से ही समाप्त होने वाले हैं। इस प्राकृतिक त्रिवृत् सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिली ऋचा का, तथा तीन बार अन्तिम ऋचा का अनुवचन करता है ॥ ६ ॥

(गायत्री छन्द के सम्बन्ध से अग्नि में ब्रह्मवीर्य्य का आधान होता है, एकादश संख्या से त्रिष्टुबनुगत क्षत्रवीर्य्य का आधान होता है, त्रिःप्रथमा त्रिरुत्तमा संख्या से त्रिवृत्यज्ञ की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम-उपसंहार की संख्याओं से पन्द्रह सामिधेनी ऋचाएं होजातीं हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल ? इसी प्रश्न का संख्यानुवदन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है) वे सामिधेनी ऋचाएं (त्रिःप्रथमा, त्रिरुत्तमा रूप से अनुवचन करने से) पन्द्रह होजाती हैं। वज्र (असुरनाशक प्राणशक्त्यात्मक शस्त्र) पञ्चदश सम्पत्ति से युक्त है। वज्र साक्षात् वीर्य्य (अन्तःशक्ति) है। (पन्द्रह संख्या द्वारा वह ऋत्विक्) इस अग्नि में इसी पञ्चदश वीर्य्य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी ऋचा वज्रपर्व बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका "इदमहममुं-प्रविष्याशत्रुं-अमुकं वा-अवबाधे" यह बोलता हुआ अपने हाथ के दोनों अंगूठों को जोर से मसल डाले। सचमुच इस अभिचार कर्म्म से यह यजमान शत्रु को पीडा पहुंचाने में समर्थ होजाता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र फैंकना है। जिस समय ऋत्विक् इनका अनुवचन करता हो, उस समय शत्रु का नाम लेकर 'मैं उसे नष्ट करता हूं' यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनों अंगुष्ठ मीढ डालता है, तो अवश्यमेव शत्रु का अनिष्ट होजाता है। यह अभिचारशक्ति पञ्चदश-संख्या से ही इन सामिधेनी ऋचाओं में प्रविष्ट होती है ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सामिधेनी ऋचाओं को युक्त करना, यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)– अर्द्धमास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रियाँ होतीं हैं। (पञ्चदश-रात्रि समष्टिरूप) ऐसे अर्द्धमास से (अर्द्धमास के आवर्त्तन से) ही सम्वत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अर्द्धमास के २४ आवर्त्तन से ही सम्वत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रियाँ सम्पूर्ण सम्वत्सर रात्रियों की सम्पत्ति का कारण बन जाती हैं)। इन पन्द्रह संख्याओं से (अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति द्वारा आवर्त्तन सम्बन्ध से) यह ऋत्विक् उन सम्वत्सर–रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्ति कर लेता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए भी पञ्चदश–सामिधेनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी ऋचा गायत्री है, पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्द्रह गायत्री होजातीं हैं। प्रत्येक गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर होते हैं। फलतः) पन्द्रह गायत्री मन्त्रों के (२४–२४–के हिसाब से) तीन और सौ, तथा साठ (३६०) अक्षर होजाते हैं। तीन, और सौ, एवं साठ (३६०) ही एक सम्वत्सर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक इन ३६० अहों को (अहःसम्पत्ति को) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अहः समुदाय-द्वारा अहःसमुदायात्मक) सम्वत्सर (सम्वत्सरयज्ञ सम्पत्ति) को प्राप्त करलेता है ॥ ९॥

(चूंकि–सामिधेनी संख्या का प्रकरण चल रहा है, अतः प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखनें वालीं सामिधेनी ऋचाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी श्रुति व्यवस्था कर देती है। श्रुति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करने वाली है, उसे दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए, जैसा कि "तं काम-मनपराधं राध्नोति" इत्यादि से स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास में जहां पन्द्रह सामिधेनी मन्त्र होते हैं, वहां तद्विकृतिभूता काम्येष्टि में, तथा पशुबन्ध में सत्रह सामिधेनी मन्त्र होते हैं, जैसा कि–"पञ्चदश सामिधेन्यो दर्शपूर्णमासयोः, सप्तदशेष्टि-

पशुबन्धनाम्" (आपस्तम्ब श्रौ० सू०) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझलेनी चाहिए कि, जहां दर्शपूर्णमास में आवाप देवता का उच्चैः यजन होता है, वहां काम्येष्टि के आवाप देवता का उपांशु यजन होता है। इसी प्रासङ्गिक काम्येष्टि-सम्बन्धी उपचार (संख्याव्यवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

वह ऋत्विक् इष्टि के सम्बन्ध में (दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन (उच्चारण) करे। जिस देवता के लिए (अध्वर्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है, उस (इष्टि) देवता के लिए वह उपांशु (तूष्णीं) यजन करता है। (इस प्रकार उपांशु यजन होने वाले इस काम्येष्टि कर्म्म में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-अभिलषितफल-प्राप्त करने में इसलिए समर्थ हो जाता है कि) एक सम्वत्सर के चैत्रादि बारह (तो) महीनें होते हैं, एवं वसन्तादि पांच ऋतुएं+ होती हैं। (इन सत्रह पर्वों से) यही (सम्वत्सरयज्ञात्मक) प्रजापति सप्तदश (बन रहा) है। प्रजापति ही सर्व (सर्वात्मक, अतएव सर्वकामपूरक) है। (इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् समसंख्या समतुलित सर्वात्मक प्रजापति-सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ) सम्पूर्ण (अभिलषित) ही उस काम (अभिलषित) को निरापद समृद्ध करने में (प्राप्त करने में) समर्थ होजाता है, जिस कि (संकल्पित) काम प्राप्ति के लिए यह इष्टि का निर्वाप करता है।

(कामेष्टि में आवापदेवता का उपांशु यजन क्यों होता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह ऋत्विक् उपांशुरूप से देवता का यजन करता है—(इसका कारण यह है कि) अनिरुक्त (शब्दद्वारा अप्रकट होने

+ "हेमन्तशिशिरयोः समासेन"।

योग्य) ही उपांशु है । [उधर] सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा] अनिरुक्त ही है । [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त भावात्मक उपांशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है, जिस काम के लिए कि, यह इष्टि का निर्वाप करता है । यही [सप्तदशसामिधेनियों का अनुवचन, तथा प्रधानदेवता का उपांशुयजन ही] इस कामेष्टि का उपचार [इतिकर्त्तव्यतात्मक विशेषधर्म्म] है ॥१८॥

[दर्शपूर्णमासेष्टि में पूर्व में **'ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते'** इत्यादि रूप से पन्द्रह सामिधेनियों का विधान बतलाया गया है। अब इसी सम्बन्ध में पक्षान्तर उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है]-कितनें एक याज्ञिक कहते हैं कि, अथवा दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करना चाहिए । [२१ सामिधेनियों के अनुवचन की उपपत्ति वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि]—एक सम्वत्सर के बारह [तो] महीनें होते हैं, पांच ऋतुएं होतीं हैं, [त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश स्तोम भेद भिन्न] पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीन [स्तौम्य–पार्थिव] लोक होते हैं इन सब के संकलन से सम्वत्सर के २० पर्व हो जाते हैं । यही २१ वां हैं, जोकि यह [खगोलस्थ बृहतीछन्द–विष्वद्वृत्त के मध्य में स्थिररूप से] तप रहा है। यही [एकविंशसूर्य्य यज्ञफलात्मिका] स्वर्लोकात्मिका गति है, यही [सर्वयज्ञ] प्रतिष्ठा है । [जो यजमान अपनी दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनियों का अनुवचन करवाता है,] वह [२१ के द्वारा तत् समतुलित विंशति पर्वात्मक सम्वत्सर-यज्ञ का संग्रह करता हुआ इक्कीसवीं सामिधेनी के द्वारा तत्समतुलित सूर्य्यात्मिका] इसी गति को, इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है । इस गति–प्रतिष्ठा–प्राप्ति के लिए २१ सामिधेनियों का ही अनुवचन करना चाहिए ॥२१॥

(उक्तपक्ष का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि)–ये २१ सामिधेनियां (उस) भाग्यहीन यजमान के लिए ही उच्चारण करनी चाहिएं, जो यजमान यह चाहता है कि, न तो मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो । (यजमान अपनी जैसी

स्थिति में रहता हुआ यज्ञ करेगा, वैसी ही स्थिति में प्रतिष्ठित) यजमान के लिए ही वैसी ही सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं, एवं वह यजमान वैसा ही (उसी पूर्व स्थिति में) रहता है, अथवा तो उस से भी निम्नश्रेणि में चला जाता है। जिस यजमान के ऋत्विक् (२१ सामिधेनी की उपर्युक्त गति-प्रतिष्ठात्मिका उपपत्ति बतलाते हुए) इन २१ सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं। और वास्तव में (यज्ञपद्धतियों के आधार पर बात तो यह है कि) २१ सामिधेनियों के अनुवचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है, निष्प्रयोजन मीमांसा है, वस्तुतः २१ का (ऋत्विक्-लोग) कदापि अनुवचन नहीं करते ॥

तात्पर्य्य श्रुति [याज्ञवल्क्य] का यही है कि, यज्ञकर्म्म किसी अतिशय प्राप्ति के लिए किया जाता है। श्री [सम्पत्ति] की प्राप्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, पूर्व की सामान्य परिस्थिति से उच्च स्थिति में पहुंचने के लिए यज्ञ किया जाता है। यह फल तभी सम्भव है, जब कि, पद्धति-प्रदर्शित पञ्चदश-सामिधेनियों का ही अनुवचन किया जाय। केवल संख्या के आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए २१ सा० करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि, मैं श्रीशून्य बना रहूं, यज्ञ से मेरा कोई विशेष लाभ न हो, अथवा जो यह चाहे कि न तो मेरा कोई लाभ ही हो, न हानि ही हो, वह अवश्य ही २१ का अनुवचन करवा सकता है। अवश्य ही ऐसे अनुवचन से यजमान जैसा का तैसा बना रहेगा। और बहुत सम्भव है, इस सामान्य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षान्तर केवल मीमांसा ही समझनी चाहिए।

श्रुति-अक्षर स्वारस्य से १२ कण्डिका का उक्त अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण यही है कि-"सा उ एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनूच्यन्ते" बारहवीं कण्डिका के इस उपसंहार वाक्य से यह सिद्धान्त निकलता है कि, २१ का पक्ष याज्ञिकों के केवल काल्पनिक विचार ही विचार हैं। न कभी ऐसा हुआ, न होना चाहिए। अवकाश के समय याज्ञिकों में सामिधेनी संख्या के उपपत्ति के

सम्बन्ध में कभी चर्चा चली होगी। वहां किसी ने यह कह दिया होगा कि, २१ सामिधेनी क्यों न की जाय। इस से २१ सूर्य्य की गति–प्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी। तत्कालही किसी वैज्ञानिक याज्ञिक ने आक्षेप पूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया होगा कि–'हां ठीक है, जिस यजमान को श्री की अपेक्षा न हो, या तो उस के यज्ञ में, अथवा जो यजमान यह चाहे कि, न मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो, मैं जैसा का तैसा बना रहूं, उस यजमान के लिए आप अवश्य २१ का अनुवचन कर सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि, यजमान का कल्याण तो नहीं ही होगा, परन्तु बहुत सम्भव है, उस का अनिष्ट भी होजाय,। उसी सामयिक चर्चा में उपस्थित होने वाले काल्पनिक २१ विंश पक्ष का श्रुति ने उसी आक्षेपात्मक–उपहासास्पद शब्दों में इतिवृत्त बतलातेहुए सिद्धान्त में १५ सा० पक्ष का ही समर्थन किया है। "तां हैता गतश्रेरेव अनुब्रूयात्–य इच्छेत्–न श्रेयान् स्यात्, न पापीयान्" इति। इस से आक्षेप पूर्वक २१ पक्ष का समर्थन किया। "यादृशाय हैव स तेऽन्वाहुः, तादृङ् वा भवति, पापीयान् वा–यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः" इस से २१ का अफलात्मक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त में–"सा उ एषा मीमांसा एव, न त्वेवैता अनूच्यन्ते" इस वाक्य से इस २१ पक्ष का निरसन करदिया गया। इसी आधार पर हमनें १२ कण्डिका को पूर्वपक्ष–खण्डन परक माना है। परन्तु, व्याख्याताओं नें १२ कण्डिका को 'अधिकारी भेद' मर्य्यादा परक लगातेहुए इस का यह अर्थ किया है कि–

"जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई हो, वैसे यजमान के यज्ञ में ही २१ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अच्छी स्थिति में हैं, उस के यज्ञ में २१ के अनुवचन की कोई आवश्यकता नहीं है।" यह अर्थ "ता हता गतश्नेरेवानुब्रूयात्" इस वाक्य का किया है। एवं इसके आगे के "य इच्छेन्न श्रेयान्स्यात्, न पापीयान्, यादृशाय हैव स तेऽन्वाहुस्तादृङ् वा हैव भवति" वाक्य को 'पापीयान् वा' से पृथक् कर इस का यह अर्थ किया है कि–"जो यज-

मान श्रैष्ठ्य, नैकृष्ट्य दोनों नहीं चाहता है, उस के लिए यथोपलब्ध प्रकार से (१५ अथवा १७) सामिधेनी का अनुवचन करते हैं। आगे जाकर 'पापीयान्वा' के 'वा' उपलक्षण विधि से श्रेयान्' का ग्रहण करते हुए यह अर्थ किया गया है कि, २१ सामिधेनी पक्ष में यजमान् अच्छी कामना रखता है, तो श्रेयान् होता है, अन्यथा पापीयान् होता है''। पाठक देखेंगे कि, इस व्याख्या में किस प्रकार शब्दमर्य्यादा की प्रकरणसन्तान की उपेक्षा हुई है। अस्तु जो कुछ हो, प्रकृत में कण्डिका का निष्कर्ष यही निकलता है कि, २१ का पक्ष केवल मीमांसा है। ऐसा अनुवचन होता नहीं, और यही सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि, २१ का पक्ष पक्षान्तर नहीं है, अपितु आक्षेपभाषा के द्वारा खण्डनात्मक बन रहा है।

कितनें एक व्याख्याता अन्यप्रकार से भी युक्त कण्डिका का समन्वय कर रहे हैं। और–पूर्वोक्त द्वितीय व्याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत व्याख्या फिर भी यथा-कथंचित् ठीक मानी जासकती है। इस व्याख्या का स्वरूप यही है कि–"अधिकारी भेद से सामिधेनियों की संख्या की व्यवस्था है। यह जो २१ का अनुवचन है, वह जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई है, उसी यजमान के लिए नियत हैं। क्यों कि प्रतिष्ठारूप २१ से यजमान की उखड़ी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्रतिष्ठित हो जाती है।–"ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात्"।

जो यजमान न अपना अभ्युदय चाहता है, न पतन, उस यजमान के लिए उसे उसकी सामान्य स्थिति पर रहने के लिए, ऋत्विक् लोग पूर्वोक्त पञ्चदश, किंवा सप्तदश का ही अनुवचन करते हैं।–"य इच्छेन्न श्रेयान्त्स्यान्न पापीयान्, यादृशाय हैव स तेऽन्वाहुः, तादृङ् वा हैव भवति"।

दोनो पक्षों में से दूसरे २१ वें पक्ष में दोष बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, २१ के पक्ष में 'श्रेयान' के स्थान में पतन भी होसकता है। अर्थात् फलप्राप्ति संदिग्ध है। "पापीयान्वा" एसी स्थिति में २१ के पक्ष को केवल मीमांसा [विचार]

ही समझना चाहिए, इनका अनुवचन नहीं करना चाहिए–"सा उ एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनूच्यन्ते' ॥ १२ ॥

[संख्या के सम्बन्ध में व्यवस्था कर अब उच्चारण–क्रिया में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है]–उस ऋत्विक् [भावी होता] को पहिली सामिधेनी ऋचा का, तथा अन्त की सामिधेनी ऋचा का तीन तीन बार अनवानन् [अनुच्छ्वास] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए। [कहा गया है कि, ११ में से १–११ वीं ऋचा को तीन तीन बार बोला जाता है। इन के उच्चारण में एक सन्तान भाव रहना चाहिए। अर्थात एक ही श्वास में–बिना मध्य में विश्राम लिए आरम्भ की ऋचा का त्रि–वार, एवमेव अन्त की ऋचा का त्रि–वार उच्चारण करना चाहिए। इस एक श्वासात्मक सन्तान भाव का कारण यही है कि] प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञ में [पृ० अ० द्यौः नामक] तीन लोक हैं। [तीनों लोक महिमा पृथिवीरूप एक ही लोक के तीन सन्तत पर्व हैं]। [यहां तीनों ऋचाओं का सन्तत उच्चारण करता हुआ ऋत्विक्] इन्हीं तीनों लोकों को [यज्ञफल भोक्ता यजमान के लिए प्रातिस्विकरूप से] एक रूप से [अविच्छिन्नरूप से] फैलाता है, किंवा तीनों का परस्पर ग्रन्थिबन्धन करता है, एवं तीनों को प्रीणात, तथा [परस्पर बन्धन से] बलयुक्त बताता है। अपिच [आध्यात्मिक यज्ञमूर्त्ति] पुरुष में प्राण–व्यान–अपान भेद से तीन प्राण [अव्य-वच्छिन्न रूप से] प्रतिष्ठित हैं। [इस अनवानन् प्रक्रिया से वह होता] इन्ही तीनों को परस्परसम्बद्ध [सन्तत], तथा विच्छेदरहित [अव्यवच्छिन्नं] करता है। यहि अनुवचन का [वैज्ञानिक] प्रकार है, अर्थात् अनवानन् रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

[प्रथम, तथा अन्त की तीन तीन ऋचाएं यथास्वर–सुस्पष्ट मर्य्यादा से एक साथ, एक श्वास से बोल देना साधारण काम नहीं है। मान लीजिए, होता में स्वरसन्धान का उतना बल नहीं है। ऐसी दशा में अनुवचन की क्या मर्य्यादा होगी ? इसी के सम्बन्ध में व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है कि]–[उत्तमपक्ष

तो यही है कि] इस होता का जहांतक वश चले, शक्ति भर इसी तरह [पूर्वोक्त अनवानन्‌रूप से एक ही श्वास में] अनुवचन करने का प्रयास करे-[स यावदेव वशःस्यात्, एवमेवानुविब्रूयात्]। [यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो, उस स्थिति में, शक्ति के अभाव में एक ऋचाके मध्य में विश्राम न लेकर पूरी ऋचा समाप्त हो जाने पर विश्राम करले । इस तरह यह दो बार विश्राम कर सकता है । परन्तु] इस (मध्य-विश्रामात्मक) पक्ष की निन्दा ही मानी जाती है। (निन्दा का मूल यही है कि)-अनवानन् (एकश्वास में) बोलने की इच्छा से ऋङ्मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता जब कि मध्य में श्वास का परित्याग कर देता है, तो उस दशा में (त्रैलोक्य संधानात्मक) यह अनवानन्-अनुवचनकर्म्म (मध्य विराम से व्यवच्छिन्न होता हुआ) निर्बल हो जाता है। यही इस पक्ष में परिचक्षा (कमजोरी) है। (तात्पर्य्य इस परिचक्षाभावप्रदर्शन का यही है कि, जब एसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि, अब विश्राम लिए बिना आगे उच्चारण असम्भव है, तभी मध्य विराम अपेक्षित है) ॥

अथवा उक्त कण्डिका का इस रूप से भी समन्वय किया जा सकता है कि—"अनुवचन करने वाले होता को चाहिए कि, उसके श्वास में (जितनी देर ठहरने का) बल है, उतनी देर तक ही बोले । श्वास पर बल प्रयोग न करे। वाक्-शक्त्यभाव में यदि होता तीन ऋचा एक साथ न बोल कर मध्य में विश्राम ले लेता है, तो कोई दोष नहीं है—"स यावदस्य वशः स्यात्, एवमेवानुविब्रूयात्" ।

उक्त पक्ष को अदोषभाक् मानने वालों का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, नहीं, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस पक्ष की (ऋङ्मध्य विश्राम की) परिचक्षा (निन्दा) है। यदि होता एक श्वास में (अनवानन्) बोलने का संकल्प कर (अनुविब्रुवन्) मध्य में (सामि) ही विश्राम कर लेगा (अपान्यात्), तो (त्रैलोक्य सन्तानार्थ होने वाला लोकसन्तानाव्यवच्छेदसाधक) यह कर्म्म शिथिल होजायगा—"उत सामि अवान्यात्—अनवान्ननुविब्रुवन्, तत् कर्म्म

विवृह्येत"। और यदि इस विश्राम पक्ष में दोष है। (अतः कभी ऋङ्मध्य में अवसान नहीं होना चाहिए)"। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वर्थ समझना चाहिए ॥१४॥

(प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब विश्राम लेना दोष है, एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक श्वास में तीनों का अव्यवच्छिन्न उच्चारण कर नहीं सकता, तो एसी परिस्थिति में क्या किया जाय? इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पक्षान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)—वह होता यदि ऐसा करना (अनवानन् रूप से-एक श्वास में) अपनी शक्ति के बाहिर समझता है, (तो उस दशा में ऋङ्मन्त्र के मध्य में विश्राम न कर (एक एक ऋचा का अनवानन् (एक श्वास में) अनुवचन करे। (अर्थात् ऋङ्मध्य में विश्राम करना दोष है, ऋक् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि ऋक्-अन्त में विश्राम किया जायगा, तो पूर्वोक्त आधिदैविक लोकसम्पत्ति, तथा आध्यात्मिक प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी? प्रश्न का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)-इस एक एक ऋचा से ही वह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों का सन्तान, तथा इन्हें बलवान बनाने में समर्थ हो जाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए पृथक्-पृथक् हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के पृथक् पृथक्, किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है, यही तात्पर्य्य है। अब जोकि प्राणाधान करता है-(उसका समन्वय इस तरह हो जाता है कि, प्राण—अपान—व्यान, तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः, व्याप्त एक ही गायत्री प्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्रयात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋङ्मन्त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है, इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशेष प्राण का भी आधान करने में समर्थ हो जाता है। इसलिए (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक—प्राणसम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (देना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों, तथा अन्त की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हों के

उच्चारण सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है,—वह होता इन १५ सामिधेनी ऋचाओं का अव्यवच्छिन्न रूप से (नैरन्तर्य्य विधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, पन्द्रहों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्य कर्म्म समावेश के निरन्तर-मर्य्यादा से होना चाहिए। कारण इसका यही है कि, ये १५ ऋङ्मन्त्र पूर्व कथनानुसार सम्वत्सर के अहोरात्र स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्वत्सर के अहोरात्र-पर्वों को ही सन्तत, तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये वे सम्वत्सर के अहोरात्र पर्व परस्पर मिल कर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्तित होते रहते हैं। (प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्न रूप से परिप्लवमान हैं, अतः तत् स्थानीय सा० का भी उसी मर्य्यादा से अनुवचन होना चाहिए। अब इस सन्तत- अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सन्तत-अविच्छिन्न रूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) के लिए, तथा भ्रातृव्य के लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भोग्यस्थानीय सम्वत्सर चक्रमें) उपस्थान (प्रवेशद्वार) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के लिये) प्रवेशद्वार बनाता है, जो कि असन्तत रूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अतः सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पांचवां, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त।

(तीसरा अध्याय समाप्त)

(चौथा अध्याय आरम्भ)

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण

गायत्री-छन्दस्कमन्त्र ११ सामिधेनीमन्त्र, १५ संख्या, प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का अनवानन् उच्चारण, १५ ह्रों का सन्ततरूप से अनुवचन, इन से क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व, प्रवेशद्वार रहित चक्राधिपत्य, इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति बतलाई गई। अब उन्हीं सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेष धर्म्म का विधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरम्भ होता है—

वह होता (सामिधेनी ऋक् का उच्चारण करने से पहिले) 'हिंकार' करके ('हिं' शब्दका उच्चारण करके) अनुवचन (ऋक् का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगों नें कहा है कि, (कोई भी) यज्ञ असामा (साम रहित) नहीं है, (साथ ही) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता 'हिङ्' करता है, इस से हिङ्कार का रूप सम्पन्न करता है, एवं 'ओ३म्-ओ३म्' इस प्रणव से ही सामके रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणव पूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ ससामा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। (प्रत्येक मन्त्र प्रणव पूर्वक बोला जाता है, प्रणव से पहिले यहां 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारात्मक-प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बन जाय, यही हिंकार की एक उपपत्ति है, यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि, हिङ्कार करता है-(वह बतलाते हैं)- (नासिकास्थित-श्वासप्रश्वासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन 'हिङ्कार' है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, कोई भी व्यक्ति) नासाच्छिद्रों को बंदकर हिंकार नहीं कर सकता। (जहां हिंकार नासाप्राणात्मक होने से प्राण है, वहां) ऋङ्मन्त्र वाग्रूप उच्चारणापेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिंकार प्राण बना हुआ है, एवं

ऋक् 'वाक्' बनी हुई है। इसी वाक्-प्राण के मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है, एवं वाक्—प्राण, दोनों का [योषा—वृषात्मक] मिथुन [दाम्पत्यभाव] है। [इस प्रकार हिंकारपूर्वक—प्राणपूर्वक—ऋक् का-- वाक् का प्रयोग करता हुआ] होता [इस हिंकार—ऋक्रूप प्राण—वाक् के मिथुन से] सामिधेनियों के पहिले ही मिथुन प्रजनन करता है। इस [प्रजनन सम्पत्ति के] लिए भी हिंकार करके अनुवचन करता है ॥२॥

वह होता उपांशुरूप से (मन्दरूप से, किन्तु गम्भीर ध्वनि से हिंकार करता है। यदि होता (मन्त्रवत्) उच्चस्वर से हिङ्कार करेगा, तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना डालेगा, (फलतः मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न होगी), इसलिए उपांशु हिङ्कार करता है ॥ ३ ॥

वह होता 'आ', तथा 'प्र' से युक्त सामिधेनी ऋक् का अनुवचन करता है। इस— आ से उपलक्षित 'एति', तथा 'प्र' से उपलक्षित प्रेति' के समावेश से सामिधेनी ऋग्रूपा) गायत्री को ही यह होता (एति से) अर्वाची (भूलोकानुगामिनी) बनाता है, एवं (प्रेति से) पराची (द्युलोकानुगामिनी) बनाता है। पराची गायत्री तो देवताओं के लिए यज्ञ (आहुतिद्रव्य) का वहन करती है, एवं अर्वाची गायत्री मनुष्यों का पालन करती है। (इस उभयविधफलप्राप्ति के लिए ही) 'एति—प्रति' रूप से सामिधेनी का अनुवचन करता है ॥ ४ ॥

(एति-प्रेति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)— जिस प्रयोजन के लिए कि एति—प्रेति—पूर्वक अनुवचन करता है—(उसका दूसरा कारण बतलाते हैं)—परागगति सूचक) 'प्र' (यह प्रतिरूप मर्य्यादा से) प्राण है, एवं (अर्वाग् गतिसूचक 'आ' यह उदान है। (प्र—आ का सम्बन्ध करता हुआ) होता (यज्ञातिशयलक्षण भावी यज्ञपुरुष में) प्राणोदान ही स्थापित करता है। इसलिए भी 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

जिस लिए कि आ–प्र– पूर्वक अनुवचन करता है-(उसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। (सिच्यमान रेत चूंकि सिञ्चन करने वाले से पराग्गति रखता है, इस सादृश्य से) 'प्र' यह रेत का आधान है, (सिक्तरेत गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिञ्चन करने वाले से अर्वाग्गति रखता है, इस सादृश्य से) 'आ' यह उत्पत्ति है। (इस रेतःसेक, प्रजोत्पत्ति सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति–प्रेति पूर्वक अनुवचन किया जाता है) ॥ अपिच—(तृणादिभक्षणार्थ पशुओं का चूंकि जङ्गल में जाना पराग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से) 'प्र' यह पशुगमन–स्थानीय है। एवं [जोकि सायंकाल पशुओं का लौट आना अर्वाग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] 'आ' यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति–प्रेति–पूर्वक अनुवचन किया जाता है।–इस प्रकार 'एति–प्रेति' के सम्बन्ध में चार उपपत्तियाँ बतलाकर अन्त में एति–प्रेतिरूपा गायत्री से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व में–एति–प्रेति भाव(आदान–विसर्गभाव)की व्याप्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]- सभी पदार्थ–समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा आ–[आदान]–प्र–[विसर्ग] भाव से युक्त हैं। [इस सर्वसामान्य सम्पत्ति–आदानविसर्गात्मिका कर्म्म सम्पत्ति–के लिए ही] एति–प्रेति पूर्वक अनुवचन करता है ॥६॥

अनुवचन के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताएं बतलानीं थीं, बतलादीं गईं। दूसरे शब्दों में अनुवचनानुगत उपपत्ति–प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति प्रकरण आरम्भ करें, इस से पहिले सामिधेनी–मन्त्र पाठ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें [ग्रन्थानुगत] लक्ष्य में ले आनीं चाहिएं—

प्रकृत ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से आरम्भ कर ४० वीं कण्डिकापर्य्यन्त [ब्राह्मणसमाप्तिपर्य्यन्त] जिन सामिधेनी–मन्त्रों की व्याख्या हुई है, वे सामिधेनी मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण में निम्नलिखित रूप से पठित हैं—

१–प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।
देवाञ्जिगाति सुम्नयुः ॥ (ऋक् सं० ३।२७।१)।

२-अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ (ऋक् सं० ६।१६।१०) ।

३-तं त्वा समिद्‌भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ (ऋक् सं० ६।१६।११) ।

४-स नः पृथुः श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ॥ ऋक् स० ६।१६।१२) ।

५-ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दृशतः ।
समग्निरिध्यते वृषा ॥ ऋक् सं० ३।२७।१३) ।

६-वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईडते ॥ ऋक् सं० ३।२७।१४) ।

७-वृषणं त्वा वयं वृषन् ∴वृषाणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यन्तं बृहत् ॥ ऋ० सं० ३।२७।१५) ।

८-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ (ऋ० सं० १।१२।१) ।

९-समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ॥ (ऋ० स० ३।२७।४) ।

१०-समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षिस्वध्वरं ।
त्व हि हव्यवाडसि ॥ (ऋ० सं० ५।२८।५) ।

११-*आजुहोत दुवस्यतैताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥ (ऋ० सं० ५।२८।६) ।

(तै० ब्रा० ३।५।२) ।

∴—"वृषणः" इति ऋक्संहितायाम् ।

*—"आजुहोता" इति ऋक्संहितायाम् ।

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों से ही अग्निसमिन्धन कर्म्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजुः-संहिता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु आश्चर्य्य है कि, उक्त ग्यारह मन्त्रों में से यजुःसंहिता में केवल " तं त्वा समिद्भिः" (यजुः सं० ३।३) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजु.संहिता में नहीं है। इसी प्रकार आगे जाकर जिन मन्त्रों का निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन, तथा निवित्पाठ कर्म्मों में उपयोग हुआ है, वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुः संहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण, एक आरण्यक, तथा एक उपनिषत् होती है। बहुत सम्भव है-या तो प्रस्तुत शतपथब्राह्मण माध्यन्दिनी शाखा का न हो, अथवा प्रचलित यजुःसंहिता माध्यन्दिनी शाखा की न हो। अवश्य ही दोनों में से एक पक्ष मीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित हैं, उन का यजुः-संहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं—

"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत, (असावसौ,) देवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदितः कविशस्तो ब्रह्मशंसितो घृतवाहनः, प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्। अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्। आस्पात्रं जुहूर्देवानां चमसो देवपानः। अराँ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्वं परिभूरसि॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमग्न आवह, सोममावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अग्नीषोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह, देवाँ आज्यपाँ आवह, अग्निं होत्रायावह, स्वं महिमानमावह, आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेदः"
[तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०]।

उक्त ११ सामिधेनी मन्त्रों में से शतपथ में तो सातवां मन्त्र-"वृषणं त्वा वयं वृषन्-वृषणः-समिधीमहि" इस प्रकार ह्रस्वान्त पाठ है, एवं तै० ब्रा० में 'वृषणः' के स्थान में [ऋक् संहितावत्] 'वृषाणः' पाठ है। एवमेव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्तके-"आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेदः"

इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान में शतपथ में—"आ च वह जातवेदः सुयजा च यज" यही पाठ है। इसके अतिरिक्त ११ वें मन्त्र में शतपथ में तै० ब्रा० के 'आजुहोत' के स्थान में [ऋक्संहितावत्] 'आजुहोता' यह पाठ है। इन सब मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे के विवेचना प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत मूलानुवाद प्रकरण में केवल पद्धति बतला दी जाती है।

वह होता [सर्वप्रथम] 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचन कर्म्म (मन्त्रोपात्त 'प्र' के सम्बन्ध से पराग्गतिरूप) 'प्र' इस भाव का संग्राहक है। (अनन्तर) 'अग्नऽआयाहि वीतये' (इत्यादि) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचन कर्म्म (मन्त्रोपात्त आयाहि' के सम्बन्ध से अर्वागति रूप) 'आ' इस भाव का संग्राहक है। (दोनों मन्त्रों के प्र— आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्म्मानुगता आदान-विसर्गात्मिका स्वाभाविक सम्पत्ति से युक्त होजाता है, यही तात्पर्य्य है) ॥ ७ ॥

(चूंकि 'आयाहि' वीतये—' यह वाक्य स्वर्गस्थ देवताओं की अपेक्षा से पराग्गति का सूचक बन रहा है, अतएव यह भी प्र' भाव का ही समर्थक माना जायगा, इस हेतु को लक्ष्य में रखते हुए) कितने एक वैज्ञानिकों का कहना है कि, उक्त दोनों सामिधेनीमन्त्र 'प्र' भाव को ही सम्पन्न करनें वाले हैं। (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि)—उन वैज्ञानिकों का (दोनों को 'प्र' भावपरक बतलाना) यह कथन विज्ञान—के अतिभाव (विज्ञान के अजीर्णभाव) का ही सूचक है। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' यह 'प्र' भाव का ही, तथा 'अग्नऽआयाहि वीतये' यह 'आ' भाव का ही सूचक है। (याज्ञवल्क्य का अभिप्राय यही है कि, यज्ञ यजमान कर रहा है। सामिधेनी का अनुवचन यजमान के लिए हो रहा है। इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि' अर्वाग्गति का ही ग्राहक बन रहा है। ऐसी स्थिति में 'आयाहि को प्राकृतिक नित्य यज्ञपरक मानना सर्वथा अवैज्ञानिक है।) ॥ ८ ॥

(९)–(सातवीं कण्डिका में जिन मन्त्रों के अनुवचन का विधान हुआ है, उनके पदों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)–वह होता–'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इस मन्त्र का अनुवचन करता है। (होता का) यह अनुवचन कर्म्म 'प्र' का सम्पादक बनता है। '१वाजा' इस (वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि) निश्चयेन अन्न का ही नाम 'वाजा' है। इस से अन्न सम्बन्ध में ही कहा गया है। '२अभिद्यवः' इस [का अर्थ यह है कि] अर्द्धमास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है। ३हविष्मन्तः' इस (का अर्थ यह है कि) पशु ही हविष्मन्त हैं। इन्ही के प्रति अनुवचन हुआ है ॥९॥

'४घृताच्या' इस [का अर्थ है]—

"पुराने समय में [ह] माथव नाम से प्रसिद्ध विदेघ [विदेह] राजा ने अपने मुख में वैश्वानर अग्नि को धारण कर लिया। इस राजा का रहूगण का पुत्र, अतएव 'राहूगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध गोतम ऋषि पुरोहित था। उस राजा ने गोतम ऋषि के बुलाने पर इस लिए उत्तर न दिया कि, मेरे मुख से वैश्वानर अग्नि [बाहिर] न गिरजाय ॥१०॥

१—'वाजयति-बलयति' इस निर्वचन से अन्न को वाज कहा गया है।

२—'वस्तोः द्यौर्भानु वासरम्' इत्यादि रूप से 'द्यु' शब्द दिन वाचक है। 'यून-दिवसान्-अभिगताः' इस निर्वचन से दिनों के अनुगत रहने वाले शुक्ल-कृष्ण पक्षों को अवश्य ही 'अभिद्यवः' कहा जासकता है।

३—क्षीर-दधि-आज्यादि हवि के उत्पादक होने से ही पशुओं को 'हविष्मन्तः' कहा गया है।

४—'घृताच्या' पद का मन्त्र में विशेष महत्व है। क्योंकि घृत 'तेजो वै आज्यम्' के अनुसार तेजोलक्षण अग्नि का सजातीय है। अतएव यही अग्निसमिन्धन का मुख्य कारण माना गया है। इस पद का एक ऐतिहासिक-आख्यान द्वारा महत्व प्रतिपादित हो रहा है।

(जब सामान्य-लौकिक वाक्य से गोतम ऋषि विदेघ के वाङ्मय अग्नि का संयम तोड़ने में समर्थ न हो सके, तो उन्होंने अग्नि की स्तुति करते हुए अलौकिक) ऋङ्मन्त्रों से (मुखस्थित अग्नि की स्तुति करते हुए) विदेघ को बुलवाने का निश्चय किया। (गोतम कहने लगे कि)—"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (हे कवे ! हे अग्ने यज्ञसमृद्धिस्वरूप समर्पक, अभिलषित फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका इस यज्ञ में मैं–इध्मकाष्ठ से–समिन्धन कर रहा हूं–यजुः सं० २।४) (ऋक् सं० ५।२६।३।) इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा–'हे विदेघ ! ॥ ११ ॥

विदेघ ने कोई उत्तर न दिया, (मानो कुछ सुना ही नहीं। पुनः अग्नि को स्तुति द्वारा प्रबल बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला)–"उदग्ने शुचयस्तव भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतिंष्यर्चयः" (ऋक् सं० ८।४४।१७–हे अग्ने आपकी पवित्र–निर्म्मल–शुक्लवर्ण की चमकतीं हुई रश्मियाँ आपकी ज्योतियाँ (तेजःपर्वों) को प्रेरित (समृद्ध) कर रही हैं) (इस प्रकार मन्त्रवाक् से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से–उच्चस्वर–से गोतम ने पुनः विदेघ का आह्वान करते हुए कहा) हे विदेघ ३ ! ॥ १२ ॥

राजा विदेघ ने फिर भी कोई उत्तर न दिया। (अन्त में राहूगण गोतम के मुख से "*तन्त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि, घृत शब्द के उच्चारण से (विदेघ के मुख में प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्वलित हो उठा। (उस प्रज्वलित अग्नि को) विदेघ मुख में न रख सके। (उन का संयम टूट गया, फलतः) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा, और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पड़ा) ॥ १३ ॥

---

*–तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह' (ऋक् सं० ५।२६।२)। हे घृतोत्पन्न, हे विविध रश्मियुक्त अग्ने ! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि, आप हविभक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्लोक से) देवताओं को बुलावें।

(जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए घृत पद के श्रवण से विदेघ का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित होकर बाहिर गिर पड़ा था) उस घटना के समय विदेघ माथव सरस्वती (एतन्नामक नदी) के पास थे। (यहां प्रज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमशः पूर्व की ओर वह अग्नि इस पृथिवी (के आर्द्रभाग को) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे पीछे विदेघ माथव, और राहूगण गोतम क्रमशः आगे बढ़ने लगे। (पूर्व की ओर वेग से बढ़ते हुए) उस वैश्वानर अग्नि ने (मार्ग में पड़ने वाली इतर सब क्षुद्र) नदियों को सुखा डाला। उत्तरगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है, केवल इसी को (उस अग्नि ने) न सुखाया। चूंकि इस नदी का वैश्वानर अग्नि के द्वारा विशोषन नहीं हुआ, अतएव यह सदानीरा 'अनतिदग्धा' मानी गई। इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते हैं। हेतु यही है कि, यह वैश्वानर अग्नि से अनतिदग्ध है। (इसे पार करना पतित होना समझा गया, यही तात्पर्य्य है) ॥ १४ ॥

इस समय उस [सदानीरा नदी] के पूर्व देशों में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। वह (भूभाग इस अग्निदहन कर्म्म से) पहिले खेती के सर्वथा अयोग्य था, और यज्ञादि फल प्रदान के अयोग्य था। क्योंकि इस से पहिले (क्षेत्रस्वरूपसमर्पक, तथा यज्ञादिफलयोग्यताधायक) वैश्वानर अग्नि से यह भूभाग अनास्वादित (अनुपभुक्त—असंस्पृष्ट) था ॥१५॥

(परन्तु वैश्वानर अग्नि के अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक उपजाऊ भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वयं विदेघ के मुख स्थित वैश्वानर अग्नि से यहां का भूभाग विशुद्ध—परिष्कृत- निवास योग्य हुआ, दूसरे) वहां के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणों नें यज्ञानुष्ठानों से अग्नि के द्वारा इसे युक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाग्नियों द्वारा याज्ञिकोनें इस स्थान का अग्नि को स्वाद दिला दिया) वह सदानीरा नदी प्रचण्ड ग्रीष्मकाल में भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी

नहीं सूखता, अपितु सदा समान रूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठंढी (भी) रहती है। कारण यही है कि, यह नदी (पूर्वकथनानुसार जलशोषक, तथा तापप्रवर्त्तक) वैश्वानर अग्नि से अनतिदग्ध है ॥१६॥

(वैश्वानर अग्नि से भूप्रदेश के आर्द्रभाग को उत्तरोत्तर सुखाते हुए दोनों जब सदानीरा के समीप पहुंचे, तो) माथव विदेघ ने राहूगण गोतम से परामर्श किया कि, (बतलाओ) मैं कहां रहूं (कहां अपना राज्यतन्त्र स्थापित करूं) ? गोतमने उत्तर दिया कि, इस सदानीरा से पूर्व पूर्व का जो भूप्रदेश है, (वही आप के योग्य है)। यही कारण है कि, आज भी यही सदानीरा नदी कोसलविदेह—राजाओं की सीमा मानी जाती है। ये कोसलविदेह (माथव विदेघ द्वारा राज्यतन्त्रस्थापित किए जाने से) 'माथव' नाम से ही प्रसिद्ध हैं ॥१७॥

(प्रासङ्गिक चर्चा बतला कर आख्यान का प्रकृत ब्राह्मण प्रकरण से सम्बन्ध बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, 'तं त्वा घृतस्नवीमहे' इस मन्त्रभाग के बोलने से जब विदेघ का वाक्संयम टूट गया, तो) राहूगण गोतम ने प्रश्न किया कि, आप का कई बार आह्वान करने पर भी आपने क्यों नहीं प्रत्युत्तर दिया ?। विदेघ ने उत्तर दिया कि, उस समय मेरे मुख में वैश्वानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (बोलने से) वैश्वानर अग्नि मुख से निकल न जाय, इस लिए मैंनें (आपके आमन्त्रण का) प्रत्युत्तर न दिया ॥१८॥

विदेघ के उक्त उत्तर पर पुनः गोतम ने प्रश्न किया कि—फिर आप के मुख से वैश्वानर अग्नि कैसे निकल पड़ा ? (जिसके निकलने से आप प्रत्युत्तर देनें में समर्थ हो सके)। (विदेघने उत्तर दिया कि) जिस समय आपने ('तन्त्वा' के अनन्तर) 'घृतस्नवीमहे' इस वाक्य का उच्चारण किया, उसी समय घृत नाम के सम्बन्ध से मुखस्थित वैश्वानरअग्नि मुख से प्रज्वलित हो पड़ा। उस प्रबल अग्नि को मैं फिर धारण करने में समर्थ न हो सका। फलतः वह बाहिर आ ठहरा ॥१९॥

(जिस प्रयोजन के लिए उक्त आख्यान बतलाया गया है, उस प्रयोजन का

दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि सामिधेनी मन्त्रों में घृत शब्द युक्त पद है, वह अग्निसमिन्धन का ही कारण समझना चाहिए। इस 'घृताच्या' पदोच्चारण से होता अग्नि का समिन्धन ही करता है, इस में वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि–'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनीमन्त्र का 'घृताच्या' पद अग्निसमिन्धन का ही प्रवर्त्तक है) ॥ २० ॥—

यही 'घृताच्या' पद की उपपत्ति है। (तदु घृताच्येति) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है–' देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः'' यह । यजमान ही (स्वर्गादि लक्षण सुख की कामना रखने से–'सुम्नं–सुखं–इच्छति' इस निर्वचन से) 'सुम्नुयु' है। यह सुम्नुयु यजमान (यज्ञ द्वारा) इन देवताओं को वश में करने की इच्छा करता है। वह यजमान ही देवताओं को प्राप्त करना चाहता है।(यजमान उन्हें प्राप्त करने में समर्थ बने) यही व्यक्त करने के लिए 'देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः' यह कहा गया है॥

यह प्रथमा सामिधेनी–ऋचा अग्निदेवतायुक्ता बनती हुई अनिरुक्ता (नामविशेष-ग्रहणविरहिता) है। सर्व ही अनिरुक्त है। (इस प्रकार सर्वात्मक अनिरुक्तभाव से युक्त) अग्निदेवतामयी इस प्रथम सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता हुआ सर्वसम्पत्ति को मुख में प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुवचन कर्म्म आरम्भ करता है ॥ २१ ॥ * ॥

इति–प्रथमसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

---

*—१—प्रथमा सामिधेनी—

"प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या । देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः" (१) ।

'हे ऋतुओ! अन्न, अर्द्धमास, पशु, स्रुक्, आदि सब मिल कर आप यजमान की सुखैषणापूर्ति के कारण बन रहे हैं। इस मन्त्र को अग्नि पक्ष में भी लगाया जा सकता है, जैसा कि पाठक विवेचना में देखेंगे।

(२) (प्रथम सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) 'अग्न आयाहि वीतये०' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भावका स्वरूप संग्राहक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का तात्पर्य्य यह है कि,-) पहिले (त्रैलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी, अन्तिरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से, एक रूप से ही थे (अर्थात् 'इदमन्तरिक्षं-इयं द्यौः' इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) द्युलोक हाथ से छूने योग्य जैसा ही था। (समन्तिक होने से सभी समीपतम थे, यही वक्तव्य है) ॥ २२ ॥

उन देवों नें यह कामना की कि, हमारे ये लोक (किंवा हमारी वसु-रुद्र-आदित्यात्मिका गणसमष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक) किस उपाय से एक दूसरे से पर्य्याप्त दूर हों, एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। (अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों, एवं कैसे प्रत्येक लोक बृहत् बनें)। (अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए) देवताओं नें 'वी-त-ये' इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक्, एवं वरीयान् कर दिया। (तभी से) ये तीनों लोक (परस्पर एक-दूसरे से, साथ ही हम से भी) पृथक् भी हैं, विदूर भी हैं, एवं वरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्ण लोक-सम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है, (जिस यजमान के यज्ञ में) 'वीतये' का उक्त रहस्य जानने वाला होता 'वीतये' पद से 'युक्त अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि सामिधेनी-ऋक् का अनुवचन करता है। ('वीतये' पद लोकप्रतिष्ठा का संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है) ॥२३॥

"गृणानो हव्यदातये" मन्त्र के इस उत्तर भाग का तात्पर्य्य यही है कि, यजमान ही (देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से) 'हव्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमाण आप, यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। "नि होता सत्सि बर्हिषि" इस अन्तिम मन्त्र भाग का तात्पर्य्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यवहन कर्त्ता, तथा देवताओं का आह्वानकर्त्ता) है, यही [पृथिवी] लोक

बर्हि [अग्निगर्भित अन्तरिक्ष] है। ('नि होता०' इत्यादि के द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह ऋक् (ऋग्भाग) इसी [पृथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस का अनुवचन करता है, वह यजमान [होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से] इसी [पृथिवी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग पृथिवी-लोकसम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है ॥२४॥+

इति-द्वितीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—२—

(३)—[द्वितीय सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर क्रमप्राप्त-"तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः०" इत्यादि तिसरी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की क्रमशः व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है]—'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः' इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, [आधिदैविक यज्ञ में] अङ्गिरा नामक प्राणात्मक ऋषियों नें [तथा वैधयज्ञ में-आङ्गिरा नामक प्राणीविध ऋषियों नें] समिधाओं से इस अग्नि का समिन्धन किया है। 'अङ्गिरः' का अर्थ यही है कि, अङ्गिरा ही अग्नि है। (अर्थात् यहां अङ्गिरा पद से अग्नि भी-अभिप्रेत है)। "घृतेन वर्द्धयामसि" इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह सामिधेनी पद [अग्निसमिन्धक घृतयुक्त पद] है। इस से अग्नि का समिन्धन ही करता है, इस में वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, यह मन्त्रभाग अग्निसमिन्धन का ही अनुग्राहक है) ॥२५॥

+—२—द्वितीया सामिधेनी—

"अग्न आयाहिवीतये गृणानो हव्य दातये। नि होता सत्सि बर्हिषि" (२)।

"हे अग्ने! देवताओं को हविः प्रदान करने के लिए, स्वयमपि हविर्भक्षण के लिए स्तूयमान आप इस यज्ञ में पधारिए। एवं होता बनकर इस दर्भासन पर विराजिए"।

"बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, यह अग्नि प्रज्वलित होता हुआ स्वरूप से बड़ा बन कर तपता है। 'यविष्ठ्य' का तात्पर्य यही है, कि (नित्य युवा बनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठ है, इसी लिए 'यविष्ठ्य' यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्भाग) इसी अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य-बनाकर उच्चरित हुई है। इसी लिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्ता है। यह अन्तरिक्ष लोक अनिरुक्त ही है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है, वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से) इसी अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य है) ॥२६॥ *

इति-तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४)—(तृतीयसामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर क्रमप्राप्त-"स नः पृथुः श्रवाय्यं०" इत्यादि चौथी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-"स नः पृथु श्रवाय्यम्" इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि, 'वह द्युलोक' (इतर लोकों की अपेक्षा) विस्तीर्ण है, फैला हुआ है, जिस द्युलोक में कि, देवता प्रतिष्ठित हैं। (देवताओं के तत्र निवास करने से ही) वह द्युलोक इतर लोकों की अपेक्षा श्रवाय्य (श्रवण परम्परा में प्रशस्त, लोक-वेद में प्रशंसनीय) है। 'अच्छा देव विवाससि' इस मन्त्रभाग से यही कहागया है कि, यह द्युलोक हमें प्राप्त हो ॥२७॥

---

*—तृतीया सामिधेनी—"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इति। हे अङ्गिरा वाग्ने ! यज्ञसम्बन्धिकाष्ठ से, तथा संस्कृत यज्ञिय आज्य से हम आपको प्रवृद्ध कर रहे हैं। हे तरुणतम ! आप बृहत्-रूप से प्रदीप्त बनो।

"बृहदग्ने सुवीर्य्यम्" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, वह द्युलोक निश्चयेन विस्तीर्ण है, जिसमें कि ये (प्राण) देवता प्रतिष्ठित हैं। यह द्युलोक (इन वीर्य्यशाली–ब्रह्म–क्षत्र–विड्वीर्य्यप्रवर्त्तक देवताओं के निवास करने से) सुवीर्य्य (शोभनवीर्य्य) बनरहा है। यह चौथी ऋचा इसी द्युलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है, वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से) इसी द्युलोक पर विजय प्राप्त करलेता है। (प्रस्तुत सामिधेनीमन्त्र द्युलोकसम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है) ॥२८॥×॥

इति–चतुर्थसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

—४—

(५)—(चतुर्थ सामिधेनी–ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर) वह होता (क्रमप्राप्त)–"ईडेन्यो नमस्यः" इत्यादि पाँचवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। (इसी के वाक्यों की क्रमशः व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)–यह अग्नि निश्चयेन स्तुति करने योग्य है, एवं नमस्कार करने योग्य है। "तिरस्तमांसि दर्शतः" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि प्रज्वलित होकर अन्धकार पुञ्ज का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है। "समग्निरिध्यते वृषाः" इस अन्तिम भाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन प्रदीप्त रहता है, जो कि वृषा (यज्ञफलवर्षक) है ॥ ÷ ॥

इति–पञ्चमसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

—५—

× —चतुर्थी सामिधेनी—"स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्य्यम्"। "हे प्रदीप्त अग्ने ! आप विपुल, श्रवणीय, मात्रावृद्ध, शोभनवीर्य्ययुक्त धन हमारे लिए प्रदान करें"।

÷ —पञ्चमी सामिधेनी—"ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा" "हे अग्ने आप स्तोतव्य हैं, नमस्य हैं, प्रदीप्त होकर तमोराशि का तिरस्कार कर दिखलाई देने वाले हैं। आप प्रदीप्त (यज्ञफलवर्षक हैं।

(६)—(पञ्चम सामिधेनी–ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त– "वृषो अग्निः समिध्यते" इत्यादि षष्ठ सामिधेनी–ऋङ् मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)–"वृषो अग्निः समिध्यते" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन (सामिधेनी से) प्रदीप्त होता है ॥ २ ॥

'अश्वो न देव वाहनः" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि अश्व बनकर ही (द्युलोकस्थ) देवताओं के लिए (अग्नि में आहुत, यज्ञातिशयोत्पादक, अतएव (यज्ञ) (नाम से प्रसिद्ध हविर्द्रव्य) का वहन करता है। (लोकभाषा में जहां 'न' कार निषेधार्थक माना गया है, वहां) ऋक् में (मन्त्रात्मिका वैदिकी भाषा में पठित) 'न' कार 'ओम्' (स्वीकृति) का वाचक है। इसी लिए 'अश्वो न देववाहनः' यह कहा गया है ॥३०॥

"तं हविष्मन्त ईडते" इस अन्तिम मन्त्रभागका यही तात्पर्य्य है कि, (चरुपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों का सम्पादन करने से) हविष्मन्त (नाम से प्रसिद्ध ऋत्विग् यजमानादि ही) इस अग्नि की (उन हवियों को देवताओं में पहुंचाने के लिए) स्तुति करते हैं। इसीलिए–'तं–हविष्मन्त ईडते' यह कहा गया है ॥३१॥*॥

इति–षष्ठसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(७)—(षष्ठ सामिधेनी–ऋङ्मन्त्र के अनन्तर वह होता क्रमप्राप्त–"वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमही०" इत्यादि सातवीं सामिधेनी का अनुवचन

---

*—षष्ठी सामिधेनी—

"वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते"।

"अश्व की तरह देवताओं के लिए हविर्वहन करने वाला यज्ञफलवर्षक अग्नि

करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—'वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, ऋत्विक्लोक अवश्यमेव इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। 'अग्ने दीद्यन्तं बृहत्" इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, (पूर्व सामिधेनियों से) प्रदीप्त यह अग्नि (अब अधिक मात्रा से) बड़ा, तथा अतिशय रूप से प्रदीप्त बन गया है ॥३२॥÷

इति—सप्तमसामिधेनी—मन्त्रव्याख्यानम्

—७—

"ईडेन्यो नमस्यः०"-'वृषो अग्निः समिध्यते०"-"वृषणं त्वा वयं वृषन्०" इन तीन मन्त्रों में 'वृषन्' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों की समष्टि-रूप त्रिच को 'वृषण्वन्तत्रिच' कहा गया है। इस वृषण्वन्त त्रिचका एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)— वह होता (वृषन्शब्द युक्त तीन मन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ) वृषण्वन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। ये सब सामिधेनियाँ आग्नेयी होतीं हैं। (यज्ञाग्नि के समिन्धन के लिए ही आग्नेयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है, परन्तु अग्नि जब तक इन्द्र को साथ नहीं लेलेते, तब तक इनका समिन्धन अपूर्ण रहता है। क्योंकि) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ के देवता (पति) हैं। साथ ही इन्द्र वृषा है। (इस प्रकार वृषण्वन्त त्रिच के अनुवचन से) सब आग्नेयी सामिधेनियां इन्द्रयुक्त भी बन जाती हैं। इसी प्रयोजन के लिए वृषण्वन्त त्रिच का अनुवचन करता है। (अन्य आग्नेयी त्रिच से अनुवचन न कर वृषन्पद

÷—सप्तमी सामिधेनी—

"वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यन्तं बृहत्"।

"हे यज्ञफलवर्षक अग्ने! आहुतिवर्षक हम ऋत्विक्लोग यज्ञाहुतिवर्षक आपको प्रदीप्त कर रहे हैं। हम ऐसे बृहत्रूप से प्रदीप्त अग्नि का बृहत् रूप से समिन्धन कर रहे हैं।

युक्त त्रिच से अनुवचन करने का यही प्रयोजन है कि, अग्निसमिन्धन के साथ साथ यज्ञ में यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध हो जाय, यही तात्पर्य्य है) ॥ ३३ ॥

(सप्तम सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता **'अग्निं दूतं वृणीमहे"०** इत्यादि आठवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी मन्त्र की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि—"अग्निं दूतं वृणीमहे०" का वह होता अनुवचन करता है, इसका तात्पर्य्य यही है कि—

"एक बार (प्रजापति की सन्तानें होनें से) प्राजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) देवता, और असुर दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करते हुए इन दोनों के बीच में (समझौता कराने के लिए) गायत्री आ खड़ी हुई। (उस समय) मध्य में खड़ी होने वाली जो गायत्री थी, यही वह पृथिवी है। यही (पृथिवी ही) तो दोनों के बीच में खड़ी हुई (थी)। उन दोनों ने परस्पर यह सन्धा (शर्त्त) निश्चित की कि, अपन दोनों में से जिन की ओर यह पृथिवी लौट आएगी, वे जीते हुए माने जायँगे, एवं (इसके सम्बन्ध से वञ्चित) दूसरे पराजित समझे जायँगे। (यह सन्धा निश्चित कर) उस पृथिवी को देवता, तथा असुर दोनों ही अपनी अपनी ओर बुलाने का प्रयास करने लगे। दोनों ने उसके पास अपने अपने दूत भेजे। (इन में) अग्नि ही देवताओं के दूत थे, एवं 'सहरक्षा' नामक असुरों के दूत थे। दोनों में से पृथिवी देवदूत अग्नि की ओर ही लौट आई।" इसीलिए—**'अग्निं दूतं वृणीमहे'** यह कहा गया है। वास्तव में (उक्त पुरावृत्त के अनुसार) अग्नि निश्चयेन देवताओं के दूत थे ॥ मन्त्र का दूसरा भाग है—**"होतारं विश्ववेदसम्"** यह ॥ ३४ ॥

कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि, ('होतारं विश्ववेदसम्' के स्थान में) **'होता यो विश्ववेदसः'** ऐसा मन्त्र बोलना चाहिए। (कारण इस परिवर्त्तन का ये याज्ञिक यह बतलाते हैं कि) 'हम आत्मा को 'अरम्' न कहैं। (तात्पर्य्य यही है कि—'होतारं विश्ववेदसं' 'होतारं' पद में 'होता—अरं' यह व्यवच्छेद भी बन रहा है।

अरं शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस 'अरं भावना से फल यह निकलेगा कि, होता का इस यज्ञसंस्था से पृथक्करण होजायगा। इस आशङ्का से बचने का यही उपाय है कि, होतारं के स्थान में 'होता यो विश्ववेदसः' इस मन्त्ररूप का ऊह कर लिया जाय)"।

(इस मानुषकल्पनानुगत मन्त्र–ऊहपक्ष का आमूल चूड खण्डन **करते हुए** भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि)–होता को चाहिए कि वह वैसा (**होता यो विश्व-वेदसः**, ऐसा) कभी न बोले। (अपनी कल्पना से शब्दों की मनमानी उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्वतः—सिद्ध मन्त्रों के स्वरूप में परिवर्त्तन करते हुए यज्ञे-तिकर्त्तव्यता में मनमाना परिवर्त्तन करते हैं) वे यज्ञ में मानुषभाव का समावेश करते हैं। वह यज्ञ की व्यृद्धि (समृद्धि विनाश) है, जो कि काल्पनिक मानुषभाव है। हम अपने यज्ञ में देवसमृद्धि विघातक (मानुषभाव का) समावेश न कर बैठें, इसलिए प्रत्येक दशा में यह आवश्यक है कि जैसा ऋचा से (सिद्धमन्त्र से) कहा गया है, वैसा ही होतारं विश्ववेदसम्' इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए।

"अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यही इस यज्ञ का सुक्रतु (उत्तमरूप से यज्ञकर्म्म का सम्पादन करने वाला) है। जो कि अग्नि है। इसीलिए 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' कहा गया है। (मन्त्र व्याख्यान बतला कर पूर्वोक्त आख्यान का उपसंहार करती हुई श्रुति कहती है कि, देवदूत अग्नि के जाने से) वह यह पृथिवी देवताओं की ओर लौट आई। परिणामतः (निश्चित सन्धा के अनुसार) देवता जीतगए, एवं असुर पराजित होगए। वह यजमान अपने आत्मा से (शत्रुपक्ष की प्रतिस्पर्द्धा में) विजय लाभ करता है, एवं उसके शत्रु परा-जित होजाते हैं, जिस यजमान का एवंवित् होता **'अग्निदूतं०'** इत्यादि सामिधेनी

का अनुवचन करता है। (शत्रुपराजय, एवं यजमान का विजय भी इस सामिधेनी-अनुवचन का फल है, यही तात्पर्य्य है) ॥ ३५ ॥ ÷

इति–अष्टम सामिधेनीमन्त्रव्याख्यानम्

—८—

(मूलतः सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए हैं। इनमें से–'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इस प्रथम मन्त्र का, तथा "आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि ग्यारहवें मन्त्र का तीन तीन बार अनुवचन होता है। फलतः ४ अनुवचनों की वृद्धि से ११ के स्थान में १५ अनुवचन हो जाते हैं। यही अनुवचन सम्बन्ध में एक पक्ष है। क्रमप्राप्त संख्या के अनुसार 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि मन्त्र आठवां पड़ता है। प्रथम–मन्त्र के त्रिरावृत्त उच्चारण से यद्यपि 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' मन्त्र १० वीं संख्या पर आकर ठहरता है, तथापि चूंकि उस एक ही मन्त्र का त्रिरावर्त्तन है, अतः 'अग्निं दूतं०' की अष्टमी संख्या की मौलिकता सुरक्षित रहती है, जिसका सुरक्षित रहना आवश्यक है।

दूसरा पक्ष सप्तदश संख्या से सम्बन्ध रखता है। 'दर्शपूर्णमास में १७ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए' इस पक्षान्तर में २ संख्याओं की पूर्त्ति के लिए ११ मौलिक मन्त्रों से अतिरिक्त जिन दो मन्त्रों का इन ग्यारहों में समावेश किया जाता है, उन्हें–"उपरिष्टात्–दधाति" इस निर्वचन से–"धाय्या" कहा जाता है। इन 'धाय्या' नामक ऋचाओं का आधान (समावेश) ११ में से कहां करना? यह विचार प्रस्तुत है। सिद्धान्ततः 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इस मन्त्र के अन-

---

÷—अष्टमी सामिधेनी—

"अग्नि दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्"।

"मैं उस देवदूत अग्नि का वरण कर रहा हूं, जो देवताओं का आह्वान करने से होता नाम से, विश्वसम्पत्ति परिज्ञान से 'विश्ववेदसः' नाम से, एवं इस यज्ञकर्म्म का श्रेष्ठ सञ्चालक होने से 'सुक्रतु' नाम से प्रसिद्ध है।

न्तर ही इन का अनुवचन होता है। तभी इस मन्त्र का अष्टमी-भाव सुरक्षित रह सकता है। इसी सिद्धान्त पक्ष को दृष्टि में रखती हुई, धाय्या ऋचाओं के उत्तर में आधान को लक्ष्य बनाती हुई श्रुति कहती है कि:—

'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि ऋचा का अष्टमी रूप से (आठवीं मान कर 'वृषणं त्वा वयं वृषन्०' इत्यादि सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही) अनुवचन करना चाहिए। क्योंकि यह सामिधेनी ऋचा (११ संख्या में से आठवीं संख्या पर पड़ती हुई) निदानविधि से गायत्री है। गायत्री अष्टाक्षरा है, (गायत्र अग्नि का छन्द है, यहां इस सामिधेनी कर्म्म से होता को अग्नि-समिन्धन करना है। ऐसी स्थिति में जब निदानमर्य्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुई गायत्र सम्पत्ति से स्वतः युक्त हो रही है, तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनुवचन करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, गायत्राग्नि सम्पत्ति प्राप्त्यर्थ—'अग्नि दूतं०' इत्यादि सामिधेनी का सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही अनुवचन होना चाहिए ॥२६॥

('अग्निं दूतं०' की अष्टसंख्यानुवचनगता गायत्रसम्पत्ति में जो आपत्तिजनक पक्ष है, उसको बतलाकर, अन्त में उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती हुई श्रुति कहती है कि)—कितने एक याज्ञिक 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा 'वृषणं त्वा वृषन्०' इस सातवीं ऋचा के आगे '*पृथु पाजाः०'—'तं सबाधः०'' इन) दोनों धाय्या ऋचाओं का स्थापन करते हैं। साथ ही "अन्न का ही नाम 'धाय्या' है, (अर्थात् धाय्या ऋचाएं अन्नस्थानीया हैं, क्योंकि अन्न का भी मुख में बाहिर से आधान होता है, एवं इन दोनों ऋचाओं का भी

*—"पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुतः। अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्" (ऋक् सं० ३।२७।५)।

"तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः। आचक्रुरग्निमूतये" (ऋक् सं० ३।२७।६)।

अन्नवत् बाहिर से इन ११ ऋचाओं में आधान होता है। इसी सादृश्य से दोनों धाय्या ऋचाओं को अन्नस्थानीय कहा जा सकता है। उधर आठवीं ऋचा गायत्र सम्पत्ति से युक्त रहती हुई गायत्री छन्दस्क गायत्र अन्नादाग्नि स्थानीया है, अन्नादाग्नि को मुखस्थानीया है। ऐसी स्थिति में इस मुखस्थानीया आठवीं ऋचा से पहिले धाय्या का स्थापन करते हुए हम) मुख भाग से ही (अन्नादाग्नि में) अन्न का आधान करते हैं," यह कहते हैं। (अर्थात् अष्टमी से पहिले धाय्या–अनुवचन की वे याज्ञिक उक्त उपपत्ति बतलाते हैं)।

परन्तु होता को चाहिए कि, वह ऐसा कभी न करे। उस होता के लिए वह गायत्री गायत्रसम्पत्तिसंग्रह में असमर्थ रह जाती है, जो होता इस से पहिले धाय्या ऋचाओं का स्थापन करता है। उस दशा में 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि ऋचा दशमी, तथा एकादशी बन जाती है। (अर्थात् आठवीं से पहिले दोनों के आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है, एवं १० वीं (समिध्यमानोऽध्वरे० यह) एकादशी बनजाती है)।

(तात्पर्य्य यही है कि, जिस अष्टम संख्यानुगत गायत्रसम्पत्ति के सम्बन्ध से वे याज्ञिक इसे अन्नाद मानते हुए अन्नरूप से इस से पहिले धाय्या ऋचाओं का आधान करना चाहते हैं, उन के मत से तो आठवीं आठवीं न रहकर जब दशमी बन जाती है, तो उनकी अन्नादानुगता उपपत्ति भी व्यर्थ हो जाती है, साथ ही आठवीं को आठवीं रखने से यज्ञ में जो गायत्री सम्पत्ति मिलती है, उससे भी वे वञ्चित रह जाते हैं)।

उसी यजमान के लिए यह आठवीं ऋचा अनवक्लृप्ता (गायत्रसम्पत्तिप्रदात्री) बनती है, जिस यजमान के (यज्ञ में) होता इसे अष्टमी बनाकर अनुवचन करता है। इस लिए ('अग्निं दूतं०' के गायत्र भाव को सुरक्षित रखने के लिए) इस से आगे–'समिध्यमानो अध्वरे०'–"समिद्धो अग्न आहुतः" इन ९ वीं, १० वीं ऋचाओं के मध्य में ही दोनों धाय्या ऋचाओं का स्थापन करना चाहिए ॥२७॥

(अष्टम सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त—"**समिध्यमानो अध्वर०**" इत्यादि नवम सामिधेनी मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—"**समिध्यमानोअध्वरे**" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यज्ञ ही निश्चयेन अध्वर है। (प्रकृत मन्त्रभाग द्वारा) हे अग्ने! आप यज्ञ में प्रदीप्त हैं, यही कहा गया है। "**अग्निः पावक ईड्यः**" इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन (अपने दाहक तेजो-धर्म्म से दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पावक है, एवं (प्राणिमात्र के उपयोग में आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणिमात्र से) स्तुत्य है। "**शोचिष्केशस्तमीमहे**" इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, (सामिधेनी से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (स्थानीय रश्मियाँ) प्रज्वलित से रहते हैं ॥×॥

इति—नवमसामिधेनीमन्त्रव्याख्यानम्

—९—

(१०)—(नवम सामिधेनीमन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त "**समिद्धो अग्न आहुत०**" इत्यादि दशम सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। श्रुति क्रमप्राप्त उसी की व्याख्या करती है)—"**समिद्धो अग्न आहुत**" इति। (इस अनुवचन कर्म्म से पहिले होने वाले एक विशेष कर्म्म की प्रासङ्गिक इति-कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)—इस दशमी सामिधेनी के अनुवचन से पहिले पहिले अग्निसमिन्धनार्थ गृहीत सम्पूर्ण इध्म काष्ठ, अनुयाजार्थ केवल एक समिधा के अतिरिक्त अग्नि में डाल देना चाहिए। (इस अनुवचन से पहिले पहिले ही क्यों सर्वेध्मकाष्ठ का अभ्याधान आवश्यक माना गया? इस का समा-

×—नवमीसामिधेनी—"समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केश-स्तमीमहे"।

"इस यज्ञ में सामिधेनियों से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पावक है, स्तुत्य है। प्रज्व-लित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे हैं"।

धान करती हुई श्रुति कहती है कि) इस 'समिद्धो अग्न आहुतः' रूप अनुवचन कर्म्म से होता अग्निसमिन्धन कर्म्म समाप्त कर लेता है (तभी तो 'समिद्धो अग्न आहुतः' कहना अन्वर्थ बनता है। अर्थात् जिस अग्निसमिन्धन कर्म्म के लिए इध्म-काष्ठ का ग्रहण होता है, वह कर्म्म इस से पहिले पहिले समाप्त है। फलतः अब इध्म बचाना निरर्थक बन जाता है)। अनुयाजार्थ एक इध्म के अतिरिक्त यदि इध्म बच रहता है, तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म्म से अतिरिक्त—बचा हुआ—अधिक) कहलाता है। जो यज्ञ का अतिरिक्त (उपयोग से बचाहुआ—उबराहुआ) भाग है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के कृत्रिम, तथा सहजशत्रु की समृद्धि का कारण बनता है। इसलिए इस से पूर्व पूर्व अनुयाजार्थ एक समिध को छोड़कर शेष बचे सारे इध्म-काष्ठ को अग्नि में डाल देना चाहिए ॥२८॥

"देवान् यज्ञिस्वध्वर" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, अध्वर यज्ञ का ही नाम है, (प्रकृतमन्त्र भाग से) 'हे सुयज्ञिय आप देवताओं का यजन कीजिए" यही कहा गया है। **"त्वं हि हव्यवाडसि"** इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, यही अग्नि (देवताओं के लिए द्युलोक में पृथिवी से हविर्वहन करने के कारण) हव्यवाट् कहलाए हैं। इसीलिए 'त्वं हि हव्यवाडसि' यह कहा गया है ॥ * ॥

इति—दशमसामिधेनी—मन्त्रव्याख्यानम्

—१०—

(११)—(दशम सामिधेनी—मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त **"आजुहोता दुवस्यत०"** इत्यादि एकादश सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। इसी

---

*—दशमी सामिधेनी—

"समिद्धो अग्न आहुत देवान् यज्ञिस्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि"

'समिध काष्ठ से युक्त अग्नि समिद्ध होगया है। हे सुयज्ञिय यज्ञाग्ने! आप देवताओं का यजन कीजिए। आप निश्चयेन देवताओं के लिए हवि लेजाने वाले हैं'।

की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)—"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इस सामिधेनी ऋचा से अग्नि को (स्वकर्मप्रवृत्ति के लिए) प्रेरित ही (नियुक्त ही) करता है। आजुहोता दुवस्यत' इस मन्त्रभाग से) हे ऋत्विजो ! हवन कीजिए, देवताओं का यजन कीजिए, जिस कर्म्म के लिए, जिस कामना के लिए अग्नि को होता ने समिद्ध किया है, वह कीजिए" यही कहा है। "अग्निं प्रयत्यध्वरे" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, 'अध्वर यह यज्ञ का नामान्तर है। (प्रकृत मन्त्र भाग से) "यज्ञकर्म्म के आरम्भ होने पर अग्नि को" यही कहा गया है। "वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह जो अग्नि है, वही हव्यवाहन है। इसलिए 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' यह कहा गया है ॥३९॥×॥

इति-एकादशसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—११—

("समिध्यमानोअध्वरे०"—'समिद्धो अग्न आहुत"—"आजुहोता दुवस्यत०" इन तीन मन्त्रों में 'अध्वर' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों मन्त्रों की समष्टिरूप इस त्रिच को 'अध्वरवन्त' त्रिच कहा जाता है। जैसे पूर्व 'वृषण्वन्त' त्रिच का एक विशेषफल बतलाया गया था, वैसे ही इस अध्वरवन्त त्रिच का अग्निसमिन्धन के अतिरिक्त एक विशेषफल बतलाती हुई श्रुति कहती है)-वह होता ('अध्वर' शब्द युक्त तीन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ) अध्वरवन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [इस का फल यही है कि]-यज्ञ से यजन करते हुए देवताओं के ऊपर सहजशत्रु असुरों नें हिंसात्मक आक्रमण किया। [परन्तु इस

×—एकादशी सामिधेनी—

"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्"।

हे ऋत्विजो ! जिस कर्म्म के लिए अग्नि का समिन्धन किया था, वह आहुति-यजन कर्म्म आरम्भ करो। यज्ञ प्रक्रान्त होगया। हव्यवाहन अग्नि का वरण करो।

अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] हिंसात्मक आक्रमण करते हुए भी असुर इन की हिंसा करने में समर्थ न होसके। [यही नहीं, अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] ये उलटे परास्त होगए। [चूंकि इस यज्ञाग्निरूप यज्ञ ने देवताओं को हिंसा से बचा लिया] अतएव यज्ञका नाम 'अध्वर' होगया। उस यजमान के वे हिंसक शत्रु यजमान पर हिंसात्मक आक्रमण करते हुए स्वयमेव परास्त होजाते हैं, जिस यजमान के [यज्ञ में] एवंवित् होता अध्वरवन्त त्रिच का अनुवचन करते हैं। [शत्रु-आक्रमण निरोधपूर्वक शत्रु-पराभव ही इस अध्वरवन्त त्रिचानुवचन का एक फल है, यही तात्पर्य्य है] ॥

अपि च-[अध्वर शब्द सोमयाग में रूढ है, जैसाकि-"सौम्ये अध्वरे" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दर्शपूर्णमास में सामिधेन्यनुवचन कर्म्म में जब अध्वरवन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है, तो] सौम्य अध्वर से यजन कर यजमान जितना-जो फल प्राप्त करता है, वही फल इसे इस अध्वरशब्दयुक्त दर्शपूर्णमास से मिल जाता है। [यही अध्वरवन्त त्रिच का एक दूसरा महत्व पूर्ण-फल है] ॥४०॥

इति सामिधेन्यनुवचनम्

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में
तीसरा ब्राह्मण समाप्त

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

अथ-निगदानुवचनम्

देवताओं नें [इस सामिधेनी अनुवचन द्वारा] अग्नि को *गुरुतम कार्य्य में युक्त किया, जोकि होतृत्व में नियुक्त किया, [जिस गुरुतम कार्य्य का स्वरूप]

---

* गुरुतम-जिम्मेवरी का कार्य्य

'हमारा यह हव्य [पृथिवीसे द्युलोक में तत्रस्थ देवताओं के लिए] लेजाओ' यह है। इस प्रकार उस अग्नि को ऐसे गुरुतम कार्य्य में नियुक्त कर देवताओं ने इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीर्य्यवान् हैं। आप (वास्तव में) इस हविर्विहन कर्म्म में समर्थ हैं, इत्यादिरूप से इस में वीर्य्याधान करते हुए ही। जैसे कि [लोकव्यवहार में] मनुष्य अपनी जाति में से जिसे किसी गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करते हैं, उस को बढ़ावा देते हैं कि, आप वीर्य्यवान् हैं, आप अमुक काम करने में समर्थ हैं, इस प्रकार उस में वीर्य्याधान करते हुए ही। [तात्पर्य्य यही है कि लोक में गुरुतम कार्य्य में नियुक्त व्यक्ति का उत्साह बढ़ाने के लिए नियोक्ता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं, उसे बढ़ावा देते हैं, ठीक वैसा ही यह निगदानुवचन कर्म्म है]। वह ऋत्विक् सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है, उन से वह इस अग्नि को बढ़ावा ही देता है, [और इस बढ़ावेसे अग्नि में वीर्य्य का ही आधान करता है। [यही निगदानुवचन कर्म्म की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाती हुई श्रुति कहती है-]- '**अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत**" इति। अग्नि ही ब्रह्म (ब्राह्मणजाति) है, इसी अभिप्राय से 'ब्राह्मण' यह कहा गया है। 'भारत' सम्बोधन का यही तात्पर्य्य है कि, यही अग्नि [पृथिवी लोक से द्युलोक में तत्रस्थ] देवताओं के लिए हवि का भरण करता है, इसलिए 'यह अग्नि भरत है' यह प्रसिद्ध है। अपि च प्राणरूप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] में परिणत होकर यही सम्पूर्ण पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करता है, इसलिए भी 'भारत' यह कहा है। [आधिदैविक देवप्रजा का हविद्वारा, आध्यात्मिक पार्थिव प्रजा का अन्नद्वारा भरणपोषण करने के कारण अग्नि 'भारत' कहलाया है, यही तात्पर्य्य है]। (आप महान् हैं, वर्णों में ब्राह्मणवर्ण बनतेहुए सर्वमूर्द्धन्य हैं, एवं त्रैलोक्य प्रजा के पालन में समर्थ बनते हुए भारत हैं, आप अवश्य ही इस होत्रकर्म्म को पूरा करेंगे, यही इस निगदवचन का तात्पर्य्य है) ॥२॥

इति-निगदानुवचनम्

अथ—आर्षेयानुवचनम्

(उपमदात्मक स्तुतिकर्म्म के अनन्तर होतृकर्तृक आर्षेयकर्म्म की इति कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है) वह होता उक्त स्तुति कर्म्म के अनन्तर आर्षेय प्रवरण करता है। (इस कर्म्म से यह) होता (इस यजमान को) ऋषियों, तथा देवताओं के लिए ही निवेदन करता है, 'यह यजमान (सचमुच) बड़ा पुरुषार्थी है, जो इस यज्ञ (जैसे महत्कर्म्म) को प्राप्त कर सका, इसी भावना के लिए । (अर्थात् यजमान को यशस्वी बनाने के लिए ही यह कर्म्म होता है) इस लिए होता आर्षेय प्रवरण करता है ॥३॥

पूर्वसे इधर की ओर प्रवरण करता है। (कारण यही है कि) पूर्व कीओर से ही अर्वाक्-प्रजाएं उत्पन्न होतीं हैं। अपिच इस क्रम से होता पूर्व के ज्येष्ठ पुरुषों के महत्व को सुरक्षित रखता है। यह पिता पहिले है, अनन्तर पुत्र है, अनन्तर पौत्र है, (यही क्रम है)। इसलिए (भी) पहिले से इस ओर के क्रम से ही प्रवरण करता है ॥ ४ ॥

(जब कोई व्यक्ति किसी महत कार्य में प्रवृत्त होता है, तो इस से उस के पूर्व वंशजों का कीर्त्तिविस्तार माना जाता है। इसी यशोविस्तार के लिए यजमान के पितामह, पिता, स्वयं का, इसी क्रम से—'असावसौ' रूप से आर्षेय प्रवरण होता है। इस प्रवरण का ऋषि से सम्बन्ध है। उस ऋषि परम्परा से ही प्रवरण होता है, जैसा कि आगे आने वाले 'उत्तरावार ब्राह्मण' में स्पष्ट होने वाला है।)

इति—आर्षेयानुवचनम्

अथ—निवित्पाठः

आर्षेय कह कर वह होता 'देवेभ्यो मन्विद्धः?' इत्यादि रूप से निवित्पाठ करता है। सब से पहिले देवताओं ने हीं इस अग्नि को प्रज्वलित किया था, इसी

लिए—'देवेद्धः' यह कहा गया है। (देवताओं के अनन्तर मनुष्य सम्प्रदाय में) सब से पहिले इस अग्नि को मनु ने प्रज्वलित किया था, इसीलिए 'मन्विद्धः' यह कहा है ॥ ५ ॥

"ऋषिष्टुतः" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, सब से पहिले ऋषियों नें ही इस अग्नि की स्तुति की थी। इसीलिए 'ऋषिष्टुतः' यह कहा है ॥६॥

'विप्रानुमदितः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यही निश्चयेन विप्र कहलाए हैं, जोकि ऋषि हैं। इन ऋषियों नें हीं इस अग्नि को प्रसन्न किया था, अतएव विप्रानुमदितः' यह कहा है ॥७॥

"कविशस्तः" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, ये ही निश्चयेन कवि नाम से प्रसिद्ध हैं, जोकि ऋषि हैं। इन्हीं ऋषियों नें इस अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुशगत शस्त्र प्रक्रिया से) शंसन किया था, अतएव 'कविशस्तः' यह कहा है ॥८॥

"ब्रह्मसंशितः" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन ब्रह्म से सुतीक्ष्ण किया गया है। "घृतहवनः" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, [यह अग्नि स्वरूप रक्षा के लिए] घृत का आह्वान करने वाला [घृत-प्रिय] है ॥९॥

"प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्" [इस निवित् के 'प्रणीर्यज्ञानाम्' भाग का यही तात्पर्य्य है कि] ऋत्विक् लोग इसी अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं, जो कि पाक यज्ञ हैं, एवं जो अन्य यज्ञ हैं। इसी लिए— 'प्रणीर्यज्ञानाम' यह कहा है ॥१०॥

[उक्त निवित के] "रथीरध्वराणाम्" इस निवित का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि रथ बन कर ही देवताओं के लिए यज्ञ [हवि] का वहन करता है। इसी लिए—'रथीरध्वराणाम्' यह कहा है ॥११॥

"अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, इस अग्नि को राक्षस पार नहीं कर सकते। इसीलिए 'अतूर्त्तो होता' यह कहा गया है। 'तूर्णिर्हव्यवाट्' का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि स्वयं सब पाप्माओं को पार करने में समर्थ है। इसीलिए—'तूर्णिर्हव्यवाट्' यह कहा है ॥१२॥

"आस्पात्र जुहूर्देवानाम्" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन (सर्वदेवताहुति—मुखस्थानीय बनता हुआ) देवपात्र है। इसी लिए अग्नि में सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति देते हैं। क्योंकि यह वास्तव में देवपात्र है। जो अग्नि की इस पात्रता को जानता है, वह जिस पात्र [भोज्यवस्तु] को प्राप्त करना चाहता है, उसी अभीष्ट पात्र को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥

"चमसो देवपानः" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, चमस रूप में परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुतिद्रव्य खाते हैं। इसी लिए 'चमसो देवपानः' यह कहा है ॥१४॥

"अराँ २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि" इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेमि चारों ओर से व्याप्त करती है, इसी प्रकार आप [अग्नि] देवताओं के चारों ओर से व्याप्त (घेरे रहते) हैं, प्रकृत निवित् से यही कहा है ॥१५॥

इति—निवित्पाठः

अथ-दवतावाहनम्

[उक्तरूप से निवित्पाठ करने के अनन्तर देवतावाहन कर्म्म होता है। उसी की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है]—"आवह देवान् यजमानाय"

ही कहा गया है। 'अग्निमग्न आवह' इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आज्यभाग के प्रति अग्नि को लाने के लिए कहा गया है। "सोममावह" इस मन्त्र से अग्नि को सौम्य आज्य भाग के प्रति सोम को लाने के लिए कहा गया है। "अग्निमावह" इस मन्त्र से अग्नि को, जो कि दर्श-और-पूर्णमास दोनों यज्ञों में अपरिहार्य आग्नेय पुरोडाश है, उस के प्रति अग्निको लाने के लिए ही कहा गया है॥१६॥

[दर्शपूर्णमास-दोनों में जो अग्नि पुरोडाश देवता है उसके आवहन के] अनन्तर [निर्वापकाल में जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता हविर्निर्वाप हुआ था, उसी क्रम से] उस उस देवता का 'अग्नीषोमावावह' इत्यादि रूप से आवाहन करना चाहिए।

"देवाँ ३॥ आज्यपाँ ३॥ आवह" इस मन्त्र से (आज्यपान करनेवाले) प्रयाज अनुयाज देवताओं के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। प्रयाज (ऋतु), अनुयाज (छन्द) देवता ही आज्यपा देवता हैं। "अग्निं होत्रायावह" इस मन्त्र से होत्रकर्म्म के लिए अग्नि के आह्वान के लिए ही अग्नि से प्रार्थना करता है। "स्वं महिमानमावह" इस मन्त्र से अग्नि की अपनी महिमा (साहस्रीरूप) के आह्वान के लिए ही अग्नि से प्रार्थना करता है। वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा (वाङ्मयी वषट्काररूपा महिमा) है। इस से इस वाक् के आह्वान के लिए ही प्रार्थना करता है। "आ च वह जातवेदः सुयजा च यज" इस मन्त्र से जिन देवताओं के आह्वान की यह प्रार्थना अभीष्ट है, उन्हीं के आह्वान के लिए प्रार्थना करता है। 'हे अग्ने आप उन (यज्ञिय अभीष्ट) देवताओं को इस यज्ञ में लाइए, एवं यथाविधि उन आगत देवताओं का यजन कीजिए' यही कहा है, जोकि-'सुयजा च यज' यह कहा है ॥१७॥

वह होता खड़ा होकर यह देवतावाहन कर्म्म करता है। आवाहन कर्म्म अनुवचन कर्म्म है [देवताह्वान कर्म्म है]। एवं यह (त्रिदूरस्थ) द्युलोक निश्चयेन अनुवाक्या है। [अर्थात् द्युलोक पृथिवी पर खड़ा हुआ सा है। ऐसी अवस्था में

खड़ा खड़ा द्युलोकस्य देवताओं का आह्वान करता हुआ होता) इस द्युलोक-सम्पत्तिसदृश बनकर ही आह्वान करता है। इस लिए खड़ा खड़ा ही देवता-वाहन मन्त्रों का उच्चारण करता है ॥१८॥

(खड़े खड़े आवाहन मन्त्र बोलने का क्या हेतु है ? यह बतला कर अब बैठकर आवाहन कर्म्म करने में दोषोद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है)–वह ऋत्विक् (अध्वर्यु) बैठकर याज्या (एतन्नामक ऋचा) का उच्चारण करता है। यही (पृथिवी) याज्या है। (यह बैठी हुई सी है)। इसीलिए कोई भी याज्ञिक खड़ा खड़ा याज्या का उच्चारण नहीं करता। निश्चयेन पृथिवी याज्या है। (बैठ कर याज्या का उच्चारण करता हुआ) अध्वर्यु याज्यारूपा पृथिवी के स्वरूप में परिणत होकर ही याज्या का उच्चारण करता है। इसलिए बैठकर याज्या–यजन करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, अनुवाक्या द्युलोक है, याज्या भूलोक है। आह्वानकर्म्म का द्युलोक से सम्बन्ध है, यजनकर्म्म का भूलोक से सम्बन्ध है। द्यु-लोक तिष्ठत् है, भूलोक आसीन है। अतः इसी रूप से अनुवाक्या, एवं याज्या कर्म्म होना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक यज्ञसम्पत्ति से वञ्चित रहना है) ॥१९॥

इति–देवतावाहनम्

चौथे अध्याय म दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

समाप्त

चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवां ब्राह्मण

अथ–शान्तिकर्म्म (आभिचारात्मकम्)

जो अग्नि सामिधेनी ऋचाओं से समिद्ध होजाता है, वह इतर सामान्य प्रज्व-लित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रज्वलित रहता है। ऐसा समिद्ध अग्नि

धर्षण के, तथा स्पर्श के अयोग्य होजाता है। (न इसका कोई कुछ बिगाड़ ही सकता, न कोई स्पर्श ही कर सकता, क्योंकि इस में मन्त्रविद्युत का समावेश रहता है, यही तात्पर्य्य है) ॥ १ ॥

सो जिस प्रकार सामिधेनी मन्त्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता है, वैसे ही वह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण (होता) भी (प्रखर रूप से) तपने लगता है। (साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की तरह मन्त्रप्रयोक्ता यह ब्राह्मण भी धर्षण, तथा स्पर्श के अयोग्य बन जाता है ॥ २ ॥

(जिस प्रकार सामिधेनी मन्त्रों से आहवनीय अग्नि के अङ्ग प्रत्यङ्ग समिद्ध होजाते हैं, एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्त्ता होता के अङ्ग प्रत्यङ्ग भी समिद्ध होजाते हैं। किस सामिधेनी-ऋग्भाग से कौन सा अङ्ग समिद्ध होता है ? इसी प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्न प्रकरण आरम्भ होता है)—

वह होता 'प्र वो वाजा०' इत्यादि प्रथमा सामिधेनी ऋक् का (जिस समय) उच्चारण करता है, (उस समय अपने प्राणसमिन्धन की भावना करता है)। प्राण निश्चयेन (प्र शब्द से युक्त होता हुआ, साथ ही गतिधर्म्मा बनता हुआ) 'प्रवान्' है। इस प्रथम ऋचा से यह होता अपने प्राण को ही प्रज्वलित करता है।

'अग्न आयाहि वीतये' (इस का अनुवचन करता है)। अपान निश्चयेन एतवान् (आगमनधर्म्मा) है। इस दूसरी ऋचा से होता अपने अपान को ही समिद्ध करता है।

'तं त्वा समिद्भिः० इत्यादि तृतीय सामिधेनी ऋचा के)'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' (इसके अनुवचन से उदान का ही समिन्धन करता है) उदान निश्चयेन बृहच्छोचा (तेजो नाड़ी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त) है। इस ऋग्भाग से होता अपने उदान को ही समिद्ध करता है ॥ ३ ॥

"स नः पृथुश्रवाय्यम्" (इसके अनुवचन से श्रोत्र का ही समिन्धन करता है)। श्रोत्र निश्चयेन पृथुश्रवाय्य (विस्तीर्ण श्रवण साधन) है। श्रोत्र से ही दिशा-अन्तरिक्ष में व्याप्त शब्द सुनता है। इस ऋक् से होता अपने श्रोत्र को ही समिद्ध करता है ॥ ४ ॥

"ईडेन्यो नमस्यः" (इसके अनुवचन से वाक् का ही समिन्धन करता है)। वाक् निश्चयेन ईडेन्या (स्तुति करने वाली, किंवा स्तुति का साधन, किंवा स्तुति करने योग्य) है। वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति (उपादानत्वेन वितान-विस्तार) करती है, एवं वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईडित (स्तुत-वितत) है। इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥ ५ ॥

("वृषो अग्निः समिध्यते०' इत्यादि ६ ठी ऋचा के) "अश्वो न देव वाहनः" (इस ऋग्भाग से मन का ही समिन्धन करता है)। मनही देववाहन [देवनिर्मित इन्द्रियों की आधार भूमि, तथा यज्ञिय देवताओं की संकल्पद्वारा आधार भूमि] है। मनही मनस्वी पुरुष को [सामान्य पुरुष की अपेक्षा] अतिशय रूप से समृद्ध बनाए रखता है, उठाए रखता है उन्नत रखता है। इस ऋग् भाग से होता मन को ही समिद्ध करता है ॥६॥

('वृषणं त्वा वयं वृषन्० इत्यादि ७ वीं ऋचा के) "अग्ने दीद्यन्तं बृहत्" (इस ऋग्भाग से चक्षु का ही समिन्धन करता है)। चक्षु निश्चयेन प्रज्वलित अङ्गार से है। इस ऋग्भाग से होता अपने चक्षु को ही समिद्ध करता है ॥७॥

"अग्निं दूतं वृणीमहे" इस आर्षेयी ऋचा से, जो कि इसका मध्यप्राण (व्यान) है, उसी को समिद्ध करता है। "अग्निं दूतं वृणीमहे" यह सामिधेनी ऋक् प्राणादि पञ्च प्राणों के मध्य में प्रतिष्ठित व्यानप्राण-स्थानीया है। इस से अन्य (दिव्य) प्राण (इस के) ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित हैं, एवं इस से अन्य

मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान लेता है, वह लोक में अध्यक्ष (श्रेष्ठ–मुखिया–निर्णायक) बन जाता है ॥८॥

('समिध्यमानो अध्वरे०' इत्यादि नवमी सामिधेनी के) **"शोचिष्केशस्त-मीमहे"** (इस ऋग्भाग से शिश्नेन्द्रिय का समिन्धन करता है) शिश्न निश्चयेन शोचिष्केश (अभिलषित कामपूर्त्ति के अभाव में अतिशय रूप से सन्तापजनक, स्वयमपि सन्तप्त) है। शिश्नी (कामी) को शिश्न अतिशयरूप से सन्तप्त करता है। इस ऋग्भाग से होता शिश्न को ही समिद्ध करता है ॥९॥

"समिद्धो अग्न आहुतः" इस ऋचा से, जो कि यह अवाङ्प्राण है, उसी को समिद्ध करता है। **"आजुहोता दुवस्यत"** इस ऋचा से (समष्टिरूप से) सम्पूर्ण शरीर को नख–लोम भागों को छोड़कर समिद्ध करता है ॥१०॥

(उक्त प्रकार से होता के अवयवों का समिन्धन बतलाया गया। अब उसी समिन्धन क्रम से अभिचार कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है)—प्रथम सामिधेनी के अनुवचन करते समय यदि होता के प्रति इस का शत्रु द्वेष–भाव प्रकट करे, तो उस समय होता को सामिधेनी अनुवचन के साथ ही–"तूने अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि में डाला है, तू आत्मा के [शरीर के] प्राणाङ्ग से पीडित होगा" यह बोल दे *। अवश्यमेव वैसा ही होगा। [अर्थात् शत्रु के प्राण छटपटाने लगेंगे] ॥११॥

द्वितीय सामिधेनी के अनुवचन करते समय यदि०। "तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि में डाला है। तू आत्मा [शरीर] के अपान भाग से दुःखी होगा" ॥१२॥

तृतीय सा०। "तू ने अपने उदान को मेरे उदानाग्नि में आहुत किया है। तू शरीर के उदान भाग से दुःखी होगा०" ॥१३॥

*—इन अभिचार मन्त्रों का स्वरूप निभुजपाठ से गतार्थ है। प्रयोगकाल में उन्हीं का उच्चारण होना चाहिए। यहां केवल अर्थ बतलाया गया है।

चतुर्थ सा० । "तूने अपने श्रोत्र को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे श्रोत्रपीड़ा होगी, तू बहिरा हो जायगा०" ॥१४॥

पञ्चमी सा० । "तूने अपनी वाक् को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे वाक्-पीड़ा होगी । तू मूक [गूंगा] होजायगा०" ॥१५॥

षष्ठी सा० । "तूने अपने मन को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तू खोया हुआ सा, पागल सा फिरता फिरेगा०" ॥१६॥

सप्तमी सा० । "तूने चक्षु को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे चक्षुः-पीड़ा होगी, तू अन्धा होजायगा०" ॥१७॥

अष्टमी सा० । "तूने अपने मध्य प्राण को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे अपानप्राणपीड़ा [मलावरोध] होगी, तू पेट फूल कर मरेगा" ॥१८॥

नवमी सा० । "तूने अपने शिश्न को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे शिश्न पीड़ा [उपदंशादि] होगी, तू नपुंसक बन जायगा०" ॥१९॥

दशमी सा० । "तूने अपने अवाङ्प्राण को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तू इस प्राण से कष्ट पाएगा । बद्धकोष्ठ होकर तू मरेगा०" ॥२०॥

एकादशी सा० । "तूने अपने सर्वाङ्ग शरीर को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे सर्वाङ्ग शरीर से दुःख होगा । तू तत्क्षण मर जायगा०" ॥२१॥

जिस प्रकार सामिधेनियों से समिद्ध अग्नि को प्राप्त होकर मनुष्य दुःख उठाते हैं, एवमेव सामिधेनी के मौलिक रहस्य को जानने वाले विद्वान् होता के अनुवचन करते समय उसका उपहास करने वाले भी (उक्त आर्त्तियाँ) प्राप्त करते हैं। (इसलिए ऐसे विद्वान् का तिरस्कार-उपहासादि नहीं करना चाहिए) ॥२२॥

इति-शान्तिकर्म्म

चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पांचवां ब्राह्मण समाप्त ।

घ—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह—

सन्दर्भसंगति—

स्रुक्स्थापन—कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। वहां आकर पुरोडाशद्रव्य को आज्य से अक्त करता है। अनन्तर कपालों को घृत से अक्त करता है। अनन्तर उद्वासन करता है। इस कर्म्म के अनन्तर आज्यपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुपात्र के उत्तर भाग में इन्हें रखकर जुहू—उपभृत्—ध्रुवा—आज्य-पुरोडाशादि का निधान क्रम से स्पर्श करता है। सर्वान्त में अपने आपका स्पर्श करता है। यही 'सर्वालम्भन कर्म्म' है। इस सर्वालम्भन कर्म्म के अनन्तर सामिधेन्यनुवचन कर्म्म आरम्भ होता है। इसी की इतिकर्त्तव्यता यहां से आरम्भ होती है।—

१—वेद्या उत्तरश्रोणिरुत्तरतो होतृषदनं कुशास्तीर्णं संस्थाप्य समिधमादाय सामिधेन्यनुवचनार्थं होतारं प्रेषयत्यध्वर्युः।

सर्वालम्भन कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदि के पश्चिम भाग में, अथवा वेदिश्रोणि के उत्तर भाग में होता के बैठने के लिए दर्भासन बिछाता है। आसन बिछाकर "एहि होतः" इन शब्दों में होता का आमन्त्रण करता है। इस आमन्त्रण से होता आचमन कर *संचरमार्ग से आता हुआ उस दर्भासन पर बैठ जाता है। अनन्तर वह अध्वर्यु इध्मकाष्ठ—सम्भार में से एक समिध (एतन्नामक काष्ठ) लेकर होता के प्रति-

"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि"।

यह प्रैष करता है। अध्वर्युकृत प्रैष के अनन्तर होता ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा के प्रति निम्न लिखित वाक्य का उच्चारण करता है—

*—यज्ञमण्डप में ऋत्विजों के आहवनीय-वेदि-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि कुण्ड आदि के समीप कर्म्मार्थ आने जाने के लिए जो नियत मार्ग बना रहता है, वही 'संचरमार्ग' कहलाता है।

"ब्रह्मन् ! सामिधेनीरनुवक्ष्यामि" ।

ब्रह्मा उक्त वाक्य सुनने के अनन्तर पहिले-उपांशु रूप से निम्न लिखित मन्त्र-का जप करता है—

"ओम्—प्रजापतेऽनुब्रूहि यज्ञं देवता वर्द्धयत्वं च नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि" ।

उक्त मन्त्र का उपांशु उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य उच्चस्वर से पढ़ता हुआ होता को अनुवचनकर्म्म के लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

"ओ३मनुब्रू३हि" ।

इस प्रकार सामिधेन्यनुवचन कर्म्म के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता अङ्गुलिपर्व के अग्रभागों को मिलाकर अञ्जलि को अपने हृदय से स्पृष्ट करता हुआ, अपने दहिने पैर को वेदि की उत्तरश्रोणि के समीप रखता हुआ, अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्न लिखित 'नमःक्रन्द' नामक निगद का जप करता है—

"ओ३म्—नमः प्रवक्त्रे, नम उपवक्त्रे, नमो द्रष्ट्रे, नमोऽनुख्यात्रे, 'क' इदमनुवक्ष्यति, 'स' इदमनुवक्ष्यति, 'क' आर्त्विज्यं करिष्यति, 'स' आर्त्विज्यं करिष्यति, ऋचः प्रपद्ये, यजुः प्रपद्ये, साम प्रपद्ये, ब्रह्म प्रपद्ये, नाच्चां छन्दसां मातरं प्रपद्ये, भूः प्रपद्ये, भुवः प्रपद्ये, स्वः प्रपद्ये, भूर्भुवः स्वः सर्वं प्रपद्ये" इति ।

उक्त निगदपाठ के अनन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान 'स्फ्य' हाथ में लेकर निम्न-लिखित वाक्य से (अनुवचन कर्म्म के लिए) होता को प्रेरणा करता है—

"ओं सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि" इति ।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते हैं कि, 'स्विष्टकृद्याग' नामक कर्म्म के अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिकर्त्तव्यता में पठित ऋङ्मन्त्र, एवं निगदमन्त्रों का कुछ उच्चस्वर से उच्चारण करना चाहिए, जिसे कि 'सामान्यस्वर' भी कहा जाता है । स्विष्टकृत् से आरम्भ कर इडाप्राशन कर्म्म पर्य्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए । एवं इडा-कर्म्म से आरम्भ कर कर्म्म-समाप्ति पर्य्यन्त उत्तम स्वर से उच्चारण करना चाहिए ।

दूसरी विशेषता है, होता के प्रति प्रैष करने के सम्बन्ध में । कितनें ही याज्ञिक पूर्व प्रैषवाक्य के स्थान में 'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि' यह प्रैष करते हैं । परन्तु वस्तुतः ऐसा होना नहीं चाहिए । क्योंकि—"तदु तथा न ब्रूयात् । अहोता वा एष पुरा भवति" (शत० १।३।४।३।) के अनुसार अभी यह ऋत्विक् होतृत्वेन वृत नहीं हुआ है । इन्हीं सब विशेषताओं के साथ उक्त इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए निम्न लिखित सूत्र हमारे सम्मुख आते हैं—

१—"होतृषदनं कृत्वाऽपरेण वेदिं श्रोणिं वोत्तरेण-इध्मात् समिधमादाय "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इत्याह" (का० श्रौ० ३।१।१।) ।

२—"होतरिति चैके" (का० श्रौ० सू० ३।१।२।) ।

३—"प्रथमस्थानेन प्राक् स्विष्टकृतः" (का० श्रौ० सू० ३।१।३।) ।

४—"मध्यमेनेडायाः" (का० श्रौ० सू० ३।१।४।) ।

५—"शेषमुत्तमेन" (का० श्रौ० सू० ३।१।५।) ।

६—"सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि'-इत्याह यजमानः"(का०श्रौ०सू०३।१।६।) ।

उक्त यजमान-प्रैषानन्तर जब होता तीन बार हिङ्कार करके 'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण करने लगता है, उस समय यजमान अपने

पांव के अंगूठों से भूमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार–वचन का उच्चारण करता है—

"इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेणामुमवबाधे" ।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो साथ ही शत्रुता का परिज्ञान अवश्य हो, तो उस दशा में—"इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण द्विषन्तमवबाधे" यह बोलना चाहिए। यदि कोई शत्रु (कृत्रिम) ही न हो, तो (सहजशत्रु–नाश के लिए) "इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण भ्रातृव्यमवबाधे" यह बोलना चाहिए। यदि काम्येष्टि का अभाव है, तो १५ सामिधेनियों का, यदि काम्येष्टि है, तो १७ सामिधेनियों का होता द्वारा अनुवचन होगा। फलतः प्रत्येक के साथ यजमान को 'इदमहं'० इत्यादि बोलते हुए पादाङ्गुष्ठों से भूमि को दबाना पड़ेगा। तात्पर्य्य यही है कि, तत्तत् कर्म्मविशेषों में १५, १७, २१, २४, ३, ९, इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का विशेष विधान है। दर्शपूर्णमास में १५, तद्विकृति–भूता काम्येष्टि में, तथा पश्वादि में १७, प्राजापत्यपशुबन्ध में २१, इष्टका पशुबन्ध में २४, पित्र्येष्टि में ३, उपसद्धोम में ९, सामिधेनियों का विधान है। इन सामिधेनी-संख्याओं के अनुसार ही उक्त अभिचारमन्त्र में-क्रमशः "इदमहं पञ्चदशेन०, सप्तदशेन०, एकविंशेन०, चतुर्विंशेन०, तृतीयेन०, नवमेन०, इस रूप से तत्तद्विशेष संख्याओं का समावेश करते हुए, शत्रु का नाम विदित हो तो नाम का समावेश करते हुए, नाम अविदित हो तो 'द्विषन्तं' पद का, और यदि कृत्रिम शत्रु न हो तो 'भ्रातृव्यं' पद का सन्निवेश करते हुए सामिधेनी संख्या समान उतनें हीं अभिचार वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

हिङ्कार पूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर ऋगन्त में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अध्वर्यु वह्नि में इध्म डालता जाता है। होता के सामिधेनी–ऋङ्मन्त्रोच्चारण के साथ

साथ अध्वर्यु का इध्म डालना इध्म कर्म्म है। जितनें सामिधेनी मन्त्र होते हैं, उतने ही इध्म होते हैं। दर्श–पूर्णमास में चूंकि १५ सामिधेनी ऋङ्मन्त्र हैं, फलतः वहां १५ ही का आधान होता है।

"समिद्धो अग्न आहुतः०" इस ऋङ्मन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले वह अध्वर्यु इस से पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इध्म–काष्ठ अग्नि में डाल देता है। यदि अनुयाज कर्म्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इध्म काष्ठ बचा लिया जाता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, (काम्येष्टि के अभाव में) जब-कि दर्श–पूर्णमास में पञ्चदश सामिधेनी-अनुवचन विहित हो, तो उस दशा में प्र वो-वाजा०'इत्यादि ११ तो सामिधेनी मन्त्र हैं। एवं आद्यन्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस त्रिरावर्त्तन ने ११ के १५ सामिधेनी मन्त्र हो जाते हैं।

इस इष्टि में इस इध्म कर्म्म के लिए कुल (अनुयाजपक्ष में) १८ इध्म काष्ठों का संग्रह होता है इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि–परिधान कर्म्म के अनन्तर एक समिध का 'वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्त समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे" ["प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य 'वीतिहोत्र' मित्यादधाति" का०श्रौ०सू०२। ८।२) तो इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते हुए अग्नि में आधान हो जाता है। एवं एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए "समिदसि" ("अनुपस्पृश्य द्वितीयां-'समिदसी' ति" का०श्रौ०सू०२।८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आधान होजाता है। इस प्रकार १८ में से २ का प्रयोग तो परिधिकर्म्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकर्म्म में ही होजाता है। अब इस समज कुल १६ इध्म बच रहतीं हैं।

११६ की व्यवस्था यह है कि, "प्र वो वाजा०" से आरम्भ कर "अग्निं दूतं वृणीमहे०" इस आठवें सामिधेनी मन्त्र तक "प्रवो वाजा०" की त्रिरावृत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दसों की दसों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यू द्वारा आधान होजाता है। आगे तीन मन्त्र शेष हैं, अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से

५ मन्त्र शेष हैं। सामिधेनी ६ शेष हैं। इन छओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई है कि, पञ्चमन्त्रसम्बन्धिनी पांचों सामिधेनियों का "समिद्ध अग्न आहुत०" इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व, एवं "समिध्यमानो अध्वरे०" इस ११ वीं सामिधेनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिधेनी शेष रहेगी, उस का अनुयाज कर्म्म में उपयोग होगा। इस प्रकार पञ्चदश-सामिधेनीपक्ष में १५ इध्म सामिधेनी मन्त्रों के सम्बन्ध से, १ अनुयाज सम्बन्ध से, दो परिकर्म्मानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म्म के सम्बन्ध से, १८ इध्मों का ग्रहण होगा, एवं इन का विनियोग, उक्त प्रकार से होगा।

काम्येष्टि का भी यदि दर्शपूर्णमास में संग्रह है, तो सत्रह सामिधेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २० इध्म-काष्ठ लिए जायंगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् संग्रह होता है, वे "धाय्या" कहलाए हैं। साथ ही—"समिध्यमानवतीं समिध्यवती चान्तरेण पृथुपाजावत्यौ धाय्ये दधाति" (आपस्तम्बश्रौ० सू०) "तृतीयस्यां सामिधेन्यावावपते प्रागुपोत्तमायाः पृथुपाजा अमर्त्य इति द्वे धाय्ये इत्युक्त एते प्रतीयात्" (आश्वलायनश्रौ० सू०) "समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्या स्युः" (तै० सं० ५।३।४।५।२ २) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धाय्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित "समिध्यमानो अध्वरे०" इस मन्त्र के, तथा समिद्धपदघटित "समिद्धो अग्न आहुत०" इस मन्त्र के, दोनों के मध्य में निधान होता है। चूंकि ये दोनों धाय्या ऋचाएं दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहतीं हैं, अतएव इन को— समिध्यमान समिद्धवती" यह संज्ञा (नाम मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्म्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्म्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों, तथा १० मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले १० इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इन में से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है, शेष सातों का १० वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान

हो जाता है । एवं यही इस सप्तदश सामिधेनीपक्ष में २० इध्मकाष्ठों का विनियोग है ।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है । कहा गया है कि, अनुवारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अंगूठों से भूमि दबाता हुआ—"इदमहं" इत्यादि रूप से अभिचार कर्म्म करता है । उधर श्रुति में—"यं द्विष्यात्, तं-अङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत–इदमहममुमवबाधे" (शत० १।३।५।७) इत्यादि रूप से सामान्यतः "अङ्गुष्ठ" पद उद्धृत हुआ है । इस से पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आधार पर किया गया ? इस प्रश्न का समाधान–"पाद्याभ्यामङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत" (का० ब्रा० २।३।३।५) इस काण्वब्राह्मणवचन के अनुसार प्रकृत सामान्यवचन का विशेष (पाद) विधि में सङ्कोच करना न्यायसङ्गत होजाता है । इसी पूर्वोक्त इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कात्यायन कहते हैं—

(७)—"अङ्गुष्ठाभ्यां चावबाधते पाद्याभ्यां वेदमहममुमवबाध इति द्वेष्यम्" (का० श्रौ० सू० ३।१।७) ।

(८)—"अभावे द्विषन्तं, भ्रातृव्यमिति वा" (का० श्रौ० सू० ३।१।८) ।

(९)—"यावत् सामिधेनि वेदेदमहं तावतिथेन वज्रेणेति" (का० श्रौ० सू० ३।१।९) ।

(१०)–"प्रतिमन्त्रणवमाधानम्" (का० श्रौ० सू० ३।१।१०) ।

(११)–" 'समिद्ध' इति प्रागतः सर्वमिध्ममेकत्र जमनुयाजाश्चेत्" (का० श्रौ० सू० ३।१।११) ।

इति–सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

—घ—

ङ—वैज्ञानिक विवेचना—

तीसरे अध्याय में पाँचवां, तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

यज्ञेतिकर्त्तव्यताओं में 'अग्निसमिन्धन' कर्म्म अपना एक विशेष महत्व रखता है। 'अग्निरु वै यज्ञः' इस निगम के अनुसार अग्नितत्व ही यज्ञकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदैविक, आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक, इन त्रेताग्नियों के समन्वय से जो एक अपूर्व अतिशय उत्पन्न होता है, उसे ही 'दैवात्मा' कहा जाता है। यह दैवात्मा खगोलीय पार्थिवसम्वत्सर के त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस दैवात्मा के प्राण का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध रहता है। उधर वह दैवात्मा दिव्यलोकस्थ स्वर्गीय प्राणदेवताओं के साथ बद्ध रहता है। यावदायुर्भोगपर्यन्त इस भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यजमान जब अपने भौतिक शरीर का परित्याग करता है, तो इसका कर्म्मभोक्ता—वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञत्रितयमूर्त्ति भूतात्मा (मानुषात्मा) उस दैवात्मा के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशस्तोमात्मक स्वर्गलोक में चला जाता है। जब तक यज्ञातिशयरूप दैवात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है, तब तक मानुषात्मा वहां प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञातिशयलक्षण पुण्यसंस्कार के क्षीण होजाने से तद्रूप दैवात्मा विलीन होजाता है, पुनः उस मानुषात्मा को—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति' के अनुसार उसी जन्म-मरण प्रवाह में आजाना पड़ता है। और यही यज्ञकर्म्म का एक महत्व पूर्ण फल है।

इस यज्ञफल सिद्धि के लिए तीनों अग्नियों का पहिले परस्पर ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित है। आधिभौतिक अग्नि पार्थिव अग्नि है, आध्यात्मिक अग्नि शारीराग्नि है, एवं आधिदैविक अग्नि सौर सावित्राग्नि है। पार्थिव अग्नि सौर सावित्राग्नि का ही प्रवर्ग्य

रूप है। वही सावित्राग्नि प्रवर्ग्य सम्बन्ध से दिव्यसंस्था से पृथक् होकर अपने दिव्य-रूप से वञ्चित होता हुआ भूगर्भ में आकर कृष्ण (अप्रत्यक्ष) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानभाषा में–'कृष्णमृग' कहा गया है। काष्ठादि में यही मृग्य अग्नि सुप्त है, जिस का 'शेषे वनेषु मात्रोः' वाक्य से स्वरूपोल्लेख होरहा है। काष्ठादि में प्रसुप्त यही आधिभौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्वलित होकर मनुष्यों के लौकिक कर्म्म (पाकादि कर्म्म) सम्पादन करता है, जैसा कि–'सन्त्वा मर्तास इन्धते' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। प्रज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतभाग को छोड़ता हुआ कालान्तर में अपने उसी दिव्यप्राणरूप में परिणत होकर द्युलोक में चला जाता है। "अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि' इस मन्त्रोत्तरार्द्ध से इसी स्थिति का प्रतिपादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्वलित होकर कालान्तर में द्युलोक में इसी प्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वाभाविकगति से यज्ञकर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञकर्म्म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा, जिस में यहीं, इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दिव्याग्नि का समावेश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्वलित किया जायगा, इस में दिव्यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुतिद्वारा यजमान अपने शारीराग्नि का इन दोनों से सम्बन्ध करा देगा। परिणाम इसका यह होगा कि, अब जो भूताग्नि द्युलोक में जायगा, उसके गर्भ में दिव्याग्नि रहेगा, यजमान का शारीराग्नि रहेगा, आहुतिद्रव्यानुशय रहेगा। इन सब के समन्वित रूप का नाम होगा पूर्वोक्त 'दैवात्मा'। यह वहां जायगा इसका यजमान के मानुषात्मा से सम्बन्ध रहेगा, और यही आकर्षण स्वर्गफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्वलित सभी करते हैं। तद्वत् यहां भी अध्वर्यु "इध्म" नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेपसे इसे प्रज्वलित कर लेता है। इस सामान्य प्रज्वलनकर्म्म को विज्ञानपरिभाषा में "इन्धन" कहा गया है आहवनीयाग्नि प्रतिरूपमर्यादा से यद्यपि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह तभी दिव्य कहला सकेगा, जब कि इस में

किसी विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया से द्युलोकस्थ देवतामय दिव्य प्राणाग्नि का सम्बन्ध करा दिया जायगा। जब तक पार्थिव भूतरूप प्रज्वलित अग्नि का इस दिव्य-प्राण-रूप अग्नि के साथ एकीभावात्मक सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक इस आहवनीय इध्म अग्नि का एक चूल्हे की सामान्य अग्नि से अधिक कोई विशेष महत्व नहीं है। दिव्याग्निशून्य ऐसे प्रज्वलित अग्नि में प्राणदेवाकर्षण की अयोग्यता है। फलतः इस में चाहे लाखों मन घी डाल दीजिए, अपरिमित आहुति-द्रव्य डाल दीजिए, अहर्निश स्वाहा स्वाहा करते रहिए, साथ ही यज्ञविद्या को जगत् की दृष्टि में महत्व शून्य सिद्ध करने का कलङ्क उठाते रहिए, कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नहीं होसकती। फल तब मिलेगा, जब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गर्भ में आहुतिद्रव्य का समावेश होगा। आहुतिद्रव्य का देवताओं के गर्भ में समावेश तब होगा, जब इस प्रज्वलित भूताग्नि में देवप्राणाकर्षक दिव्याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तब सम्भव होगा, जब कि, ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध—"सामिधेन्यनुवचन" कर्म्म का आश्रय लिया जायगा।

प्रश्न हमारे सामने यह है कि, द्युलोक में प्रतिष्ठित दिव्यप्राणदेवता प्राणात्मक हैं। उधर प्राण की—"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दशून्य, अधामच्छदस्तत्त्व-विशेषः प्राणः" यह परिभाषा मानी गई है। एतल्लक्षण दिव्यप्राण अस्मदादि के लिए सर्वथा अतीन्द्रिय बनता हुआ अग्राह्य है। जब वह अग्राह्य है, तो उस का इस अग्नि में सम्बन्ध कैसे कराया जाय ? यही एक महाविप्रतिपत्ति है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण "स्वरविज्ञान" से हो रहा है। पृथिवी, और सूर्य्य, दोनों वस्तुतः एक थे, जैसा कि पाठक आगे देखेंगे। पृथिवी सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। दोनों में परस्पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। सूर्य्य की प्रवर्ग्य-भागात्मिका पृथिवी सौर आकर्षण—प्रतिष्ठा को आधार बनाकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गौरूप सूर्य्य ने ही रश्मिरूप शृङ्ग (सींग) के आधार पर भूभार वहन कर रक्खा है। इस सौर प्राण का ही नाम 'स्वर' है, एवं पार्थिव भूत का ही नाम

'व्यञ्जन' है। स्वरप्राण के सम्बन्ध से ही सौरलोक "स्वर्लोक" कहलाया है, जैसा कि 'स्वरहर्देवाः सूर्यः" (श० १।१।२।२।१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। व्यञ्जनवाक् पार्थिवी है, यही 'अनुष्टुप्' कहलाई है। स्वरवाक् सौरी (ऐन्द्री) है, यही 'बृहती' कहलाई है। जिस प्रकार सूर्य्योपग्रहभूता पृथिवी सौरतत्व के बिना स्वरूपरक्षा में असमर्थ है, एवमेव सौरस्वर को आधार बनाए बिना पार्थिव व्यञ्जनों का भी उच्चारण असम्भव है। +।

वैज्ञानिक महर्षियों ने व्यञ्जनवाक् मे अनुस्यूत सौर-स्वरतत्व की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धान्त निकला कि, इस अनुष्टुब्–लक्षणा पार्थिवी–वाक् (व्यञ्जनवाक्) में आधार बना हुआ जो स्वर है, वह दिव्यतत्व (इन्द्र) है। यदि इस दिव्यतत्त्व का (स्वर का) इस व्यञ्जनवाक् के साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ दिया जाय, तो उस नियमित वाक् से वागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दिव्यलोकस्थ दिव्यप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान को मूल बना कर ऋषियों नें दिव्यप्राणों के तत्तद्विशेष स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्हों ने देखा कि, दिव्यलोकस्थ अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदित्यादि देवप्राण गायत्री–त्रिष्टुप् आदि विशेष छन्दों (वाक्परिमाणात्मक सीमाभावों) से छन्दित (सीमित) रहते हुए उदात्त–अनुदात्त–स्वरितादि तत्तद्विशेष स्वरलहरियों से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्हों ने व्यञ्जनवाक् में उसी नियम से छन्द–स्वर-सम्पत्ति का समावेश करते हुए यह सिद्ध कर डाला कि, यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त, अमुक मन्त्र का, अमुक कर्म्म में, अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा, तो इन छन्दः–स्वरों से समतुलित छन्दः–स्वरयुक्त उन प्राणदेवताओं का यहां भी सम्बन्ध हो सकेगा। साथ ही इस सम्बन्ध में उन्हों ने यह भी आदेश

+—"बीभत्सूनां सयुजं ह समाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं विचिक्युः कवयो मनीषा॥"
(ऋ० १०।१२४।६)

दिया कि, यहां मन्त्रवाक् के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्ता छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथाव्यवस्थित नियम के विपरीत अणुमात्र भी गड़बड़ कर देगा तो इन का स्वरूप—स्वरलहरी—विकृत हो जायगी, फलतः इन विकृत स्वर-वर्णयुक्त मन्त्रों से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न हो सकेगा । साथ ही इष्ट के स्थान में महान् अनिष्ट हो जायगा + ।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति का समाधान होगया । हम ऋषि इष्ट उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञसंस्था में अवश्यमेव सम्बन्ध करा सकते हैं । यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्व है, यही तो इस का अपौरुषेयत्व है । विज्ञानवाक् का निर्म्माण कौन कर सकता है । वह तो ऋषियों के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का मङ्गलविधान है * । इसी मङ्गलमूर्त्तिविधि के स्मरणपूर्वक हमारा सामिधेन्यनुवचन कर्म्म आरम्भ होता है ।

यह सिद्ध हो चुका है कि, आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है । दोनों का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीभाव के लिए ही "समिन्धन" (समित्येकीभावे) शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्म्मविशेष से अध्वर्यु द्वारा इद्ध अग्नि को समिद्ध बनाया जाता है, वही कर्म्मविशेष 'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है । होता नाम का ऋत्विक् उन मन्त्रों का उच्चारण करता है, जिन का छन्द गायत्री है, स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता है । उन मन्त्रों के प्रयोग से अन्तरिक्षस्थ सत्यसंहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित हो कर अवश्यमेव इस इद्ध अग्नि में प्रविष्ट हो कर इसे समिद्ध (इस के साथ एकीभूत) कर देते

+ "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" ॥

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

हैं। चूंकि निर्दिष्ट ऋचाओं से इस इद्ध का समिन्धन होता है, अतएव इन ऋचाओं को—"समिन्धे एताभिर्ऋग्भिः" इस निर्वचन से 'सामिधनी' कहा गया है। अध्वर्यु पहिले इध्म से (सामान्य काष्ठ से) अग्नि को इद्ध करता है। अनन्तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि-स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है। इसी सम्बन्ध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए। प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है। प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूत के नहीं हुआ करता। भूत के आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है, भूतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है।

यहां भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि की स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जितने सामिधेनी-मन्त्र हैं उतने हीं १५, अथवा १७)—इध्म काष्ठ लिए जाते हैं। होता मन्त्रोच्चारण कर अन्त में प्रणवोच्चारण करता है, इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है, अव्यवहितोत्तरकाल में ही अध्वर्यु नियत इध्म अग्नि में डालता रहता है। इस प्रकार यावत् सामिधेनी—समतुलित इध्मकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है। कैसा अद्भुत कर्म्मकलाप है। उस ओर से मन्त्रशक्ति द्वारा होता दिव्यप्राणाग्नि को इस यज्ञसंस्था में लाता जाता है, इस ओर से अध्वर्य्यु प्रतिप्रणव इध्माधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है। दोनों का एकीभावात्मक समिन्धन होता जाता है। कर्म्मसमाप्ति में दोनों अग्नि मिलकर एक—अपूर्व—समृद्ध—यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे समिद्ध अग्नि को कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन नहीं करेगा?

अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, इन्धनकर्म्म अध्वर्यु ही क्यों करता है? एवं समिन्धनकर्म्म होता ही क्यों करता है?। इन प्रश्नों की संक्षिप्त उपपत्ति यही है कि, प्राकृतिकसृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही (पङ्खे आदि के झबकने से) प्रज्वलित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाग्वनुगत यजुर्वेदी अध्वर्यु माने गए हैं। अतएव यहां भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अध्वर्यु ही

इध्म कर्म्म करता है। पार्थिव मूलाग्नि ही **"इत एत उदारुहन्-दिवस्पृष्ठान्यारुहन्। प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययुः"** इस मन्त्रवर्णन के अनुसार द्युलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि ही समिन्धन कर्म्म के सञ्चालक हैं। यही प्राकृतिक यज्ञ के अग्न्यनुगत ऋग्वेदी होता माने गए हैं। अतएव यहां भी तत् प्रतिकृतिरूप ऋग्वेदी होता ही समिन्धन कर्म्म करता है। "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही 'सामिधेन्यनुवचन कर्म्म' की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथमकण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

चूंकि प्रतिरूपानुगता-सजातीयमर्य्यादा से होता ही समिन्धनकर्म्म का अधिकारी है, अतः "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इत्यादि रूप से अध्वर्यु इस कर्म्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस ऋत्विक् का होतृत्वेन वरण होनेवाला है। उस से पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक 'होतृ' संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है। अतः 'होतरनुब्रूहि' इस प्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैष न कर उक्त सामान्यरूप (बिना नामनिर्देश) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २, ३, ॥

इस कर्म्म से अग्नि का समिन्धनलक्षण एकीभाव सम्बन्ध अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता का ऋचा द्वारा आकर्षण करना है, वह जात्या अग्नि है, छन्द उस का गायत्री है, साथ ही अग्नित्वेन वह ब्रह्मवीर्य्य का प्रवर्त्तक है। देववर्ग में इन्द्र जहां क्षत्रवीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं, विश्वेदेव जहां विड्वीर्य्य के प्रवर्त्तक हैं, एवं पूषाप्राण जहां शूद्रभाव का स्वरूपसमर्पक है, वहां अग्नि ब्रह्मवीर्य्य के अधिष्ठाता माने गए हैं। एतद्धर्म्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आकर्षण सम्भव है, जिस का स्वरूप (अर्थापेक्षया) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा, छन्द जिस का गायत्री होगा। इसीलिए सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में

उपयुक्त सामिधेनी सभी ऋचाएं स्वरूपतः (अर्थतः) आग्नेयीं होतीं हैं, एवं छन्दोमर्य्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है । इस अपने ही छन्द, अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी ऋचा से अग्नि का समिन्धन तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त इस में समतुलित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति (ब्रह्मबल) का भी आधान होजाता है ।

गायत्री को ब्रह्म, तथा वीर्य्यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्व रखता है । पार्थिव हृदयस्थ *प्रजापति से (प्रजापति के मुखरूप उक्थ—नभ्यबिन्दु से) अर्कात्मक पार्थिव अग्नि का, तथा अग्निसीमालक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है । अग्नि ब्रह्म है, इसका छन्द गायत्री है । इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से गायत्रीछन्द ब्रह्मवीर्य्यात्मक बना हुआ है । इस के अतिरिक्त इसी गायत्री के द्वारा 'एति—प्रेति' रूप अन्वयर्थ वीर्य्य के प्रभाव से तृतीय द्युलोकस्थ सोम का अपहरण होता रहता है । यह गायत्री का अपना प्रातिस्विक वीर्य्य है । मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के तीनों धातुओं से क्रमशः कारण—सूक्ष्म—स्थूल—शरीरों का आविर्भाव हुआ है । इन तीन पर्वों के सम्बन्ध से तीनों में क्रमशः 'पराक्रम, वीर्य्य, बल' नाम के धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं । मनोऽनुगत कारणशरीर पराक्रम का अधिष्ठाता है, मनुष्य इस का उदाहरण है । प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य्य का अधिष्ठाता है, सिंह इस का उदाहरण है । एवं वागनुगत स्थूलशरीर बल का अधिष्ठाता है, हाथी इसका उदाहरण है । तीनों शब्द पृथक् पृथक् तीन अर्थों के वाचक हैं । साथ ही तीनों पूर्व-पूर्व एक दूसरे से गौरवान्वित हैं । यही कारण है कि, अपने शरीरबल से दो चार सिंहों को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्य्यशाली सिंह का आक्रमण नहीं

* "प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठः । स ह्येतेनाग्रेऽयजयत । प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत । तमग्निर्देवतान्वसृज्यत, गायत्रीछन्दो, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनां । तस्मात्ते मुख्याः । मुखतो ह्यसृज्यन्त"
(तै० सं० ७।१।१।४)।

सह सकता। इधर सिंह के दर्शन मात्र से कम्पित होने वाला मनुष्य पराक्रम के बल पर सिंह को पिंजरे में बन्द कर देता है। प्राणाग्नियुत गायत्री प्राणशक्ति से ही द्युलोकस्थ सोमाऽऽहरण में समर्थ होती है। प्राणशक्ति वीर्य्यात्मिका है। अतएव यहां "वीर्य्यं गायत्री" यह कहा गया है ॥ ४ ॥

सामिधेनी ऋचाएं आग्नेयी हैं, गायत्रछन्दा हैं। इस से ब्रह्मवीर्य्य का आधान होगया। परन्तु अभी उस क्षत्रवीर्य्य के आधान की कमी है, जिस के बिना ब्रह्म का कोई कर्म्म समृद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म अभिमन्तामात्र है, कर्त्ता तो क्षत्र ही है। ब्रह्म-क्षत्र का युग्म ही कर्म्म समृद्धि का द्वार है (देखिए शत० ४।१।२)। आवश्यक है कि, ब्रह्मसम्पत्तिसंग्रह के साथ साथ क्षत्रसम्पत्ति का भी यज्ञ में सम्बन्ध कराया जाय। इस के लिए क्षत्रानुगता छन्दःसम्पत्ति का सम्बन्ध अपेक्षित है। जिस प्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, तथैव इन्द्र क्षत्रवीर्य्यात्मक है। एवमेव अग्नि का गायत्रीछन्द जैसे ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, वैसे × इन्द्र का त्रिष्टुप्छन्द क्षत्रवीर्य्यात्मक है। इस सम्पत्ति का समष्टि रूप से स्वतः संग्रह होजाता है। सामिधेनी ऋचाएं ११ हैं, एवं त्रिष्टुप्छन्द भी एकादशाक्षर ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र से समतुलित है। ११ से त्रिष्टुप् द्वारा प्रकृत्या क्षत्रसम्पत्तिप्राप्त हो जाता है। परिणामतः हमारा भूताग्नि ब्रह्म, क्षत्र, दोनों वीर्य्यों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिधेनी क्यों होती है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

जिस यज्ञकर्म्म का यजमान सम्पादन करने वाला है उस यज्ञ की स्वानुरूप सम्पत्ति यही मानी गई है कि, इस में जो भी कर्म्म हों, प्राकृतिकयज्ञ के अनुरूप हों। इसी को यज्ञपरिभाषा में—"रूपसमृद्धि" कहा गया है। प्राकृतिक यज्ञ में सर्वत्र त्रिवृद्भाव की प्रधानता देखी जाती है। पहिले पञ्चार्वा उस 'सर्वहुत'

× "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदश निरमिमीत। तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दो, बृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणां, अविः पशूनां, तस्मात्ते वीर्य्यवन्तः। वीर्य्याद्ध्यसृज्यन्त" (तै० सं० ७।१।१।४-५)।

नामक विश्वयज्ञ के स्वरूप पर दृष्टि डालिए। महाविश्वयज्ञ की आरम्भभूमि प्राणात्मक स्वयम्भू है। इस का उपक्रम—"वेदाः सत्यं, सूत्रं सत्यं, नियतिः सत्यं" इस त्रिवृद्भाव से हुआ है। दूसरा पमेष्ठी पर्व भी "इट्–ऊर्क्–भोग" सम्बन्ध से त्रिवृत् बन रहा है। सूर्य्य पर्व भी ज्योति–गौ–रायु भेद से त्रिपर्वा है। चन्द्रमा भी 'रेतः–श्रद्धा–यशो' रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। पृथिवी भी 'वाक्–गौ–द्यौः' से नित्य युक्त है। इस प्रकार पांच पर्वों से पाङ्क्त कहलाने वाले इस विश्वयज्ञ का उपक्रम (स्वयम्भू), पार्श्व (परमेष्ठी), मध्य (सूर्य्य), अवरपार्श्व (चन्द्रमा) उपसंहार, सब कुछ त्रिवृत् बना हुआ है।

शुक्रविज्ञान दृष्टि से भी 'वाक्–आपः–अग्नि' यह अमृता शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है, एवं 'अग्निः–आपः–वाक्' यह मर्त्या शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसंहार बन रही है। यज्ञप्रवर्त्तक यज्ञियदेवता 'अग्नि–वायु–आदित्य' सम्पत्ति से युक्त रहतेहुए त्रिवृत् बन रहे हैं। त्रिःसत्यदेवताओं का यजनरूप प्रत्येक यज्ञकर्म इसी त्रिःसम्पत्ति से युक्त है, जिस का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

वैधयज्ञ में होनें वाले 'दीक्षा–सुत्या–उपसद्' के त्रिवृद्भाव से भी त्रिवृत् का यज्ञाङ्गत्व सिद्ध होरहा है। 'तीन पर आरम्भ, तीन पर समाप्त' यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीकर्म्म में संग्रह होना चाहिए। इसी सम्पत्ति संग्रह के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्तके मन्त्रों का तीन तीन वार अनुवचन होता है। आरम्भ का त्रिः–अनुवचन प्रायणीय यज्ञसम्पत्ति का, तथा आरम्भ का त्रिः-अनुवचन उदयनीय यज्ञसम्पत्ति का संग्राहक बन रहा है। त्रिः–त्रिः–अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥६॥

यज्ञानुगता त्रिवृतसम्पत्ति अपेक्षित थी। इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी संख्यानुगता प्रतिरूपता से एक सम्पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रिः-त्रिः

अनुवचन से ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाएं होजाती हैं। "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार०" (शत० १।६।४।१) इत्यादि पूर्वोक्त दर्शविज्ञान में यह बतलाया गया है-कि, शस्त्रबल से आक्रमण करना क्षत्र इन्द्र का काम है। इन्द्र की प्रहारशक्ति (विद्युच्छक्ति) ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसंख्याभाव (१५ संख्या) है। कारण यही है कि, जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम, एवं तदनु गायत्रीछन्द, तथा अग्निका प्रादुर्भाव हुआ है, एवमेव प्रजापति के उर, तथा बाहुओं से *पञ्चदशस्तोम, एवं तदनु त्रिष्टुप्छन्द, तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निब्रह्म ब्राह्मण है, शस्त्र प्रहार करना, अभिचार करना इस का धर्म्म नहीं, क्यों कि श्रुति का इसकेलिए-"सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रं, न वा अयं कञ्चन हिनस्ति" (शत० २।३।२।१६) यह आदेश है। इधर शत्रुनाश, तथा यज्ञकर्म्म पर होनेवाले स्वाभाविक असुराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है। यद्यपि एकादशसम्पत्ति से त्रिष्टुप्द्वारा इन्द्रक्षत्र का संग्रह होजाता है। तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवीर्य्य से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चदशात्मक आयुध का संग्रह नहीं होता। वह काम इस पन्द्रह संख्या से पूरा होजाता है। यज्ञाग्नि क्षात्रधर्म्मानुगत आयुध-सम्पत्ति से युक्त होजाता है। फल यह होता कि, इन ÷वज्ररूप सामिधेनियों के अनुवचन कर्म्मरूप वज्रप्रहार करने समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की भावना प्रकट करता है, अवश्यमेव वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है।

एक पक्ष की १५ रात्रियाँ होतीं हैं। इसी अर्द्धमास के परिप्लव से आगे जाकर सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है जिसने एक पक्ष की रात्रियों का

*—"अथैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरीक्षलोको, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्म, त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोमो, बृहत्साम, येच देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः।" (या० नि० ७।१०।१)।

÷—"अथास्य कर्म्मरसानुप्रदानं, वृत्रवधो, या च का च बलकृतिः, रिन्द्रकर्म्मैव तत्" (या० नि० ७।१०।२)।

संग्रह कर लिया, उसने इस अवयव द्वारा पूरे सम्वत्सर की रात्रियों का संग्रह करते हुए सम्वत्सरसम्पत्ति प्राप्त करली। यह सम्वत्सरयज्ञसम्पत्प्राप्ति ही पञ्चदशसंख्या का दूसरा फल है।

अवयव अवयवी के बिना अपूर्ण है, असमृद्ध है। साथ ही दर्शपूर्णमास का प्राकृतिक पक्षाग्निसोम से सम्बन्ध है, अतएव इसे सम्वत्सर का अवयव माना जायगा। इस की पूर्णता के लिए, समृद्धि के लिए अवयवी का सम्बन्ध अपेक्षित है। वह काम भी इस पञ्चदशसंख्या से गतार्थ हो जाता है। यही पञ्चदशसंख्या की तीसरी उपपपत्ति है।

"अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम" ये पांचों वैध यज्ञ क्रमशः प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य अहोरात्रयज्ञ, पक्षयज्ञ, ऋतुयज्ञ, अयनयज्ञ, सम्वत्सरयज्ञ, इन पांच यज्ञों के प्रतिरूप हैं। दर्शपूर्णमास चूंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ का प्रतिरूप है, पक्ष में १५ संख्या का समावेश है। यहां १५ संख्या के समावेश से उस पक्षयज्ञ की अनुरूपता भी प्राप्त हो जाती है। यही पञ्चदशसंख्या की चौथी उपपत्ति है ॥८॥

प्रत्येक गायत्रीछन्द के (त्रिपदागायत्री के) तीन तीन पाद होते हैं, प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं, सम्भूय एक गायत्री के २४ अक्षर होजाते हैं। १५ के सम्बन्ध से १५ गायत्रीछन्दस्क सामिधेनी ऋचाओं के प्रत्येक के २४ के हिसाब से कुल ३६० अक्षर होजाते हैं। उधर एक सम्वत्सरयज्ञ में ३६० ही अहः होते हैं। इस पन्द्रह संख्या से सम्पन्न गायत्री के ३६० अक्षरों से सम्वत्सर के ३६० अहः समतुलित हैं। इस रूप से साक्षात् ही सम्वत्सरयज्ञ-सम्पत्ति का संग्रह होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की पांचवीं उपपत्ति है ॥९॥

यदि दर्शपूर्णमास में काम्येष्टि अपेक्षित है, तो उस समय १५ के स्थान में १७ सामिधेनियाँ होतीं हैं। 'धाय्या' नामक दो ऋङ्मन्त्रों का (जोकि "**समिध्यमानो**

अध्वरे०"—समिद्ध अग्न आहुत०" इन दोनों मन्त्रों के मध्य में पठित होने से "समिध्यमान—समिद्धवती" नाम से व्यवहृत हुईं हैं) समावेश और कर लिया जाता है। इस सत्रह संख्या की यही उपपत्ति है कि, इस से सर्वकाम (अभीष्टकाम, जिसके लिए कि काम्येष्टि की जाती है) पूर्ण होजाता है । सर्वकामपूर्त्ति का मूलाधार सर्वप्रजापति है। भूगर्भस्थ हृद्य प्रजापति अनिरुक्त है। इसे ही 'कः' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस केन्द्रस्थ उक्थ अनिरुक्त प्रजापति का ब्रह्महिमा-लक्षण वषट्कार के आधार पर आगे जाकर पार्थिवसम्वत्सर रूप में अर्करूप से वितान होता है। वही इस का सर्वरूप है, उसे ही 'सर्वप्रजापति' कहा गया है, जो कि 'सः' नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वात्मक इस सम्वत्सरप्रजापति के व्यष्टि-समष्टि रूप से दो विवर्त्त हैं। व्यष्टिरूप इस के अवयव हैं, समष्टिरूप अवयवी हैं। १२ मास, ५ ऋतुएं, इस के अवयव हैं । इन की समष्टि ही सम्वत्सर है। इन १७ अवयवों से यह प्रजापति 'सप्तदश' बना हुआ है। काम्येष्टि से कामपूर्त्ति अपेक्षित है। कामपूरक सप्तदश प्रजापति है, वह सप्तदश है। इस प्रकार सप्तदश सामिधेनी के अनुवचन से उस सप्तदश, कामपूरक प्रजापति का संग्रह होजाता है, कामपूर्त्ति होजाती है, यही सप्तदश संख्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपांशुरूप से यजन होता है। उपांशुभाव अनिरुक्तभाव का ग्राहक है। उधर अनिरुक्तभाव सर्वरूप का संग्राहक माना गया है । प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति मानी गई है। इसी लिए प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का वाचक है। व्यष्टिरूप से ही वस्तुओं का शब्द द्वारा निर्वचन सम्भव है। परन्तु समष्टि के लिए सिवाय 'सर्व' शब्द के और किसी शब्द का व्यवहार नहीं होता। उपांशु अनिरुक्त, अनिरुक्त सर्वभाव, वही सर्वकाम यहां अपेक्षित। इसी लिए (सर्वकामसमृद्धि के लिए ही) यहां उपांशु यजन होता है। उपांशुभाव सर्वात्मक अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य है। इस के साथ ही श्रुति लोकदृष्टि से यह भी शिक्षा दे रही है कि, यदि तुम्हें

अपने काम्यकर्म्म की सिद्धि अपेक्षित है, तो तत्साधक कर्म्म का उपांशुरूप से (चुपचाप-बिना किसी से कहे सुने) ही अनुगमन करना चाहिए। लौकिक काम्य कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय, उस का घण्टाघोष करने से कर्म्म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आत्मप्रजापति की शक्ति से वञ्चित होजाता है। वागिन्द्रिय का प्रजापति से सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि—"स प्रजापतिर्मनस एवानुवाच। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहृव्यत्राद्धि वाक् प्रजापतये आसीत्" (शत० १।४।५।१२) इत्यादि रूप से आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यह विश्वास करने योग्य है कि, जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वागिन्द्रिय से बखान करने लग जाते हैं, वे आत्मसहयोग खोते हुए कर्म्मसमृद्धि से वञ्चित हो जाते हैं ॥ १० ॥

दर्शपूर्णमास के सम्बन्ध में कितनें ही याज्ञिक २१ सामिधेनियों का अनुवचन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति वे यह बतलाते हैं कि, १२ मास, ५ ऋतुएं, ३ लोक, इस प्रकार सम्वत्सरयज्ञ के २० पर्व हैं। २१ वां स्वयं सूर्य्य है। यही इस सम्वत्सरयज्ञ की अन्तिम गति, तथा प्रतिष्ठा है। यदि यहां भी २१ सामिधेनियों का अनुवचन होगा, तो २० संख्या से तो तत्समतुलित उक्त मासादि २० सम्वत्सर पर्वों का संग्रह होजायगा, एवं २१ वीं के अनुवचन से सूर्य्य प्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी॥११॥

परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य उक्त उपपत्ति का उपहास करते हुए कहते हैं कि, जो यजमान सर्वथा श्रीशून्य है, मन्दभाग्य है, अप्रतिष्ठित है, उसके लिए २१ का अनुवचन करना चाहिए। अर्थात् जो ऐसा होगा, वह सूर्य्यपत्नी श्री की कामना से २१ का समर्थन करेगा। भला ऐसा श्रीशून्य यजमान दर्शपूर्णमास का आरम्भ ही क्यों करेगा। इसके लिए तो काम्येष्टि ही पर्य्याप्त होजायगी। काम्येष्टि से जब गतश्रीभाव का मार्जन होसकता है, तो फिर उस प्रतिष्ठा के लिए यह महाप्रयास निरर्थक है। साथ ही सामान्यस्थिति में रहने वाला यजमान यदि २१ का अनुगमन करेगा, तो इस से इस में कोई विशेषता न आवेगी। सूर्य्यप्रतिष्ठा का आकर्षण तो

ज्योतिष्टोमयज्ञ पर अवलम्बित है। हां यह बहुत सम्भव है कि, गतिलक्षणा सूर्य्य-सम्पत्ति की भावना से यजमान अपनी रही सही श्री और खो बैठे। इसलिए ऐसी उपपत्ति बतलाकर २१ का पक्ष स्थापन करना केवल विचार ही विचार समझना चाहिए। वस्तुतः इनका अनुवचन पद्धति- विरुद्ध है ॥ १२ ॥

मूलानुवाद में बतलाया गया है कि, 'प्र वो वाजा०' इत्यादि प्रथम ऋचा का, तथा–'आजुह्वोता दुवस्यत०' इत्यादि अन्तिम ऋचा का त्रिरावृत्ति से (तीन तीन बार) उच्चारण होता है। इस त्रिरावृत्ति से जहां त्रिवृत्–प्रायणीय, त्रिवृत–उदयनीय- यज्ञ की स्वाभाविक त्रिवृत् सम्पत्ति का संग्रह होता है, वहां इसी त्रिवृद्भाव से लोकत्रयसन्तान–सम्पत्ति, तथा प्राणत्रयसन्तान–सम्पत्ति भी प्राप्त होजाती है। निदानेन यह त्रिरावृत्त त्रिच लोकत्रयी, तथा आध्यात्मिक प्राणत्रयी का प्रतिरूप है। प्रकृति में तीनों लोक एक ही पृथिवी लोक के तीन वितान हैं। वही पार्थिव अग्नि वषट्कारमर्य्यादा से त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश स्तोमरूप से तीन लोकों के वितान का कारण बना हुआ है। एक के ही तीन परस्पर बद्ध वितान हैं। इसी प्रकार अपान–व्यान–प्राण, तीनों आध्यात्मिकप्राण क्रमशः स्तौम्यत्रिलोकी के पृथिवी अन्तरिक्ष–द्यौ लोकों के अग्नि–वायु–आदित्य से सम्बन्ध रखते हुए एक ही के तीन सन्तत–परस्परबद्ध–अविच्छिन्नरूप हैं। जब कि आधिदैविक लोकत्रय, तथा आध्यात्मिक प्राणत्रय एक ही के तीन वितान हैं, साथ ही तीनों वैतानरूप एक दूसरे से बद्ध, तथा विच्छेद रहित हैं, तो तत्प्रतिरूपभूता इन दोनों आद्यन्त की त्रिचों में भी उसी सन्तत–अविच्छिन्न सम्पत्ति का समावेश करना चाहिए। तभी इस से उसका समतुलन होगा, एवं तभी उस से समतुलित इन के द्वारा लोक प्राणसम्पत्तियाँ प्राप्त हो सकगीं। एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए आद्यन्त की दोनों त्रिचों का एक ही श्वास में, बिना ऋङ्मध्य में, अथवा ऋगन्त में विश्राम लिए उच्चारण होता है ॥१३॥

जो याज्ञिक यह कहते हैं कि, "जब एक श्वास में तीनों का उच्चारण नहीं हो सके, तो क्या किया जाय। अपनी शक्ति से ही तो उच्चारण होगा। इसलिए

जहां श्वास टूटता, हो वहीं विश्राम लेते हुए स्वशक्त्यनुसार अनुवचन करलेना चाहिए। इस में कोई दोष नहीं है"। उन याज्ञिकों से हमारा (याज्ञवल्क्य का) यह कहना है कि, अभी वे प्राकृतिक यज्ञस्वरूप परिज्ञान से वञ्चित हैं। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, यज्ञ एक प्राकृतिक कर्म्म है। इस में अपनी शक्ति, अपनी कल्पना का कोई महत्व नहीं है। यदि ऋङ्मध्य में विश्राम कर लिया जायगा, तो न लोकसम्पत्ति प्राप्त होगी, न प्राणसम्पत्ति। क्योंकि मध्यविश्राम से इन त्रिचों का उन त्रयीभावों से समतुलन ही न होगा। अतः ऋङ्मध्य विश्रामपक्ष को सर्वथा अवैज्ञानिक ही समझना चाहिए ॥ १४ ॥

यदि होता तीनों का एकसाथ, एकश्वास में उच्चारण न कर सके, तो कर्म्मेतिकर्त्तव्यता कैसे पूरी की जाय? यह विप्रतिपत्ति उठाई जाती है। ऋङ्मध्य में विश्राम करना सर्वथा दोषावह है। ऐसी परिस्थिति में एक एक ऋचा पर विश्राम कर लेने से यथाकथंचित निर्वाह किया जासकता है। तीनों लोक, तीनों प्राण एक ही के तीन विवर्त्त बनते हुए भी एक एक स्वतन्त्र लोक, तथा स्वतन्त्र प्राण हैं। व्यष्टि दृष्टि से तीनों पृथक् पृथक् भी हैं। इसलिए एक एक पर विश्राम करने से भी काम चल सकता है। परन्तु-ऋङ्मध्य में विश्राम करना सर्वथा अनपेक्षित है।

अथवा एकैकानुवचन पक्ष में एक एक ऋचा से भी तीनों लोक-सम्पत्तियों का संग्रह किया जासकता है। प्रत्येक सामिधेनी मन्त्र गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से त्रिपद है। एक एक पद को एक एक लोक का संग्राहक माना जासकता है। तीनों पदों के अनवानन् (एकश्वास से) उच्चारण से तीनों लोकसम्पत्तियाँ प्राप्त हो सकतीं हैं। अब प्रश्न बचजाता है- प्राणसन्धान का। इसका समाधान गायत्री कर रही है। तीन पदों की समष्टि एक गायत्री है। आग्नेय प्राणानुगता गायत्री प्राणात्मिका मानी गई है। एक गायत्री पूर्ण एक प्राण है, जिस के गर्भ में तीन पदों के सम्बन्ध से तीनों प्राण विद्यमान हैं। इस से प्राणसम्पत्ति का भी आधान होजाता है। इस प्रकार तीन पदों से लोकत्रयी का, त्रिपदा कृत्स्ना गायत्री से

प्राणत्रयी का संग्रह होजाता है। इसदृष्टि से एक-एक पद्य में लोक-प्राण युग्मों की सन्ततिसम्पत्ति का संग्रह होजाता है। अतः इस 'एकैकामेवाननवानन्' पद्य को तो फिरभी माना जासकता है। परन्तु ऋड्मध्य में विश्राम करना तो सर्वथा दोषावह ही है ॥ १५ ॥

कहा गया है कि, गायत्रीछन्दस्का १५ सामिधेनियाँ अक्षर सम्बन्ध से सम्वत्सर के अहोरात्रों की ग्राहिका बन रही हैं। सम्वत्सर के अहोरात्र परस्पर बद्ध से-विच्छेदरहित-बन कर ही 'रात-दिन-रात-दिन' इस क्रम से चक्रवत् घूमते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि, १५ हों सामिधेनी मन्त्रों का एकसाथ परस्पर सम्बद्ध बना कर ही उच्चारण किया जाय। ऐसा न हो कि एक मन्त्र बोल लिया, इतस्ततः देखने लगे, थोड़ा समय निकलगया, इस प्रकार विच्छेद पूर्वक १५ का अनुवचन पूरा किया। जब प्रकृति में अहोरात्र विच्छेद रहित हैं तो तत्स्थानीय इन १५ हों का भी बिना इधर उधर देखे क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी, तीसरी, इस क्रम से सन्ततरूप से ही उच्चारण करना चाहिए। यदि ऐसा न कर विच्छेद डाला जायगा तो अहोरात्र की सन्तत सम्पत्ति तो प्राप्त नहीं हीं होगी, साथही शत्रुप्रवेश को अवसर और मिलजायगा। अहोरात्रसम्पत्ति यजमान की अपनी भोग्य सम्पत्ति है। इस में विच्छेद डालना शत्रु को हिस्सेदार बनाने का अवसर (उपस्थान) देना है। ऐसी छिद्रानुगता भोग्यसम्पत्ति शत्रु की दृष्टि में आजाती है। अतः सामिधेनियों का सन्तत ही अनुवचन होना चाहिए ॥ १६ ॥

तीसरे अध्याय में पांचवां, तीसरे प्रपाठक म दूसरा ब्राह्मण समाप्त।

(तीसरा अध्याय समाप्त)

चौथे अध्याय में पहिला, तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण

[१]आग्नेयी सामिधेनी, [२]गायत्रीछन्द, [३]११ मूलसंख्या, [४]आद्यन्त के मन्त्रों की त्रिरावृत्ति [५]पञ्चदश संख्या, [६]काग्यष्ट्यनुगता सप्तदश संख्या, [७]आद्यन्त के दोनों त्रिचों का एकश्वास में उच्चारण, [८]१५ हों सामिधेनी मन्त्रों का सन्तत–अविच्छिन्न उच्चारण, इन विशेषधर्मों से क्रमशः [१]अग्निःस्वरूप प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मवीर्य्याधान, [२]प्रातिस्विक गायत्रवीर्य्याधान, [३]क्षत्रवीर्य्याधान, [४]प्रायणीयोदयनीयानुगता यज्ञियत्रिवृत्-सम्पत्तिसंग्रह, [५]वज्रसम्पत्ति–रात्रिसम्पत्ति–अहःसम्पत्ति–संग्रह, [६]अनिरुक्तानुगता सर्वसम्पत्तिसंग्रह, [७]लोक–प्राणसम्पत्तिसंग्रह, [८]अहोरात्र की अनन्यभोग्यता, इन फलों का सोपपत्तिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय हैं। अब सामिधेनियों के सम्बन्ध में ही सामात्मिका एक विशेषता बतलाते हुए इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जिस प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उपपत्ति हुई है, वह प्राकृतिक यज्ञ सत्य पर प्रतिष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आया है—

"प्रजापति की सन्तान होने से 'प्राजापत्य' इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता और असुर, दोनों पिताप्रजापति के दाय (सम्पत्ति) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति के पास अपनी 'सत्य–और अनृत' नाम की वाङ्मयी सम्पत्ति थी। प्रजापति ने आधा सत्य, आधा अनृत तो देवताओं में बांट दिया, एवं आधा सत्य, तथा आधा अनृत असुरों में बांट दिया। देवताओं नें चाहा कि अपने हिस्से का आधा अनृत यदि असुर लेलें, एवज में अपना आधा सत्य अपने को देदें, तो बड़ा अच्छा हो। इसी प्रकार असुरों नें भी यही चाहा कि, अपने को जो आधा सत्य मिला है, वह देवता लेलें, और बदले में आधा अनृत

हमें देदें, तो बड़ा अच्छा हो। आगे जाकर ऐसा ही हुआ। फलतः देवताओं के पास सम्पूर्ण सत्य आगया, एवं असुरों के पास सम्पूर्ण अनृत आगया।

अपने इस कृत्स्न सत्य को प्राप्त कर देवताओं नें यह निश्चय किया कि, अपन यज्ञ कर के इस सत्य को त्रैलोक्य में फैलादें। देवताओं नें ऐसाही किया। जिस यज्ञ के आधार पर देवताओं नें वाक्सत्य का वितान किया था, वह वाक् सत्य यही त्रयीविद्या है" (शत० ९।५।१ ब्रा०)।

उक्त आख्यान की वैज्ञानिक व्याख्या की ओर न जाते हुए प्रकृत में इस से यही बतलाना है कि, सत्य और यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ से सत्य का वितान होता है, एवं सत्य के आधार पर यज्ञकर्म्म सम्पादित होता है। वह सत्य-तत्त्व श्रुति के शब्दों में हीं—"ऋक्–यजुः–सामात्मिका" त्रयीविद्या ही है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि, त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है, जिस तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का शब्दात्मक वेदग्रन्थों में निरूपण हुआ है।

'ऋक्–यजुः–साम' तीनों तत्त्वों के आधार पर हृद्य प्रजापति यज्ञ करने में समर्थ हुए हैं। ऋक्-वेद से अग्नितत्त्व का, यजु से वायु का, तथा साम से आदित्य का आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही यज्ञ है *।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्वतन्त्र यज्ञसंस्था है। इस प्रत्येक यज्ञसंस्था में 'पदं–पुनःपदम्' भेद से दो दो पर्व हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड 'पदं' है, एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप से निकल कर वस्तुपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर तक अपनी व्याप्ति रखने वाला बहिर्मण्डल उस वस्तुपिण्ड का 'पुनः पदं' है। इसी पुनः पदं को 'महिमामण्डल'–'साहस्रीमण्डल'–'वषट्कारमण्डल'–'विश्वरूप' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है।

*—"अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्" (मनुः)।

प्रत्येक वस्तु पिण्ड को वस्तुपिण्ड, वस्तुमहिमामण्डल, पिण्ड-मण्डलान्तर्गत वस्तुतत्त्व, भेद से तीन भागों में विभक्त देखा जासकता है। पिण्ड भी कोई सत्तासिद्ध वस्तु नहीं है, आकार मात्र है। मण्डल भी कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है, आकारमात्र है। जिस का यह पिण्ड है, जिस का यह मण्डल है, पिण्ड-मण्डल से पिण्डायित-मण्डलायित वही तत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। पिण्डात्मिका सीमा अन्तःसीमा है, मण्डलात्मिका सीमा बहिःसीमा है। इन दोनों सीमाओं से पिण्ड-मण्डलगत वस्तुतत्त्व सीमित बना हुआ है। पिण्ड सीमा ही, जिसे कि हम 'मूर्त्ति' कहेंगे, ऋग्वेद है, मण्डल सीमा को ही सामवेद कहा जायगा, एवं उस तीसरे सीमित-सत्तासिद्ध-वस्तुतत्त्व को यजुर्वेद कहा जायगा। इस प्रकार इस त्रयी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में त्रयीवेद की उपलब्धि हो रही है। दूसरे शब्दों में त्रयीविद्या के गर्भ में ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि हो रही है। जैसा कि-"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि" (शत० १०।४।२।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

ऋग्वेद छन्दोवेद है, सामवेद वितानवेद है, एवं यजुर्वेद रसवेद है, जैसा कि 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'दि में विस्तार से प्रतिपादित है। छन्दोलक्षण ऋग्वेदामूर्त्ति का निर्म्मापक है, वितानलक्षण सामवेद मूर्त्तिमण्डललक्षण बाह्यतेजोमण्डल का स्वरूपसमर्पक है, एवं रसलक्षण यजुर्वेद मूर्त्तिमण्डलान्तर्वर्त्ती रसात्मक गतिभाव का प्रवर्त्तक है *। इस तात्त्विकवेदस्वरूपविवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि, वेदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति बतलाई गई है, उस का प्रधान स्थान बहिर्मण्डलात्मक वितानलक्षण सामवेद ही बन रहा है।

---

* "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः।
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्॥
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्।
सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" [तै० ब्रा०३।१२।८।१,२,]।

पूर्व में साम का आदित्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। पाठकों को सम्भवतः यह भी स्मरण होगा कि, हमनें पूर्वब्राह्मण के विवेचना प्रकरण में 'स्वरविज्ञान' का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया था कि, स्वर का आदित्य से सम्बन्ध है, एवं स्वर्लोकस्थ दिव्यप्राण देवता भी स्वरात्मक ही हैं। इन स्वरात्मक प्राणदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है। स्वरतत्व आदित्यात्मक है, आदित्य सामात्मक है। फलतः स्वर—और साम की एकरूपता सिद्ध हो जाती है। पिण्डात्मिका ऋक् यदि पद्यस्थानीया है, मध्यस्थित यजुः यदि गतिधर्म्म से गद्यस्थानीय है, तो मण्डलात्मक साम इसी वितानात्मक स्वर-भाव से गेयात्मक है। वितान ही गान है, गान ही साम है, साम ही तत्तद्वस्तु-महिमामण्डल की अवसानभूमि है।

केन्द्र से बाह्यपरिधि पर्य्यन्त वर्त्तुलवृत्ताकारात्मक सहस्र मण्डल होते हैं। अतएव सामतत्त्व सहस्रवर्त्मा कहलाया है। इस सहस्रवर्त्मा साम के उस स्वरूप का हमें विचार करना है, जिस की सीमा के गर्भ में पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित है। इस सम्वत्सर यज्ञ का वितान भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ एकविंशस्तोम पर्य्यन्त होता है। २१ स्तोमपर्य्यन्त पार्थिव मण्डल ही 'रथन्तर साम' कहलाया है। त्रिवृदग्नि, पञ्चदशवायु, एकविंश आदित्य, ये मुख्य देवता, अग्निप्रमुख आठ वसुगण, वायुप्रमुख ११ रुद्रगण, आदित्यप्रमुख १२ आदित्यगण, १ प्रजापति, १ वषट्कार, ये ३३ प्राणदेवता यज्ञियदेवता कहलाए हैं। ÷। इन यज्ञिय देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। यह यज्ञमण्डलात्मक महिमामण्डल उभयतः—परितः—उसी वितानात्मक साम से परिगृहीत है।

दूसरी दृष्टि से सामव्याप्ति का विचार कीजिए। पार्थिव सामपृष्ठों को हव्यपृष्ठ, स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड) त्रिवृत्पृष्ठ, पञ्चदशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ, भेद से सात भागों में विभक्त किया जासकता है। ये सातों सामपरिभाषा में क्रमशः

÷ "इति स्तुतासो असथा रिशादसो येस्थ त्रयश्च त्रिंशच। मनोर्देवा यज्ञियासः" [८।३०।२]।

हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतीहार, उपद्रव निधन, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यदि त्रिवृत् का स्पृश्य पृष्ठ में अन्तर्भाव करलिया जाता है, तो त्रयस्त्रिंशपृष्ठ एक स्वतन्त्रपृष्ठ बन जाता है। उस समय हृद्यपृष्ठ, त्रिवृदन्तःस्पृश्यदृश्यपृष्ठ, पञ्चदशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, त्रयस्त्रिंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ (अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ) इस क्रम से सात पृष्ठ होजाते हैं। यदि हृद्यपृष्ठ का भूपृष्ठ में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो त्रिणव के समावेश से सात पृष्ठ होजाते है। इस प्रकार 'लोकेषु सप्तविधं सामोपासीत' इस अनुगम वचन का तीन प्रकार से समन्वय किया जासकता है ॥
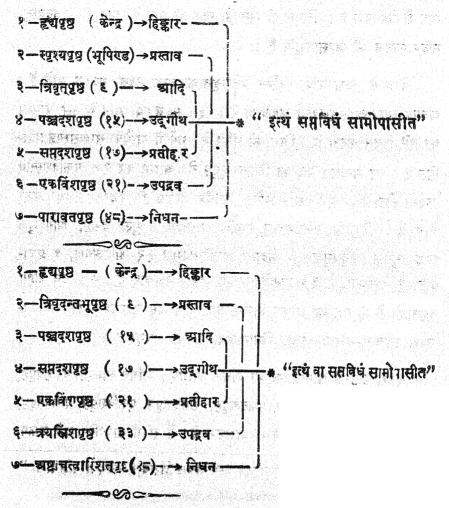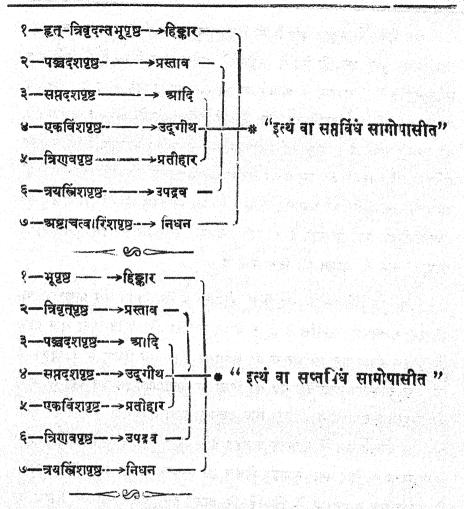
उक्त साम विवर्त्तों की विवेचना की ओर न जाते हुए प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, सामतत्त्व ही प्राकृतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। इस साममण्डल की उस उक्थ हृद्य बिन्दु को, जहां से प्राणात्मक साम का प्राथमिक उदय होता है, उसे ऋषियों नें 'हिङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है। एवं तदव्यवहित प्रदेश में प्रतिष्ठित उपक्रम बिन्दु को—'प्रणव' नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कारात्मक यही प्रणवसाम सप्तदश स्थान में 'उद्गीथोङ्कार' रूप में परिणत होता है। एवं सर्वान्त में यही सर्वरूप में परिणत होता हुआ—'सर्वोङ्कार' कहलाया है। इस प्रकार हिङ्कारात्मक प्रणवसाम के ग्रहण से सम्पूर्णसाम गृहीत होजाता है।

अब संक्षेप से सङ्गीत दृष्टि से भी हिङ्कारात्मक साम की मीमांसा कर लीजिए। नाद, स्वर, श्रुति, शब्दादि भेद से सङ्गीत के अनेक पर्व मानें गए हैं। इन में नाद सर्वमूलभित्ति है। नादब्रह्म के आधार पर ही स्वर का उत्थान होता है। स्वर के आधार पर श्रुति का आविर्भाव होता है, एवं श्रुति ही आगे जाकर शब्दाभिव्यक्ति की जननी बनती है। सङ्गीतज्ञ सङ्गीतकर्मारम्भ से पहिले नादब्रह्म के आधार पर सर्वप्रथम "हिं-हिं-हिं०" इस प्रकार स्वरसन्धान करता है। अनन्तर 'आ-आ-आ' इत्यादिरूप से श्रुति का सञ्चालन होता है। यह प्राथमिक हिं-हिं-किंवा *हूं-हूं-इत्याद्याकारक भाव ही साम है। इसी उच्चारण समतुलन से उस हृदसाम को 'हिङ्कार' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

उक्त सामविवेचन से यह सिद्ध होजाता है कि, साम उस प्राकृतिक यज्ञ की एक आवश्यक सम्पत्ति है। न केवल सम्पत्ति ही, अपितु बिना साममण्डल को आधार बनाए यज्ञ का वितान ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि, उस सप्तसामा प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर वितायमान इन वैध यज्ञों में साम का सम्बन्ध कराया जाय। इसी लिए उद्गाता द्वारा तत्तद्यज्ञों में सामगान होता है। इस दर्शपूर्णमास में सामगान अविहित है। परन्तु सम्बन्ध अपेक्षित है। इसी सामसम्बन्ध के लिए यहां सप्रणव हिंकार का सम्बन्ध कराया जाता है। सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के आरम्भ में 'हिं-हिं-हिं-ओम्' इस प्रकार सप्रणव हिङ्कार का समावेश करते हुए अनुवचन से यह यज्ञ भी सौम्य अध्वर की भांति सामसम्पत्ति से युक्त होजाता है। क्यों कि, सप्रणव हिंकारशब्द उस प्राकृतिक सामतत्त्व का संग्राहक बन रहा है।

हिंकारमात्र से साम की स्वरूप निष्पत्ति नहीं होती। हिङ्कार तो हृदभाव का स्वरूप समर्पक है, जोकि हृदभाव अनिरुक्तभाव का संग्राहक माना गया है।

* इसी लिए सा० छा० ब्राह्मण में 'हू३म्' इस शब्द को भी हिङ्कार माना है। [देखिए सा० छा० ब्रा० ४।८।१]।

साम की मूलप्रतिष्ठा जहां हिंकार है, वहां साम का प्रारम्भिकरूप प्रणव है। अतः मानना पड़ेगा कि हृद्यभाव का संग्राहक हिंकार है, एवं साम का संग्राहक 'ओम्' इत्याकारक प्रणव है। प्रणवोच्चारण से वाक्समुद्र में वर्त्तुलमण्डल का उदय होजाता है। यही वर्त्तुमण्डल सामका प्रातिस्विक रूप है। अतएव 'ओम' को साम का रूप माना जायगा, एवं हिङ्कार को साम का मूल माना जायगा। इसीलिए सप्रणव हिंकार ही यहां सामसम्पत्ति का संग्राहक माना जायगा। यह हिंकारोच्चारण केवल प्रथम सामिधेनी में हीं होगा। आगे के चौदह मन्त्रों के उपक्रम उपसंहार में केवल 'ओम्' का ही उच्चारण किया जायगा। सप्रणवहिंकार क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है, जिस का कि ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

सप्रणव हिङ्कार की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब केवल हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति बतलाई जाती है। हिङ्कार का नादात्मक प्राण से सम्बन्ध है। नादप्राण की उत्तरावस्था का ही नाम हिङ्कारात्मक प्राण है। यही हिङ्कारप्राण नासास्थान में प्रतिष्ठित होता हुआ जीवनलक्षण श्वास-प्रश्वास का हेतु बनता है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक हिङ्कार का स्वरूप नासाप्राण ही है। यही कारण है कि, नासाच्छिद्र बन्द कर लेने पर सानुनासिक हिङ्कार का उच्चारण असम्भव है। उधर ऋक्मन्त्र का प्रधान सम्बन्ध वाक् (अनुष्टुब्वाक्) से है। वाग्रूपेण ऋक् का उच्चारण होता है एवं प्राणात्मकेन हिङ्कार का उच्चारण होता है। सामिधेनियों के अनुवचन से दिव्यलोकस्थ प्राणाग्नि का इस यज्ञ में प्रजननरूप आधान करना है। प्रजननकर्म्म योषा-वृषा के दाम्पत्यभाव पर निर्भर है। इधर प्राण वृषा है, वाक् योषा है। हिङ्कारपूर्वक मन्त्रोच्चारण करना वाक्-प्राण का दाम्पत्यभाव सम्पादन करना है, जो कि दिव्याग्नि का प्रजनयिता है। इसी प्रजननसम्पत्ति के लिए हिङ्कारपूर्वक अनुवचन किया जाता है। यही हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति है ॥ २ ॥

चूंकि हिङ्काररूप वृषाप्राण का ऋग्रूपा योषा वाक् के साथ दाम्पत्यभाव भी अभीष्ट है, इसीलिए तो हिङ्कार का उच्चस्वर से उच्चारण न कर उपांशुरूप से ही

उच्चारण किया जाता है। प्राण स्वयं अनिरुक्त है, वाक् निरुक्त है। यदि उच्चस्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा, तो निरुक्तभाव में आता हुआ यह भी निरुक्तावाक्-रूप में ही परिणत होजायगा। परिणामतः अभीप्सित दाम्पत्यभाव का संग्रह न हो सकेगा। उधर उपांशु अनिरुक्तभाव से सम्बन्ध रखता है। अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है। फलतः उपांशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप को सुरक्षित रखते हुए दाम्पत्यभाव का संग्रह करना है। यह भी स्पष्ट ही है कि, गानकाल में 'हिं-हू' इत्याद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर गुन-गुनाया जाता है। क्यों कि इस का नाद से सम्बन्ध है। और नादब्रह्म स्वयं हृदयस्थ अनिरुक्ततत्त्व है। हिङ्कार का उपांशु उच्चारण क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही उपपत्ति है ॥ २ ॥

मन्त्रों में पठित 'प्र' 'आ' 'सम' 'अन्नु' इत्यादि उपसग किसी विशेष प्रयोजन को गर्भ में रखते हैं। जब ऋषि को आगमनभाव का संग्रह करना होता है, तो मन्त्र मे 'आङ्' उपसर्ग का समावेश कर दिया जाता है। जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बतलाना होता है, उस में 'प्र' उपसर्ग लगा दिया जाता है। जिस में दोनों लोकों की (पृ० द्यु० की) वस्तुओं का सङ्गम प्रतिपाद्य होता है, उस मन्त्र में 'सम्' उपसर्ग रहता है। जहां वस्तुपृष्ठ का सम्बन्ध बतलाना अभीष्ट होता है, वहां 'अनु' उपसर्ग प्रयुक्त होता है। इस प्रकार महारम्भ महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्तद्विशेष भावों का संग्रह किया करते हैं। इन उपसर्गों के सम्बन्ध से उन ऋचाओं के भी 'प्रवती-आवती-समवती-अनुवती' इत्यादि नाम होजाते हैं।

प्रकृत दर्शपूर्णमास में हमें इस पार्थिव भौतिक आङ्गिरस अग्नि में सामिधेनी-अनुवचन से दिव्य-प्राणात्मक सावित्राग्नि का आधान करना है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, आगत दिव्याग्नि को यहीं प्रतिष्ठित नहीं रखना है। अपितु पार्थिवाग्नियुक्त इस दिव्याग्नि में हविर्द्वारा यजमान के शरीराग्नि का सम्बन्ध करा, इसे

देवात्मारूप में परिणत कर वापस उसी द्युलोक में भेजना है। इस प्रकार यहां 'आदान-विसर्ग' दोनों कर्म्म अपेक्षित हैं। इस उभयकर्म्म सिद्धि के लिए यहां आरम्भ में उन दो ऋचाओं का अनुवचन होता है, जिन में आगमन सूचक 'आङ्', तथा प्रयाणसूचक 'प्र' उपसर्ग का समावेश है। आरम्भ में-'प्र' 'आ' उपसर्ग वाली ऋचाओं का अनुवचन क्यों होता है ? इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए।

सामिधेनी-अनुवचनकर्म्म से सावित्राग्नि इस पार्थिव आङ्गिरस अग्नि में प्रतिष्ठित हो जाता है, यह कहा जाचुका है। क्या हविर्ग्रहण करने के अनन्तर इस सावित्राग्नि का इस सावित्ररूप से ही पुनः द्युलोक में गमन होता है ? नहीं। जब सावित्राग्नि वापस लौटेगा, तो उस समय यह सावित्र न रह कर गायत्र बन जायगा। गायत्री का स्वरूप पृथिवी, और द्युरस के मेल से निष्पन्न हुआ है। सूर्य्यकेन्द्रसे निकल कर चारों ओर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक सौरतेज 'सावित्री' कहलाता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मौदनभूत सूर्य्य का साक्षात् तेज ही 'सावित्री' है। यह सौरसावित्रतेज भूगर्भ में प्रवर्ग्य सम्बन्ध से प्रविष्ट हो जाता है। भूपिण्ड 'गो' नाम से प्रसिद्ध है। इस गोगर्भ में प्रतिष्ठित होने से भी यह सौर तेज 'गायत्री' कहलाया है। इस के अतिरिक्त यही प्रवृक्त सौरतेज पार्थिवविवर्त्त का स्वरूपसम्पादक है, अतः 'अगायत्-सम्पादयत्' इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहा जाता है। जो व्यक्ति इस तेज को (गायत्रीछन्दस्क सुप्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रद्वारा) अपने अध्यात्म में प्रतिष्ठित कर लेता है, उस की कोई क्षति नहीं होती। अतः 'गायन्त मुपासकं त्रायते' इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहना अन्वर्थ बन रहा है, जैसाकि 'सन्ध्याविज्ञान' में विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्त्त हैं। सौर तेज प्रवृक्त हुआ, प्रवृक्त होकर भूगर्भ में प्रविष्ट हुआ, अन्तर्य्याम सम्बन्ध के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर ऊर्ध्वलोकानुगत बना। यही पार्थिवगायत्री कहलाई है। इसे हम 'भूतगायत्री'

भी कहसकते हैं। लौकिकअग्नि इसी भूतगायत्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है, एवं यही अध्वर्युद्वारा इध्मकाष्ठ से इद्ध किया जाता है। हमारे प्रकृत सामिधेन्यनुवचन कर्म्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सौरसावित्र तेज द्युलोक से आकर गोरूप भूलोक से टकराया। यहां से इस का प्रतिफल न हुआ। इस का भी भू से सम्बन्ध होने के कारण 'गायत्री' नाम अवश्य हुआ, परन्तु यह गायत्रतेज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नहीं है। उस प्रवृत्त भाग का जहां भूलोक से अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, वहां इस प्रतिफलित गायत्र-तेज का भूलोक से बहिर्य्याम सम्बन्ध है। त्रैलोक्य में जो प्रकाश होरहा है, यह प्रतिफलित सौरतेजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। एवं यही गायत्रतेज के प्रत्यक्ष दर्शन है।

इस द्वितीय गायत्रतेज के, किंवा गायत्री के आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं। प्रतिफलनप्रक्रिया का द्वैविध्य ही इस विवर्त्तद्वयी का मूल है। सौरतेज आकर प्रतिफलित हुआ, धूप का स्वरूप प्रकट होगया। यहां से पुनः इस का प्रतिफलन होता है। इस द्वितीय प्रतिफलन से छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया में जो प्रकाश (आतपशून्य उजेला) है, वही उस का द्वितीय रूप है। प्रथमरूप 'ज्योतिर्म्मयी गायत्री' गायत्री कहलाती है, द्वितीय गायत्री छायामयी गायत्री है। ज्यो० गायत्री में आग्नेयतेजोमय देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है, एवं छा० गायत्री में सौम्यतेजोमय पितर प्राण प्रतिष्ठित है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूप-सम्पत्ति के लिए पितृकर्म्म (श्राद्ध) में दोनों ओंवे कर दिए जाते हैं।

इस प्रकार एक ही सौरसावित्र तेज के आधार पर पार्थिवभूतगायत्री, दिव्य-देवगायत्री, दिव्य पितृगायत्री भेद से तीन गायत्रविवर्त्त होजते हैं। तीनों में से प्रकृत में मध्यस्था देवगायत्री का ही यहां समिन्धन अपेक्षित है। यह दिव्यगायत्री दो तरह से 'एति–प्रेति' युग्म से युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया, यह 'आ' (एति) भाव है। प्रतिफलन प्रक्रिया से वापस द्युलोक की ओर आगया, यह 'प्र' (प्रेति) भाव है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। बतलाया गया है कि, द्युलोक से आगमनदशा में इसे 'सावित्री' कहा जाता है, न कि गायत्री। फिर 'आगमनात्मक'–आभाव का तो सावित्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ, एवं गमनात्मक प्रभाव का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वह तेज सावित्र है, जाता हुआ वह तेज गायत्री है। 'सावित्री एति' (आगच्छति) 'गायत्री प्रेति' यही प्राकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही 'एति प्रेति' दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे बतलाया गया ?

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ सौर तेज सावित्री ही है, एवं जाता हुआ सौर तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्य्यगत सविता से ही सम्बद्ध है, गायत्री पृथिवी सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। परन्तु दृष्टि के अनुसार, साथही उपयोगमर्य्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। सौरतेज वही हमारे लिए वही 'आता हुआ' माना जायगा, जो गायत्री रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्री रूप में परिणत के लिए होता है, अतः 'तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं' न्याय से भी उस गायत्र्यर्थ आगत सावित्र तेज को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहां दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

वहां से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में बलाधान करता है, जाताहुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगतरसों का आदान करता हुआ द्युलोकस्थ देवप्रजा में बलाधान करता है। वहां से, आना, यहां से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना यह इस का एक प्रकार का एति–प्रेतिभाव है। इस एति प्रेतिभावात्मक गायत्रतेज का मन्त्रद्वारा यज्ञ में सम्बन्ध कियागया। वहां से आते हुए को तदनुरूप छन्द–देवता–स्वरयुक्त मन्त्रवाक् से आकर्षण कर उस का यहां योग कर दिया, यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या द्युलोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस यज्ञानुगता–यज्ञभक्तिभूता, हविर्युक्ता गायत्री का सम्बन्ध होगया। इस

परम्परा से उस के साथ इस का द्युलोक में गमन होगया, यही इस का 'प्र' भाव कहलाया। इसी को हम अपने यज्ञानुगत एति-प्रेति भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीतत्व 'एति-प्रेति' भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहां सामिधेन्यनुवचन कर्म्म होता है। अतः तदाकर्षक इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपानुगत एति-प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। 'प्र' (प्रयती)-'आ' (आवती) ऋचाओं का अनुगमन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥४॥

'एति-प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक-गायत्रभाव का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति-प्रेति' भाव का भी संग्रह होजाता है। हमारी आध्यात्मिक संस्था में श्वास प्रश्वासात्मक उदान-प्राण 'एति-प्रेति' भावात्मक बन रहे हैं। आता हुआ वायव्यप्राण 'उदान' है, जाता हुआ वायव्य प्राण 'प्राण' है। हमें इस यज्ञकर्म्म से हमारे (यजमान) के आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वर्गमन के लिए दैवात्मा उत्पन्न करना है। यह दैवात्मा हमारा आध्यात्मिक रूप है। उक्त 'एति-प्रेति' भाव से इस में 'एति-प्रेति' भावात्मक उदान, तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी 'एति-प्रेति' भावयुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥५॥

रेत-सेक करने वाले का रेत योषाप्राण (गर्भाशयगत योनिरूप आग्नेय प्राण) में आहुत होता हुआ रेतः सेक करने वाले की अपेक्षा से 'प्रेति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। एवं-वही सिक्त रेत १० मास के अनन्तर पूर्णावयव बनकर अपत्यरूप में परिणत होकर एवयामरुत् के प्रत्याघात से भूमिष्ठ बनता हुआ 'एति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। रेत सिञ्चक की दृष्टि से 'प्रेति' है, रेतोरूप अपत्य सिञ्चक की दृष्टि से 'एति' है। हमें इस यज्ञ कर्म्म में प्रजनन कर्म्म अपेक्षित है। एवं प्राकृतिक प्रजनन कर्म्म 'एति-प्रेति' भावात्मक है। उस का भी

यह सम्बन्ध होजाता है। यही 'एति–प्रेति' भावात्मक अनुवचन की तीसरी उपपत्ति है ॥

जिस यज्ञ से हमें यजमान के आध्यात्मिक शारीराग्नि के आधार पर दैवात्मा उत्पन्न करना है, उस में आध्यात्मिक यज्ञपुरुषवत् 'आत्मा–शरीर' दोनों भाग अपेक्षित हैं। आत्मा भोक्ता है, शरीर भोग्य है। यही भोग्य शरीर 'भोगायतन' भी कहलाया है, भोग्य भी कहलाया है। आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त भेद से दो भागों में विभक्त है। शरीर इस का अन्तर्वित्त है, बाह्यभौतिक परिग्रह बहिर्वित्त है। दोनों ही 'पशु' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इस पशुसम्पत्ति के संग्रह के लिए भी एति–प्रति' भाव उपयुक्त हो रहा है। पशु प्रातः जङ्गल में चरने जाते हैं, यही इन का 'प्रेति' (गच्छन्ति) भाव है। सायङ्काल वापस लौट आते हैं, यही इन का 'एति' (आगच्छन्ति) भाव है। इस प्रकार पशुसम्पत्ति भी 'एति–प्रेति' भावात्मिका बन रही है। आने-जाने वाले पशु चेतन हैं। जिस प्राकृतिक पशुप्राण से इन पशुओं का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, वही पशुप्राण अन्तर्वित्तलक्षण शरीरात्मक पशुभाव का स्वरूपसमर्पक माना गया है। इस सादृश्य से दैवात्मा में पशु-सम्पत्ति का भी आधान हो जाता है, अन्तर्वित्तलक्षण शरीरसम्पत्ति का संग्रह हो जाता है। यही 'एति–प्रेति' भावात्मक अनुवचन की चौथी उपपत्ति ह।

अब बहिर्वित्त–लक्षण बाह्यपशुसम्पत्ति का, जिसे कि हम आधिभौतिक सम्पत्ति कहेंगे संग्रह करना शेष रह जाता है। यह काम भी इसी 'एति–प्रेति' भाव से गतार्थ बन रहा है। सम्पूर्ण भूत–भौतिक पदार्थ इसी 'एति–प्रेति' भाव से नित्य सम्बद्ध हैं। कुछ एक उदाहरण ही इस सम्बन्ध में उपोद्बलक मान लिए जायँगे। त्रैलोक्य गर्भ में प्रतिष्ठित यच्चयावत् भूत–भौतिक पदार्थ इसी भावद्वयी से नित्य आक्रान्त हैं, जिसका "सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह" (ईश० उ०) इत्यादिरूप से सर्वत्र प्रत्यक्ष किया जासकता है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर

हम इस निश्चय पर पहुँचा करते हैं कि, विश्व, तथा विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ गतिशील हैं, संसरणशील हैं। अतएव इस प्रपञ्च को 'संसार' कहा जाता है। इसी स्वाभाविक गति से पदार्थों में अवस्था-परिवर्त्तन हुआ करता है। इसी क्षणिक परिवर्त्तन के आधार पर दर्शनविशेषने 'क्षणिकं क्षणिकं' सिद्धान्त स्थापित करने का साहस किया है।

परन्तु जब हम अन्तर्दृष्टि से विचार करते हैं, तो हमें यह मान लेना पड़ता है कि, इस गतिभाव के गर्भ में 'आगति' भी प्रतिति होरही है। गतिभाव विनाश है, तो आगतिभाव सम्भूति है। दोनों का एक ही बिन्दु में समावेश होरहा है। प्रत्येक पदार्थ पूर्वरूप से नष्ट होताहुआ उत्तर रूप से सम्भूत है। बिगडता हुआ बन रहा है, बनता हुआ बिगड रहा है। चलता हुआ ठहरा हुआ है, ठहरा हुआ चल रहा है। इस चलाचल (चल-अचल) भावद्वयी से ही "सर्वमिदं चलाचलम्"। इन दोनों में चलभाव (गतिभाव) प्रेति का स्वरूप समर्पक बन रहा है, अचलभाव (स्थिति भाव) एति भाव का अनुग्राहक बन रहा है।

आदान-विसर्ग दृष्टि से भी इस 'एति-प्रेति' की व्याप्ति के दर्शन किए जा सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ मेंसे उसके क्षरपरमाणु विस्रंसनधर्म्मा हृदयप्रजापति के सम्बन्ध से विस्रस्त हो रहे हैं। साथ ही 'भैषज्य यज्ञ' नामक प्राकृतिक कर्म्म से आदान द्वारा इस निर्गत भाग की क्षतिपूर्त्ति भी हो रही है। प्रतिवस्तु प्रत्येक क्षण में आदान-विसर्ग, दोनों भावों से नित्य आक्रान्त है। विश्व क्रियात्मक है। क्रिया गतितत्त्व है। प्रत्येक गति के गर्भ में 'आगति' है, एवं प्रत्येक आगति के गर्भ में गति है। सूर्य्य की रश्मियों को देखिए। रश्मियाँ चलतीं हैं, परन्तु पीछे हटतीं हुईं। 'अर्चंश्चरति' के अनुसार अपानन करते हुए ही रश्मियों का प्राणन हो रहा है, जैसा कि 'अस्य प्राणादपानती' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हमारी मार्गगति में एक पैर आगे बढ़ता हुआ चल रहा है, तो दूसरा पीछे हटता हुआ आगति का भी प्रवर्त्तक बन रहा है। प्रतिगति में आगति अनुस्यूत है।

चक्षुपटल भी इस प्राणन-अपानन से वञ्चित नहीं है। मार्ग में चलते हुए दोनों हाथों की गति पर दृष्टि डालिए। आगति-गति, दोनों भाव उपलब्ध होंगे। शरीर का रुधिर भी सर्वत्र सञ्चार करता हुआ दोनों का अनुग्राहक बन रहा है। कर्म्ममय विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं हैं, जिसमें 'एति-प्रेति' दोनों भावों का सम्बन्ध न हो। यही भौतिक जगत् का प्रातिस्विक धर्म है, जो कि इसे गायत्रब्रह्म के अनुग्रह से प्राप्त है। इसी आधार पर-'गायत्री वा इदं सर्वम्, (छा. उपनिषत्) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। यही आधिभौतिक सम्पत्ति है। एति-प्रेति पूर्वक अनुवचन से सर्वसाधारण में सामान्यरूप से व्याप्त इस सम्पत्ति का भी संग्रह हो जाता है। यही एति-प्रेति भावात्मक अनुवचन की पांचवीं उपपत्ति है ॥ ९ ॥

तात्पर्य्य यह हुआ कि, आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों के समन्वय से इस अधियज्ञ (वैधयज्ञ-दर्शपूर्णमास) से देवात्मा उत्पन्न करता है। इस की स्वरूप सिद्धि के लिए हमें पांच सम्पत्तियाँ अपेक्षित हैं। आधिदैविक सम्पत्ति पहिली है, यजमानाग्निलक्षणा आध्यात्मिक सम्पत्ति दूसरी सम्पत्ति है, वहिर्वित्तलक्षणा बाह्यभौतिक सम्पत्ति तीसरी है, अन्तवित्त लक्षणा शरीरसम्पत्ति चौथी है, स्वयं यज्ञकर्म्म पांचवीं सम्पत्ति है। 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन से पांचों का संग्रह हो जाता है। इसीलिए श्रुति ने पांच उपपत्तियाँ बतलाई हैं। यही गायत्रानुगत एति-प्रेति भाव की सर्वव्याप्ति का संक्षिप्त निदर्शन है, जिसके उपासक सतत एति-प्रेति' भाव से युक्त रहते हुए पूर्ण समृद्ध बने रहते हैं ॥

सामिधेनी कर्म्म क्यों किया जाता है? सप्रणवहिङ्कार पूर्वक क्यों किया जाता है? ११, १५ १७ संख्या का क्या रहस्य है? अनवानन का क्या रहस्य है? आद्यन्त के त्रि-त्रि. आवर्त्तन से क्या प्रयोजन अभिप्रेत है? गायत्रीछन्द का, अग्निदेवता का सम्बन्ध क्यों अभीष्ट है? 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन क्यों किया जाता है? इत्यादि उन प्रश्नों की, जिनका बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध है क्रमिक

उपपत्ति बतला दी गई। अब यहां से आगे (७ कण्डिका से) पद्धतिप्रदर्शनपूर्वक सामिधेनी मन्त्रों की व्याख्या आरम्भ होती है। वही क्रमशः पाठकों के सम्मुख रक्खी जाती है।

वेदि के पश्चिम भाग में, अथवा वेदिश्रोणि के उत्तर भाग में अध्वर्यु द्वारा बिछाए हुए दर्भासन पर खड़ा होकर 'होता' नाम का ऋत्विक् सर्वप्रथम निम्न-लिखित सामिधेनी मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता है।

(१) "हिं-हिं-हिं-ओम्-" प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (१, २, ३,)।

"हिं-हिं-हिं-ओम्" इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चारण केवल एकबार प्रथम मन्त्र के साथ ही किया जाता है। आगे के सम्पूर्ण मन्त्र केवल 'ओम्' पूर्वक ही बोले जाते हैं। इस मन्त्र को ऋतुपरक भी लगाया जा सकता है, एवं अग्निपरक भी लगाया जा सकता है। उभयथा अग्नि तत्त्व ही अभिप्रेत है। कारण इसका यही है कि, अग्नि की सत्य, ऋतभेद से दो अवस्था मानीं गई हैं। सत्याग्नि स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्वत्सरयज्ञ का साक्षी है, जिसके लिए-"तद्यत् तत् सत्यमसौ-स आदित्यः" (ब्राह्मण) यह कहा जाता है। इस सूर्यात्मक सत्य (सहृदय-सशरीरी) अग्नि (जिसे गायत्रीमात्रिक वेदाग्नि भी कहा जाता है) का जो प्रवर्ग्य भाग है, वह केन्द्र-सम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ 'ऋत' कहलाया है। इस ऋत (वायव्य) अग्नि में ऋतसोम की आहुति होती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है, ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर आता हुआ इसमें आहुत होता रहता है। इस ऋताग्नि, ऋतसोम के अन्तर्य्यामि नामक चिति (ग्रन्थिबन्ध) सम्बन्ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्दन से जो एक तीसरा उभयात्मक स्वरूप उत्पन्न होता है, उसे ही 'ऋतु' कहा जाता है। इस ऋतुसमष्टि का ही नाम "सम्वत्सर यज्ञ" है। इस प्रकार वही अग्नि ऋतावस्था में आकर सोमसम्बन्ध से ऋतु बनता हुआ यज्ञप्रतिष्ठा बन रहा है। अतएव ऋतुपक्ष, तथा अग्निपक्ष, दोनों का अन्ततोगत्वा अग्निपक्ष में ही पर्य्यवसान सिद्ध हो जाता है।

"वाज, अभिद्रव, हविष्मन्त, घृताची" ये चारों इस यज्ञाग्नि के स्वरूप रक्षक हैं। इन्हीं चारों के सम्बन्ध से साम्वत्सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। वाज सामान्यतः "१ अन्न" का वाचक माना गया है। वस्तुतः 'वाज' उस तत्त्व का नाम है, जो अन्नरूप से सूर्य्य से भी ऊपर आपोमय परमेष्ठी (जनल्लोक) में प्रतिष्ठित रहता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व "आपः-वायुः-सोम" भेद से तीन भागों में विभक्त है। इनमें जो अप् की सोमावस्था है, वही 'वाज' है। गायत्री जिस सोम का अपहरण करती है, वह भी सोम है, चान्द्रमण्डल में भी सोम है। परन्तु यह 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य सोम अपनी तत्रत्य अवस्था से दोनों से भिन्नधर्मा है। इसे ब्रह्मवीर्य का संग्राहक माना गया है, जैसाकि- "वीर्य्यं वै वाजाः" (शत० ३।३।४।७) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य पार्थिव हविर्यज्ञ में चान्द्रसोम का सम्बन्ध है, साम्वत्सरिक ज्योतिष्टोम में सौररश्मिमुक्त ज्योतिर्मय सोम का सम्बन्ध है। एवं प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक, अतएव "२ ब्रह्मणस्पति" नाम से प्रसिद्ध पवित्र वाजनामक पारमेष्ठ्य सोम का सम्बन्ध है। अतएव 'वाजपेय' यज्ञ का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है * । अतएव इसे बृहस्पतिसव भी कहा गया है। **"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"** के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्व ग्रहों के अन्त में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेय यज्ञ प्रवर्त्तक बृहस्पति प्रतिष्ठित है, जो कि सुप्रसिद्ध 'बृहस्पतिग्रह'—तथा 'लुब्धकबन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तीसरा पारमेष्ठ्यग्रह माना गया है। सौरइन्द्र सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक उत्तरग्रहों से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा में बृहस्पति है, इस ओर के उपक्रम में इन्द्र है, यही तात्पर्य्य है। बृहस्पति ब्रह्म-

१—"अन्नं वै वाजः" (तां० म० ब्रा० १३।९।१३)।

२—"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत" (ऋक् सं० ९।८३।१)

*—"स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः-यदेनेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पतिः। ब्रह्म हि ब्राह्मणः।" (शत० ५।१।१।११)।

त्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है, एवं सौर इन्द्र क्षत्रात्मक क्षत्रिय की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाज का सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि दोनों सीमापेक्षया समीप हैं। अतएव आगे चलकर श्रुति ने वाजपेय का राजन्य को भी अधिकारी मान लिया है१। इस प्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वस्तुतः वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर श्रुति का- "ब्रह्म वै वाजपेयः" (तै० ब्रा० १।३।२४।) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज सम्बन्ध में पारमेष्ठ्य आप्यपशु 'वाजी' कहलाया है। इसी वाजी-प्राण का जिस अश्वजातिविशेष में प्राधान्य रहता है, उस अश्वजाति को भी 'वाजी' कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज स्वरूप से यही बतलाना है कि, इसी पारमेष्ठ्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम ज्यौतिर्म्मय सोम है, जिसकी आहुति से सौर कृष्णाग्नि ज्योतिर्म्मय बना हुआ है। तृतीयावस्था चान्द्रसोम है। चौथी अवस्था ओषधियाँ (गोधूमादि अन्न) हैं। चान्द्रसोम ही प्रवर्ग्य सम्बन्ध से ओषधियों का स्वरूप समर्पक बनता है। पशुओं में भी परम्परया वही वाजरस प्रतिष्ठित है। ऋतुएं (ऋताग्नि) भी इसी वाजरस से परिपुष्ट हैं। वाजरस की इसी व्याप्ति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—"वाजो वै पशवः" (ऐ० ब्रा० ५।८।)।
२—"ओषधयः खलु वै वाजः" (तै० ब्रा० १।३।७।१।)।
३—"ऋतवो वै वाजिनः" (शत० ब्रा० २।४।४।२२।)।

यह वाजरस सर्वथा अग्नि को समिद्ध करने वाला है। पारमेष्ठ्य वाज ब्रह्माग्नि की, ज्यौतिर्मय वाज सम्वत्सराग्नि की, चान्द्र वाज ओषधाग्नि की, ओषधिवाज शारीराग्नि

१-"अथो राजन्यस्य (वाजपेयः)-यदेनेन-इन्द्रोऽयजत। क्षत्रं हीन्द्रः, क्षत्रं राजन्यः" (शत० ५।१।१।११।)।

की प्रदीप्ति का कारण बन रहा है। चूँकि वाजरस से अग्नि समिद्ध रहता है, अतएव इसे हम अवश्य ही अग्नि का स्वरूप रक्षक कह सकते हैं।

दूसरा रक्षक है—"अभिद्यव"। पक्षाग्नि का ही नाम अभिद्यव है। अवयवी की रक्षा, पुष्टि, तुष्टि, तृप्ति अवयवों की रक्षादि पर ही निर्भर है। सम्वत्सराग्नि अवयवी है, पक्षाग्नि अवयव हैं। इन अवयवों से ही उस अवयवी की स्वरूप रक्षा हो रही है। अतः इन "अभिद्यु" नामक पर्वाग्नियों को भी हम अग्निस्वरूप रक्षक मान सकते हैं।

'हवि' से ओषधिरूप अन्न, भौतिक शरीर, दोनों अभिप्रेत हैं। भौतिक शरीर आयतनरूप से अग्नि का रक्षक है, एवं अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा कर रहा है। अन्न-भूत, दोनों हीं मर्त्य होने से पशु हैं। अतएव श्रुति ने 'हविष्मन्तः' का पशु अर्थ किया है।

आन्तरिक्ष्य वायु में आज्य की मात्रा प्रतिष्ठित रहती, जैसा कि 'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत० ७।३।२।३१) इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आज्याहुति से अग्नि अतिशय रूप से समिद्ध रहता है। आज्याहुति देने वाले वायु हैं, यही प्राकृतिक यज्ञ के जुहू-स्थानीय 'घृताची' हैं। इस प्रकार मन्त्र में पठित वाजादि चारों अग्नि-समिन्धन का भाव ही स्पष्ट कर रहे हैं। इन चारों रक्षकों से युक्त उस दिव्याग्नि का यहां आधान ही प्रकृत अनुवचन कर्म से अभिप्रेत है। उसके आधान से स्वर्गसुखार्थी (सुम्नुयु) यजमान यज्ञ द्वारा दिव्यदेवताओं की सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी सामयिक अर्थ को लक्ष्य में रखकर मन्त्र ने कहा है कि—

'हे अग्ने! घृताची के द्वारा वाज, पक्ष, पशु आदि सम्पत्तियाँ (आपको समिद्ध बनाने के लिए) प्रादुर्भूत होते हैं। इनके प्रादुर्भाव से (आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यजमान देवभाव को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।"

उक्त ऋचा में चूंकि 'प्र' उपसर्ग आया है, अतएव इसे हम 'प्रवती' ऋचा कहेंगे, एवं इसे गायत्री के 'प्रेति' (गच्छति) भाव का संग्राहक मानेंगे। इस प्रथम मन्त्र के त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन करने के अनन्तर होता निम्न लिखित (मौलिकरूप से दूसरी, तथा संख्या क्रम से चौथी) सामिधेनी का अनुवचन करता है।

(२)-"ओं-अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि-ओम्" (४) इति।

प्राकृतिक दिव्याग्नि स्वमण्डल से भूलोक की ओर आता है। यहां भूलोक ही उसकी प्रतिष्ठा बनता है। इस भूलोक को याज्ञिक परिभाषा में 'बर्हि' कहा जाता है। पितृपरिभाषा में 'आग्नेय-सौम्य-समशीतोष्ण' भेद से तीन प्रकार के अन्नपितर माने गये हैं। सूर्य्योपलक्षित द्युलोक आग्नेय बनता हुआ 'उष्ण' है। चन्द्रमोपलक्षित अन्तरिक्ष सौम्य होने से 'शीत' है। एवं भूलोक अग्नि-सोम के समसमन्वय से अनुष्णाशीत (न उष्ण, न शीत) है। इस अनुष्णाशीत भूलोक का निदान 'बर्हि' (दर्भ) माना गया है। कारण इसका यही है कि, पारमेष्ठ्य शीत अप्तत्त्व का जो भाग सौरमण्डल के अग्नि से मिलकर 'वेन' कहलाता है, वह 'अप्-अग्नि' के समसमन्वय से अनुष्णाशीत है। अग्नि सम्बन्ध से पानी का शैत्य हट जाता है, अप्सम्बन्ध से अग्नि की उष्णता शान्त हो जाती है। ऐसे अनुष्णाशीत वेनतत्त्व से ही 'बर्हि' की उपपत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व में दर्भोत्पत्ति विज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी सादृश्य से बर्हि को तत्समानधर्म्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर दिव्याग्निगत पितरों को 'अग्निष्वात्ता', आन्तरिक्ष्य सोमगत पितरों को 'सोमसत्', एवं अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरों को 'बर्हिषत्' कहा गया है। यहां इससे यही बतलाना है कि, द्युलोक से आने वाले दिव्याग्नि की प्रतिष्ठाभूमि वह भूलोक बनता है, जिसे निदान विधि से 'बर्हि' कहा गया है।

प्रसङ्गतः यह और ध्यान रखना चाहिए कि, पार्थिव अप्तत्त्व, तथा दिव्य अग्नितत्त्व, दोनों के समन्वय से ही पार्थिव प्रजा की उत्पत्ति हुई है। शुक्र अग्नि-

गर्भित अपूतत्त्व है, शोणित सोमगर्भित अग्नितत्त्व है। दोनो का दाम्पत्य भाव ही प्रजास्वरूप का कारण है। इस दृष्टि से प्रजा को भी 'बर्हि' कहा जासकता है। ओषधियों में भी पार्थिव अग्नि, वृष्टि जलरूप से दोनों का समन्वय है, अतः इन्हें भी बर्हि कहा जा सकता है। चतुष्पाद पशुओं में भी पार्थिव अब्रस, तथा दिव्य अग्निरस का समसमन्वय है। अतः इन्हें भी 'बर्हि' कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्नाग्नि—समन्वित अनुष्णाशीततत्त्व की दृष्टि से बर्हि शब्द निदानेन कई स्थानों में व्यवहृत हुआ है *।

द्युलोक से चलकर इस बर्हि (भूपृष्ठ) पर आने वाला वह अग्नि अपने साथ प्राणदेवताओं को भी लाता है। "अग्निः सर्वा देवताः" के अनुसार अग्निगर्भ में सारे दिव्यदेवता प्रतिष्ठित हैं। इस आह्वानलक्षण सहप्राप्तिधर्म्म से भी इस भूलोकस्थ दिव्य अग्नि को 'होता' कहा जा सकता है। साथ ही यह पार्थिव रसों का आदान करता हुआ इससे देवतृप्ति का कारण बनता हुआ 'हवन' साधक बनने से भी यह 'होता' कहा जासकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वयं का पार्थिव अन्नरस से सम्बन्ध होता है। अनन्तर इस हवि का प्राणदेवताओं से सम्बन्ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म्म है। प्रकृतमन्त्र ने इसी अग्नि कर्म्म का वैधयज्ञ दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

"हे दिव्याग्ने! आप पार्थिव रस रूप हविर्भक्षण के लिए, तथा प्राण देवताओं में इस हवि को पहुँचाने के लिए (द्युलोक से भूलोक तक) व्याप्त होते हुए भूलोक में पधारिए। यहां होता रूप से इस बर्हि (भूलोक) पर विराजिए,, (द्युलोक से

---

* १ अयं वै लोको (भूलोको) बर्हिः"(श०१।८। २।११)।
–"प्रजा वै बर्हिः"(तै०ब्रा०१।६।२।१०)।
–"ओषधयो वै बर्हिः" (शत०।१। ३।३।६। ।
–"पशवो वै बर्हिः" (ऐ०ब्रा०५।२।८)।
–"शरद्वै बर्हिः"(शत०१।३।४।१०)।

भूलोक तक अग्नि का व्याप्त होना ही इस आधिदैविक पक्ष में अग्नि का स्तवन कर्म्म है)।

"हे दिव्याग्ने (होता के सामिधेनी कर्म्म से बुलाए जाते हुए) आप यज्ञिय-हवि खाने के लिए, तथा इस हवि को देवताओं में पहुँचाने के लिए इस यज्ञ संस्था में पधारिए, एवं इस कुशासन पर होता बन कर विराजिये"।

उक्त ऋचा में चूँकि 'आङ्' उपसर्ग आया है, अतएव इसे 'आवती ऋचा' कहा जायगा। एवं इसे गायत्री के 'एति' (आगच्छति) भाव का ही संग्राहक माना जायगा। इस प्रकार इन दोनों के अनुवचन से होता 'एति-प्रेति' भाव का ही संग्रह करने में समर्थ होता है, जैसाकि ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञेतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मों का वैज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है। परन्तु उसका समन्वय श्रौतपद्धतियों, निगमानुगमवचन प्रमाणों के आधार पर ही करना चाहिए। अपनी कल्पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञान सम्मत नहीं, किन्तु अज्ञानसम्मत है। वर्त्तमान युगमें तो ऐसे वेदवैज्ञानिकों की कमी है ही नहीं, किन्तु पुरायुग में भी किसी किसी को विज्ञान का अजीर्ण होजाता था। पद्धति के अनुसार उक्त दोनों मन्त्र 'प्र-अ' के सम्बन्ध से क्रमशः स्पष्ट ही यद्यपि 'पराक्-अर्वाक्' दोनों भावों के संग्राहक बन रहे हैं। परन्तु वैज्ञानिक बन्धुओं नें पद्धति विरुद्ध ठाले बैठे यह कल्पना कर डाली कि, 'प्रवो वाजा०' और 'अग्न आयाहि' दोनों ऋचाएं गायत्री के 'प्रेति' भाव का ही संग्रह कर रही है। उपपत्ति आप इसकी यह बतला रहे हैं कि, 'प्र०' इत्यादि तो प्रेति भाव से सम्बद्ध है ही। एवं 'अग्न आ०' से आगमन बतलाया है, वह जहां से (द्युलोक से) इस का आगमन होता है, वहां के देवताओं की अपेक्षा तो इसका परागति रूप प्रयाण ही सिद्ध होता है। सम्भवतः इन वैज्ञानिकों को यह न सूझा कि, इस समय उस यजमान के यज्ञ में इन मन्त्रों का प्रयोग हो रहा है,

जिसकी अपेक्षा 'अग्न आयाहि०' का अर्थ अर्वागगतिलक्षण आगमन ही हो सकता है। फलतः उक्त मत का भलीभांति अवैज्ञानिकत्व सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

पूर्व में दोनों मन्त्रों का जो वैज्ञानिक अर्थ हुआ है, उसे श्रुति अपने शब्दों में स्पष्ट करती हुई कहती है कि, 'प्रेति' भावात्मिका प्रथमा ऋचा के 'प्र वो वाजा०' इस पद का वाज शब्द अन्न का, 'अभिद्यव' शब्द पक्षों का, 'हविष्मन्त' शब्द पशु-सम्पत्ति का अनुग्राहक है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। "वाज, अभिद्यव, हविष्मन्त, घृताच्या" इन चारों की एक दूसरी वैज्ञानिक व्याख्या का भी समन्वय कर लीजिए। यज्ञकर्म्म से दैवात्मा उत्पन्न करना है, यह कई बार कहा जाचुका है। उत्पन्न प्रजा की समृद्धि जिन भावों से सम्बद्ध है, इन चारों से उन्हीं समृद्धियों की प्राप्ति हुई है। अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति, वीर्य्यसम्पत्ति, और भोग्यशक्ति, ये ही वे चार समृद्धियाँ हैं, जिन से प्रजा सुसमृद्ध मानी जाती है। अन्नसम्पत्ति का 'वाज' से, पशुसम्पत्ति का 'हविष्मन्तः' से ग्रहण हुआ है। जिस प्रकार त्रिवृत् (९) संख्या अग्नितत्व से समतुलित है, वैसे ही पञ्चदश संख्या इन्द्रतत्व से समतुलित है। यही इन्द्रतत्व प्राणरूप से भोक्ता बनकर अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है। अभिद्यव पक्ष का वाचक है। पक्ष १५ संख्या का अनुग्राहक। यह संख्या भोक्ता इन्द्रप्राण की अनुग्राहिका है। इस प्रकार परम्परया अभिद्यव शब्द भोग्यशक्ति का संग्राहक बन रहा है। भोक्ता को भोग्य अन्न-पशु से सम्बद्ध बनाए रखना वीर्य्य का काम है। 'घृताच्या' पद उसी अग्निवीर्य्य (अन्नादवीर्य्य) का संग्राहक बन रहा है ॥ ९ ॥

मन्त्र में 'घृताच्या' पद है। अग्निसमिन्धन कर्म्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचा के 'घृताच्या' पद का और सब पदों की अपेक्षा विशेष महत्व है। श्रुति ने एक पुरातन मानुष इतिवृत्त द्वारा इस पद के इसी महत्व का समर्थन किया है। बहुत सम्भव है कि, कतिपय पाठक अभिनिवेशवश इस आख्यान को मानुषेतिवृत्त न समझें। परन्तु जिन स्पष्ट शब्दों में श्रुति ने स्थान-नाम-घटना-नदी-पर्वत-राजा-

पुरोहित–ग्राम–कृषियोग्य भूमि–ब्राह्मणनिवास–राजसीमा, आदि भावविशेषों का उल्लेख किया है, उन्हें सामने रखते हुये प्रस्तुत इतिवृत्त की मानवेतिवृत्तता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जिस अपौरुषेयता की रक्षा के लिये हमारे कतिपय पाठक मानवेतिवृत्त से पराङ्मुख होते हैं, उनका वह भय उस समय दूर हो जाता है, जब कि वे वेदापौरुषेयत्व का वास्तविक तात्पर्य्य समझलेते हैं, जिसका कि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमि का में महारम्भ से प्रतिपादन हुआ है। अस्तु प्रकृत में इस श्रौत आख्यान को विशुद्ध मानवेतिवृत्त परक मानते हुए ही हमें कथानक का समन्वय करना है।

"सुप्रसिद्ध स्वयम्भू ब्रह्मा के मानसपुत्र अतएव 'स्वायम्भुव' नामसे प्रसिद्ध विवस्वान् नामक आदित्य सूर्य्यवंश के आदिप्रवर्त्तक माने गये हैं। इनके 'श्रद्धादेव' तथा 'यम' नामक दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए। यही श्रद्धादेव भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् कहलाए, साथ ही ये विवस्वान् के पुत्र होने से 'वैवस्वत मनु' नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि–"मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः (प्रजाः) तऽइमऽआसतऽइत्यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति" (शत०ब्रा० १३। ३। ३। ६।) इत्यादि वाजिश्रुति से प्रमाणित है।

भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् श्रद्धादेवमनु अवश्य थे, परन्तु इनका यहां स्थायी निवास न हुआ। अपितु ये जीवनपर्य्यन्त अपनी जन्मभूमि उत्तर कुरुक्षेत्र में ही रहे। इनके इक्ष्वाकु प्रमुख १० पुत्र थे, इला नाम की एक कन्या थी। इक्ष्वाकु ही अयोध्यापति सूर्य्यवंशी प्रथम भारतीय सम्राट् यहां के निवासी बने। ये ही अगली पीढ़ियों के मूलपुरुष मान गए। एवं इला से आगे जाकर चन्द्रवंश का विकास हुआ, जैसा कि "बहिरङ्गपरीक्षात्मक गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्य्यवंश में उत्पन्न महाराज 'निमि' के साथ ही हमारे प्रकृत इतिवृत्त का सम्बन्ध है। आज जो जनकादि विदेहों का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तों में सुना

जाता है, किसी समय ये अयोध्या–राज्य में ही अन्तर्भूत थे। विदेहों के पूर्व पुरुष अयोध्या–सम्राट् के सामन्त राजाओं (छुटभय्यों) में से थे। दोनों के कुल–पुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे। एकबार विदेहों के पूर्वपुरुष महाराज 'निमि' ने यज्ञ करने की इच्छा से कुल पुरोहित वसिष्ठ का आमन्त्रण किया। उस समय वसिष्ठ देवताओं द्वारा वितत यज्ञ में ऋत्विक्त्वेन वृत होकर स्वर्ग जाने वाले थे। वहां के अनुरोध को महत्व देते हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए। महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपेक्षा असह्य हुई। फलतः इन्होंने मर्य्यादा विरुद्ध, उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक, रहूगण के पुत्र, अतएव 'राहूगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि गोतम के सहयोग से अपना यज्ञकर्म्म सम्पन्न करा लिया। थोड़े समय पीछे स्वर्ग से वापस लौटने पर जब वसिष्ठ ने यह सुना कि, निमि ने गोतम के पौरोहित्य में यज्ञ सम्पादन कर लिया है, तो उन्होंनें मर्य्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह शाप दे डाला कि, "तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि से नष्ट हो जाओ"। राजा भी पहिले से तो क्रुद्ध थे ही, वसिष्ठ के इस शाप से और भी उत्तेजित राजा के मुख से भी यह निकल पड़ा कि, 'आप का भी नाश हो', परिणामतः दोनों नष्ट होगए।

महर्षि गोतम के सामने यह घटना घटित हुई। उस ब्रह्मवेत्ता-सर्वसमर्थ-ऋषि ने दोनों के भस्म का सञ्चय कर अरणि से अग्निमन्थन आरम्भ किया। मन्थन-प्रक्रिया से उत्पन्न यज्ञाग्नि में आहुति देकर दोनों को पुनर्जीवित कर दिया। चूँकि महाराज निमि का पुनः प्रादुर्भाव 'मन्थन' से हुआ, अतएव यहां से ये 'मथु' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं को यत्र तत्र 'मिथि' नाम से भी व्यवहृत किया गया। इन मथु के पुत्र ही आगे जाकर 'विदेह माथव' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की ग्लानि का विदेह माथव के ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि, उन्होंने भविष्य के लिए अन्यत्र चला जाना ही श्रेयस्कर समझा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि का वागिन्द्रिय से संयम करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि, "जहां, जिस प्रदेश में हमारा वैश्वानराग्नि वागिन्द्रिय द्वारा

बाहिर निकल जायगा, उसी स्थान में हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेंगे"। यह संकल्प कर महाराज माथव वैश्वानर का संयम कर राहूगण गोतम को साथ लेकर चल पड़े। आगे आगे माथव चले जारहे थे, पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने कई बार लौकिक भाषा में विदेह को सम्बोधन किया। उनके इस प्रकार अकस्मात् राज्य छोड़कर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा की। परन्तु विदेह ने कई बार प्रश्न होने पर भी उत्तर न दिया। गोतम उनका वाक्–संयम न तोड़ सके। विवश होकर गोतम को उस मन्त्रशक्ति का आश्रय लेना पड़ा, जिसका फल अव्यर्थ माना गया है। उन्होंने निश्चय किया कि, विदेह ने किसी विशेष लक्ष्यसिद्धि के लिए अपने आध्यत्मिक वैश्वानर अग्नि का संयम किया है। इसे प्रदीप्त किए बिना ये कोई उत्तर न देंगे। अतः मन्त्रवाक् से इस संयम को तोड़ना चहिए। यह निश्चय कर गोतम कहने लगे—

"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे"।

उक्त मन्त्र से अग्निसमिन्धन कर, इस अभिप्राय से कि, अब माथव का संयम अवश्य टूट जायगा, गोतम ने उच्चस्वर से सम्बोधन करते हुए कहा–'हे विदेह !!। परन्तु कोई परिणाम न निकला। पुनः गोतमन ने निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

"उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः" इति।

गोतम का यह प्रयास भी व्यर्थ गया। अन्त में उनके मुख से तीसरे मन्त्र के "तन्त्वा घृतस्नवीमहे" इसी भाग का निकलना था कि, माथव का संयम टूट गया। चिरकाल से बद्ध अग्नि घृतपद के सम्बन्ध से प्रज्वलित हो पड़ा। अब गोतम इसे अपनी आध्यात्मिक संस्था में न रख सके। फलतः प्रज्वलित अग्नि बाहिर आपड़ा-(माथव बोल पड़े)। जिस समय यह घटना घटित हुई, उस समय माथव विदेह सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थे। यहां से आरम्भ कर आगे का सदानीरा-

पर्य्यन्त का सारा भूप्रदेश पिन्दमान था, कालत्रालीकृत था, जल से अक्षेत्रवत् था, एक प्रकार से जलपूरित बञ्जर भूप्रदेश था।

यहां वाक्संयम टूट जाना माथव ने एक दैवी सङ्केत समझा, यहीं से अपने संकल्पित स्वतन्त्र राज्य की आरम्भ सीमा मानली। अग्निस्थापन हुआ, यज्ञारम्भ हुआ। ओर ओर ब्राह्मणों से भी स्वतन्त्र यज्ञानुष्ठान करवाए गए। इन यज्ञाग्नियों से उस अक्षेत्र भूप्रदेश की आर्द्रता हटाते हुए, भूप्रदेश को निवास योग्य बनाते हुए माथव आगे बढ़ते गए। यहां तक कि, सम्पूर्ण सारस्वत क्षेत्र को अग्नियज्ञों से सुखाते हुए वे 'सदानीरा' नाम की नदी के तट पर जा पहुँचे, जोकि सदानीरा उत्तरगिरि से निकली है। यही नदी "करतोया, सदानीरा, बाहुदा" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इसमें एकहाथ जल सदा बना रहता है, इसलिए इसे 'करतोया' कहा गया है। इसका पानी घोर गर्मी में भी अक्षुण्ण बना रहता है, अतएव इसे 'सदानीरा, कहा गया है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार लिखित का राजा के न्यायमन्त्री 'लिखित' के ज्येष्ठ भ्राता 'शङ्ख' की आज्ञा से बिना आज्ञा फलग्रहण जनित अपराध के दण्ड के लिए लिखित का बाहु कटवा दिया गया था। अन्त में इसी नदी में वरुणाराधना द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुनः प्राप्ति की थी। इसीलिए इसे 'बाहुदा' कहा गया है। यही नदी लोकभाषा में 'कुरही' नाम से पुकारी जाता है। इसी पर वर्त्तमान में 'श्रोग्रह' नगर है। यही विदेह राज्य की पूर्वसीमा का निर्म्माण करने वाली हुई। बहुत सम्भव है, यह 'गण्डकी' नदी हो, जिसका भागीरथी में सङ्गम होता है।

इस नदी से इस ओर ही चूँकि यज्ञाग्नि का सम्बन्ध हुआ, अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि, यह नदी यज्ञाग्निसम्बन्धविरह से अशुद्ध है। अतः जो इसका तरण करेगा, वह–प्रायश्चित्ती माना जायगा, जैसे कि–'**करतोया विलंघनात्**' इत्यादि से स्पष्ट है। यही नदी कोसल–विदेहों की मध्यसीमा मानी गई। यही दोनों वंशो के वैवाहिकसम्बन्ध का कारण बना। क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगोत्रों से ही होता है। इस घटना से पहिले दोनों के कुलपुरोहित वसिष्ठ थे।

एवं तब तक कोसल–विदेहों का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्य्यादित था। परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर जब गोतम ऋषि विदेहों के पुरोहित बन गए, तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्य्यादित बन गया।

विदेह-देश आज 'तिरहुत' नाम में परिणत होगया है। उस देश के निवासी यद्यपि आज 'मैथिल' कहलाते हैं, परन्तु वस्तुतः इन्हें 'मथु' राजा के सम्बन्ध से 'माथव' ही कहना चाहिए, जैसा कि–'ते हि माथवाः' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यदि 'मथु' के स्थान में 'मिथि' पाठ है, तो 'मैथिल' शब्द भी सुसङ्गत माना जासकता है।"

यह है–आख्यान का संक्षिप्त स्वरूप। प्रकृत सामिधेनी–प्रकरण से इसका यही सम्बन्ध है कि, 'घृत' पद से माथवमुखाग्नि का समिन्धन हुआ था। इस से स्पष्ट है कि, 'घृत' पद समिन्धन का अन्यतम कारण है। चूंकि यहां वही समिन्धन कर्म्म अभिप्रेत है, अतएव 'घृताच्या' कहना अन्वर्थ बनता है। कहा गयाहै कि, 'घृताच्या' पद वीर्य्यभाव का संग्राहक है। इसी अभिप्राय से कहा गया है–"वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति" (२०वीं कण्डिका) ॥१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७ १८, १९, २०–इन ग्यारह कण्डिकाओं में इतिवृत्तपूर्वक उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है ॥ (२०) ॥

प्रथममन्त्र का शेष भाग है–"देवान् जिगाति सुम्नयुः" यह। इसकी व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि, आज यह यजमान (मनुष्य होकर) इस यज्ञाग्नि के समिन्धन के प्रभाव से उन दिव्यलोकस्थ प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। भला उस दिव्याग्नि–प्रभाव का क्या कहना, जो एक भूलोक निवासी मनुष्य को देवसम्पत्ति से युक्त करदे। श्रुति इस कथन से अग्नि का ही महत्व सूचित कर रही है।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपतः अग्नितत्त्व का ही प्रतिपादन हुआ है, जैसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। परन्तु मन्त्र में कहीं 'अग्नि' का नाम नहीं है। अतएव

अग्निरूपात्मिका बनती हुई भी यह ऋचा अनिरुक्ता है। सर्वसम्पत् सिद्धि का अन्यतम द्वार अनिरुक्तभाव है। क्योंकि अनिरुक्तभाव अनिरुक्त–सर्वकामपूरक प्रजापति का संग्राहक बना हुआ है। अनिरुक्ता सामिधेनी का अनुवचन क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २१ ॥

प्रथम मन्त्र पदों की व्याख्या समाप्त कर अब श्रुति–"अग्न आयाहि०" इत्यादि द्वितीय मन्त्र पदों की व्याख्या करती है। यह ऋचा 'आङ्' उपसर्ग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्वाची रूप का संग्रह कर रही है, यह तो उक्तप्राय है। अब उस 'वीतये' पद के रहस्यार्थ पर दृष्टि डालिए, जिसके लिए श्रुति ने एक महत्त्वपूर्ण लोकोत्पत्तिविज्ञान उद्धृत किया है।

सुप्रसिद्ध आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल ही लोकसम्पति का मूलाधिष्ठान माना गया है। चतुर्मुख ब्रह्मा के आपोमुख से ही लोकसृष्टि हुई है, जैसा कि–पूर्व में 'अपांप्रणयन' कर्म्मोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यद्यपि परमेष्ठी से ऊपर का स्वयम्भू लोक प्राणमय माना गया है, तथापि–"प्राणा वा आपः" (तां० ब्रा० ९ । ९ । ४)–"आपो वै प्राणाः" (शत० ३ । ८ । २ । ४ ।) "प्राणो ह्यापः" (जै० उ० ३ । १० । ९ ।)–"आपोमयः प्राणः" (छां०-उ० ६।४।४।) इत्यादि निगमों के अनुसार स्वयम्भू का वह प्राणतत्त्व भी अप्–सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। स्वायम्भुवी आपः प्राणात्मिका है, यही वागात्मक प्राण पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व की प्रथमावस्था है, जैसाकि–"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् वागेव साऽसृज्यत" (शत० ६।१।१।१०।) इत्यादि से प्रमाणित है। जिस प्रकार स्वयम्भू का अप्तत्व 'प्राण' कहा गया है, एवमेव परमेष्ठी का 'अम्भः', सूर्य्य का 'मरीची', चन्द्रमा का 'श्रद्धा', पृथिवी का अप्तत्त्व 'मर', कहलाया है–(ऐ० उ० १।४।)। इस दृष्टि से इस अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति, तथा सर्वरूपता भली-भांति सिद्ध हो जाती है। अप्तत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चितः। आपो वै सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि। ता हैता आप एवैषोऽग्निश्चितः। तस्य नाव्या एव परिश्रितः"

(शत० १०।५।४।१४) +

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल में अबूरूप भृगु–अङ्गिरा की प्रतिष्ठा मानी गई है। **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्'** इस गोपथश्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य 'आपः' भृगु (स्नेहलक्षण आप), अङ्गिरा (तेजोलक्षण आप) से युक्त हैं। किंवा यह अप्तत्व ही भृग्वङ्गिरोमय है। भृगुरूप आपः के गर्भ में अङ्गिरारूप आपः ऋतरूप से सर्वत्र प्रतिष्ठित माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र इन अग्न्यात्मक अङ्गिरा पुञ्जों से आपूर्य्यमाण है। सर्वथा गतिशील इन अग्निपुञ्जों को ही 'धूमकेतु' कहा गया है। साहस्री–विज्ञानवेत्ता महर्षियों नें उस अप्समुद्र में अग्निपुञ्जलक्षण ऐसे एक सहस्र धूमकेतु मानें हैं*। ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अवस्थाओं के सम्बन्ध से **किरण, वक्रशिख, त्रिशिख, ब्रह्मदण्ड, द्विशिख, विकच, तस्कर, कौङ्कुम, तामसकीलक, विश्वरूप, अरुण, गणक,** इत्यादि विशेष नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन्हीं धूमकेतुओं में से कोई एक केतु हमारी रोदसी त्रिलोकी का जन्मदाता बनता है।

पारमेष्ठ्य मण्डल में ऋतरूप से व्याप्त अग्निज्वाला पुञ्जात्मक–प्रबलवेग से परिभ्रममाण धूमकेतुलक्षण अङ्गिरा काल पाकर एक स्थान पर सञ्चित होने लगता है। ज्यों ज्यों अग्निकण एक नियत बिन्दु पर सञ्चित होने लगते हैं, त्यों त्यों पिण्डात्मक सत्यभाव का उदय होने लगता है। इस प्रकार कालान्तर में उस धूमकेतुरूप

+ —"अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥ (महाभारत)

* —शतमेकाधिकमेके, सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम्।
बहुरूपमेकमेव प्राह मुनिर्नारदः केतुम्॥ (बृहत्संहिता–केतुचाराध्याय–(११।५।)।

अग्निपुञ्ज के सञ्चित प्रवर्ग्यरूप से 'सूर्य्य' नामक सत्य अग्निपिण्ड स्वतन्त्ररूप से प्रकट होजाता है। धूमकेतु ही सूर्य्य का जनक बनता है। चूंकि स्वयं धूमकेतु गतिशील है, अतएव तदुत्पन्न सूर्य्यपिण्ड भी स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ प्रबल वेग से अद्यावधि परिभ्रममाण रहता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है।

कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, सर्वत्र पारमेष्ठ्य समुद्र का साम्राज्य है, सब ओर पानी ही पानी है, और इस पानी में करोड़ों कोस तक अपनी व्याप्ति रखते हुए अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु ऋतरूप से इतस्ततः चक्कर काट रहे हैं। इनमें से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकसृष्टि का समन्वय अपेक्षित है। स्वयं यह धूमकेतु भी ऋताग्निरूप है, एवं जिस अप्समुद्र में यह व्याप्त है, वह भी ऋत ही है। इस ऋत में प्रतिष्ठित ऋत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रवत् घूमने से कालान्तर में अग्निपुञ्ज का सर्वाग्रभाग इस से प्रवृक्त होगया, और इस पार्थक्य का कारण बना 'गतिविभेद', एवं गतिविभेद का कारण बना अग्निपुञ्ज का ऋतभाव। यदि यह अग्निपुञ्ज सत्य होता, तो इस का सम्पूर्णरूप अवारपारीणरूप से समानगति से युक्त रहता। परन्तु ऋतभाव के कारण इसकी प्रतिबिन्दु–गति में वैषम्य बना रहता है, एवं यही गतिवैषम्य ग्रहोपग्रहभाव का जनक बनता है।

यद्यपि जिस केन्द्रभाव के आधार पर हमनें गतिसाम्य बतलाया है, वहां भी एकदृष्टि से घटिकायन्त्रवत् गतिवैषम्य बना हुआ है। तथापि यह गतिवैषम्य केन्द्र का परित्याग नहीं करता। केवल इसी लक्ष्य से इस गति को 'समानगति' मान लिया गया है। सूर्य्यकेन्द्र से सम्पूर्ण सौररश्मियाँ बद्ध हैं। स्वस्थान में परिभ्रममाण सूर्य्य की सभी रश्मियाँ परिभ्रममाणा हैं। साममण्डल उत्तरोत्तर बृहत्प्रदेश से युक्त है। फलतः रश्मियों की प्रति बिन्दुगति साममण्डलों के उच्चावच संस्थान से विषम बन रहीं हैं। फिर भी चूंकि प्रत्येक रश्मि सूर्य्य केन्द्र से बद्ध है, अतएव रश्मिगति रश्मि के कीसी पर्व को सूर्य्य से पृथक् नहीं होने देती। यही अवस्था

घटिकायन्त्र की है। घटिकायन्त्र (घड़ी) की उस बड़ी सूची (सुई) पर दृष्टि डालिए, जो १ घन्टे के ६० मिनिटों का परिज्ञान करवा रही है। घटिका–केन्द्र से बद्ध सूची चारों ओर की घटिका परिधि से संलग्न रहती हुई चारों ओर घूम रही है। केन्द्र से परिधि तक का घटिका प्रदेश उत्तरोत्तर बड़ा है। अतः केन्द्र से आरम्भ कर घटिका परिधि–पर्य्यन्त व्याप्त सूची की प्रतिबिन्दु की गति उत्तरोत्तर बृहत् प्रदेश परिभ्रमण से सम्बन्ध रखरही है। अन्तिम बिन्दु को सब से बड़ा मण्डल पूरा करना पड़ता है, पूर्व पूर्व बिन्दुओं को क्रमशः छोटे मण्डल। यहां तक कि केन्द्र बिन्दु को कुछ भी समय नहीं लगता, क्योंकि वहां मण्डल का अभाव है। यदि घटिकायन्त्र में सूची को बद्ध रखने वाला कोई सत्यभाव (केन्द्र) न होता, तो परिणाम इस बिन्दुगति–वैषम्य का यह होता कि, सूची खण्ड खण्ड रूप में परिणत हो कर घटिकायन्त्र से पृथक् हो जाती। क्योंकि उस समय इन विषम-गतियों को समभाव में परिणत करने वाला कोई नियन्ता सूत्र न रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे इस सत्यभावशून्य (केन्द्ररहित) ऋतामिपुञ्ज (धूमकेतु) की समझिए। ऋताग्निपुञ्ज प्रबल वेग से घूम रहा है, यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति के सम्बन्ध में यह ध्यान और रखना चाहिए कि, जहां बुधादि अन्य ग्रह सूर्य्य के चारों ओर सममण्डल बना कर घूम रहे हैं, वहां ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर सूर्य्य के चारों ओर घूम रहे हैं। इनकी सब से बड़ी परिक्रमा ३० सहस्र वर्षों तक में पूरी होती मानी गई है। इस परिक्रमा के अनुसार ही भूलोकस्थ प्रजा को इसका प्रत्यक्ष हुआ करता है। केन्द्रविरहित धूमकेतु घूमने लगा। इस समय इसमें दो भावों का समावेश हुआ। उधर तो पारमेष्ठ्य 'वराहवायु' के व्यापार से केन्द्र का निर्म्माण आरम्भ हुआ, इधर परिधि-स्थानीय अग्निपुञ्जखण्ड प्रवर्ग्यभाव से युक्त होने लगे। कालान्तर में गतिवैषम्य से अग्निपुञ्ज का सर्वान्त का भाग इससे पृथक् होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा। वही अग्निपुञ्ज–खण्ड आगे जाकर 'शनि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी समय अवश्य ही शनिकक्षा–पर्य्यन्त इस अग्निपुञ्ज की व्याप्ति रही होगी।

परन्तु आज तो अग्निपुञ्जावशेषसूर्य्य, और शनि में पर्य्याप्त अन्तर होगया है। शनि के अनन्तर जो अग्नि—खण्ड प्रवृक्त हुआ, वह 'बृहस्पति' कहलाया। तीसरा खण्ड प्रवृक्त हुआ। यह आगे जाकर १०८ खण्डों में परिणत हुआ, जिन्हें १०८ 'देवसेनाग्रह' कहा जाता है। अनन्तर चौथा खण्ड प्रवृक्त हुआ, वही 'मङ्गल' कहा जाता है। मङ्गल के अनन्तर प्रवृक्त होने वाला खण्ड ही सुप्रसिद्ध 'भूपिण्ड' है। इस भूपिण्ड का सोममय प्रवृक्त अत्रिभाग ही 'चन्द्रमा' है। आगे का खण्ड शुक्र कहलाया। सर्वान्त का खण्ड 'बुध' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार केन्द्रस्थ अग्निपुञ्ज (जो कि आज सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध है) से ही ये सारे ग्रहोपग्रह उसी गतिवैषम्य से उत्पन्न हुये हैं। सूर्य्यात्मक अग्निपुञ्ज का प्रथम प्रवर्ग्य भाग 'सूर्य्यपुत्र' नाम से प्रसिद्ध शनिदेव ही माने गए हैं, जिनकी एक माण्डलिक परिक्रमा ३० वर्ष में समाप्त होती है। सूर्य्य के प्रवर्ग्यांशभूत ये उपग्रह अद्यावधि सूर्य्य के चारों ओर उसी प्रवृक्तस्थान में परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य्य के चारों ओर सर्वप्रथम बुध, अनन्तर शुक्र, अनन्तर पृथिवी, पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा, अनन्तर मङ्गल, अनन्तर देवसेना नामक १०८ ग्रह, अनन्तर बृहस्पति, अनन्तर शनि, सर्वान्त में नक्षत्र कक्षा, यही इनका अवस्थानक्रम है। आज भी विधि के इस अलातचक्र की यह परिभ्रमणलीला यथावत् परिक्रान्त है। अवश्य ही कालान्तर में सूर्य्य से और ग्रह उत्पन्न होंगे, जिनका सङ्केत हमें माठर, कपिल, दण्ड, आदि पारिपार्श्वकों से मिल रहा है। इस क्रमसे एक दिन सम्पूर्ण सूर्य्यमात्रा ग्रहनिर्माण में समाप्त हो जायगी। स्रष्टा प्रजापति के विध्वस्त होते ही यज्ञप्रक्रिया का अवसान हो जायगा। अव्यक्तात्मक रात्र्यागम सब कुछ सुप्त बनादेगा। पुनः नवीन धूमकेतु से नवीन सृष्टिक्रम आरम्भ होगा। इस प्रकार 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि रूप से उपगीयमान विधि का यह विचित्र लीलाचक्र इसी प्रकार चंक्रमण करता रहेगा, जिसके लिए 'इदमित्थमेव' कहने के लिए मानवीय बुद्धि सर्वथा असमर्थ है।

"शनि, बृहस्पति, देवसेनाग्रह, मङ्गल, बुध, ये उपग्रह ज्योतिर्म्मय दिखलाई देते हैं। अतः इन्हें सूर्य्योपग्रह मानना सुसङ्गत बन रहा है, परन्तु अनुष्णाशीत भूपिण्ड चूँकि ज्योतिर्भाव से वञ्चित है, अतएव इसे सूर्य्योपग्रह मानना असङ्गत सा प्रतीत होता है" इस असङ्गति का उस समय भलीभांति निराकरण हो जाता है, जब हम उक्त ग्रहों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए वैदिक ज्योतिविज्ञान के स्वरूप से अवगत हो जाते हैं।

'स्वर्ज्योतिः, परज्योतिः, रूपज्योतिः अज्योतिः,' भेद से ज्योतिर्विवर्त्त चार भागों में विभक्त माना गया है। चारों ओर से स्वतः प्रकाशित ज्योतिर्मण्डल 'स्वज्योति' कहलाए हैं। इन्हें परिभाषानुसार सूर्य्य कहा गया है। खगोलीय ज्योतिःपुञ्ज चूंकि स्वतःप्रकाशित बनता हुआ स्वज्योति है, अतएव इसे 'सूर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है। खगोलसंस्था में इसी प्रकार स्वतः प्रकाशित स्वाती, चित्रा, लुब्धक, अभिजित्, आदि असंख्य नक्षत्र स्वज्योति बनते हुए 'सूर्य्य' हैं। तभी तो स्वाती को 'सविता' कहा जाता है ꞉꞉। जो पिण्ड अन्य प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं, उन्हें परिभाषानुसार 'चन्द्रमा' कहा जाता है। पार्थिवोपग्रहभूत सोमपिण्ड चूंकि अन्यज्योति से (*सूर्य्य-ज्योति से) प्रकाशित है, अतएव इसे 'चन्द्रमा' कहा गया है। इसे ही 'परज्योति' माना गया है। शनि के आठ उपग्रह, बृहस्पति के चार उपग्रह, मङ्गल के दो उपग्रह भी इसी परज्योतिर्भाव से 'चन्द्रमा' कहलाए हैं।

तीसरी रूपज्योति है। इसे हम परज्योति का ही दूसरा रूप कह सकते हैं। वीभ्रतत्त्व की घनता से जहां सौरज्योति को चाकचिक्यभाव में परिणत होने का अवसर मिल जाता है, वहां प्रकाशरश्मियों का उदय होजाता है। परन्तु मृद्भाव की अधिकता से रश्मिसम्बन्ध होने पर भी जिस में से अन्यवस्तुओं को प्रकाशित

꞉꞉—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्" (यजुः सं०) इत्यादि मन्त्र में स्वाती के अभिप्राय से ही 'सवितुः' पद उद्धृत हुआ है।

* —"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।" (ऋक्सं०) तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डो दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते" (ज्यो०)

करने योग्य रश्मियों का प्रसार नहीं होता, अपितु जो अपने स्वरूपमात्र का परिचायक बनती है, ऐसी परज्योति को रूपज्योति कहा जाता है। यही परिभाषानुसार 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यों कहलीजिए कि, ज्योतिर्भाव ही स्वयं 'रूप-प्रकाश' भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन पिण्डों के साथ सूर्य्य की इन दोनों ज्योतियों का सम्बन्ध होता है, वे परज्योति कहलाते हैं। एवं जिनके साथ केवल रूप का सम्बन्ध होता है, उन्हें 'रूपज्योति' कहा जाता है।

चौथा विभाग 'अज्योति है। वायु, चन्द्रलोकस्थ गन्धर्वप्राण, अष्टविध सौम्य-जीव, ये सब अज्योति हैं। पारदर्शकताप्रतिबन्धक अत्रिप्राण के प्रभाव से इनमें रूप-प्रकाशानुगता रश्मियों का प्रतिफलन नहीं होता। अतएव न तो इनका रूप प्रत्यक्ष ही होता, न चन्द्रमा की तरँह इनसे रश्मि-प्रसारजनित प्रकाश ही। शनि आदि ज्योतिर्म्मय ग्रह सूर्य्य से ही उत्पन्न हैं, परन्तु ये स्वज्योति नहीं हैं, अपितु चन्द्रमावत् परज्योति हैं। इस ज्योतिरभाव का एकमात्र कारण सूर्य्यसम्बन्ध-विच्युति है। सूर्य्य में अजस्र रूप से सोमधारा आहुत होती रहती है। अतएव सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मय बन रहा है। इससे वियुक्त शनि आदि उस सम्बन्ध-विच्छेद से ही स्वज्योतिः-सम्पत्ति से वञ्चित हो रहे हैं। जो महत्व सूर्य्य की दृष्टि से शनि आदि का है, वही महत्व पृथिवी का है। पृथिवी भी एकदृष्टि से परज्योति ही है, और इसका मुख्य कारण मृद्भाग की प्रधानता ही है। ऐसी दशा में केवल ज्योति के अभाव से ही इसे ग्रहमर्य्यादा से पृथक् करते हुए उक्त असङ्गति की आशङ्का नहीं की जासकती।

उक्त ग्रहोपग्रहभाव में से प्रकृत में हमें पाठकों का ध्यान केवल सूर्य्य, तथा पृथिवी की ओर ही आकर्षित करना है। जबतक अग्निःपुञ्जात्मक सूर्य्य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ था, तब तक सूर्य्य एक विशाल अलातचक्ररूप में परिणत रहता हुआ उस स्थान तक व्याप्त था, जहां कि आज पृथिवी की अन्तिम परिधि है। सूर्य्य, जिसे द्युलोक कहा जाता है, उस समय उसी की व्याप्ति थी। उस समय पृथिवी-अन्तरिक्ष (सूर्य्य, तथा पृथिवी के मध्य का प्रदेश)-द्यौ (सूर्य्य), इस

प्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था। आज जो द्युलोक (तदुपलक्षित सूर्य्य) हमारे भूलोक से ५ कोटि क्रोश विदूरस्थान पर स्थित है, जिस द्युलोक को आज छूना तो दूर रहा, प्रत्यक्ष भी साक्षात् रूप से (सावित्र रूप से) नहीं किया जासकता, वह द्युलोक भूनिर्म्माण से पहिले (जिस स्थान पर आज भूलोक की अन्तिम परिधि है) इस भूलोकतक व्याप्त था। उस समय यदि हम होते, तो द्युलोक हाथ से छूआ जासकता था। इसी कल्पना का श्रुति ने—"उनूमृश्या हैव द्युरास" इन शब्दों में अभिनय किया है ॥ २२ ॥

जिस अर्थ का पूर्व में हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि, काल पाकर सूर्य्य से भूभाग प्रवृक्त हुआ, फलतः त्रैलोक्य का विभाजन हुआ, और उस समय अन्य ग्रहों के प्रवर्ग्यभाव से द्युलोक इस भूलोक से विदूर हो गया, श्रुति अपने शब्दों में उसी भाव का स्पष्टी करण करती है। प्रश्न यह है कि, किसने इस अग्निःपुञ्ज को प्रवृक्त किया ? इस प्रश्न का उत्तर सिवाय इसके और क्या हो सकता है, कि सूर्य्यकेन्द्रस्थ काममय प्रजापति की कामना से यज्ञकामुक बने हुए सौर प्राणदेवताओं नें ही यह लोकवितान किया। तत्त्वतः भी यही उत्तर समीचीन प्रतीत होता है। सौर—अग्निःपुञ्ज अपने गति-वैषम्य से ही तो ग्रहों का जनक बना है। यह गतितत्त्व प्राणकला से सम्बन्ध रखता है। प्राजापत्य मन जहां ज्ञानप्रधान है, प्राजापत्या वाक् जहां अर्थप्रधाना है, वहां मध्यस्थ प्राजापत्य प्राण क्रियाप्रधान माना गया है। क्रिया ही गतिभाव है। इस हृद्य-प्राजापत्यगति का अर्करूप से बाह्य-वितान होता है, एवं इस गति का आगे जाकर अग्निःपुञ्जस्थ आग्नेय-प्राणदेवताओं से योग होता है। इसी देवगति (प्राणगति) से लोक-विभाजन होता है।

इस लोक—विभाजनप्रक्रिया में हृद्य प्रजापति का मौलिक सहयोग बतलाया गया है। यहां प्रजापति 'आलम्बन, निमित्त, उपादान' भेद से त्रिसंस्थ माना गया है। अव्ययदृष्ट्या वही आलम्बन है, अक्षरदृष्ट्या वही निमित्त है, एवं क्षरदृष्ट्या वही

उपादान है। अक्षर ही चूंकि सृष्टि का निमित्त है, अतएव कह सकते हैं कि, यहाँ हृद् अक्षरप्रजापति ही इस लोकसृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक है। यह हृदाक्षर ब्रह्मलक्षणा स्थिति, इन्द्रलक्षणा गति, तथा विष्णुलक्षणा आगति, इन तीन गतियों से युक्त है। सर्वतोदिग्गति स्थिति है, अर्वाग्गति आगति है, पराग्गति गति है। इस प्रकार अक्षरात्मिका स्थिति–आगति- गति–तीनों तत्त्वतः 'गति' ही बन रहीं हैं। त्र्यक्षरमूर्त्ति प्रजापति अपने इसी त्र्यक्षरानुगत–गतित्रयरूप गतिभाव से सोमगर्भित अग्न्यक्षर के आधार पर लोकवितान में समर्थ हुए हैं। जिस गतिविच्छेद से भूलोक प्रवृत्त हुआ है, उस देवगति में (अध्यात्मक प्राणगति में) स्थितिरूपा गति भी है, अपानद्रूपा गति भी है, एवं प्राणद्रूपा गति भी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि—"तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्"। देवताओंनें स्वप्रतिष्ठारूप हृद्-प्रजापति के ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्राक्षर से सम्बन्ध रखनें वाली स्थिति–गति- आगतिरूपा गतियों से ही लोकनिर्म्माण किया।

प्रायः श्रुति के सब पदों का समन्वय होगया। अब 'वीतये' पद अवशिष्ट, है। श्रुति ने 'वीतये' इन तीन अक्षरों से लोकवितान करना बतलाते हुए एक दूसरे 'अन्न–अन्नादविज्ञान' का स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ, सौर–देवताओंनें तीन अक्षरों से (त्र्यक्षरानुगता गतित्रयरूपा गति से) त्रैलोक्य निर्म्माण किया। परन्तु प्रश्न यह है कि, देवताओंनें यह महारम्भ प्रयास किया क्यों ?, किस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओंनें लोकनिर्म्माण किया ?। श्रुति का 'वीतये' पद इसी प्रश्न की उपपत्ति बतला रहा है। 'वीतये' का शब्दार्थ है–'खाने के लिए'। "इतः प्रदानाद्धेते' (देवा उपजीवन्ति") के अनुसार पार्थिव रस ही सौर-देवप्राणों की जीवनयात्रा का कारण मानें गए हैं। सौरप्रजापति ग्रहनिर्म्माण में जहां अपने शरीरपर्वों को विस्रस्त (खर्च) करते रहते हैं, वहां वे इनके रसों का आदान करते हुए उस विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति भी किया करते हैं। यही पारस्परिक अन्न–अन्नादभाव है, जिसका अन्यत्र विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है१। यदि भूलोक

१ – "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इ देव मावत, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ॥

न बनता, तो यहां से द्युलोक में गायत्रअग्नि के द्वारा पार्थिव रसों का गमन न होता। फलतः द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं का विस्रंसन तो होजाता, परन्तु क्षतिपूर्त्ति न होती। आज विस्रंसन के साथ क्षतिपूर्त्ति भी होरही है। इस पारस्परिक आदान-विसर्गात्मक अन्नयज्ञ से दोनों का स्वरूप सुरक्षित है। देवताओं की यह अन्नादान प्रक्रिया 'वी–त–ये' इन तीन अक्षरों से उपलक्षित 'पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ' इन तीनों लोकों के रसों से समानरूप से सम्बद्ध है। इस प्रकार 'वीतये' यह त्र्यक्षर पद जहां प्रजापति की गतित्रयी द्वारा लोकत्रयी निर्म्माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है, वहां यही पद लोकत्रय–निर्म्माण की आवश्यकता का भी रहस्योद्घाटन कर रहा है।

अवश्य ही इस रहस्यार्थ को गर्भ में रखने वाले–"अग्न आयाहि वीतये" इस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी वरीय होजाती है, अन्नसम्पत्ति भी विपुल हो जाती है। हम भी इस मन्त्रपद के रहस्यार्थ के उपसंहार में लोकाध्यक्ष, तथा अन्नाध्यक्ष उस दिव्याग्नि–देवता से यही प्रार्थना करते हैं कि, वे हमारे इस भारतलोक के, तथा भारतीय-भोगसम्पत्ति के भारतीयों को अनन्य भोक्ता बनाने का अनुग्रह करते हुए अपने भारत' नाम को चरितार्थ कर हमें–"अग्ने! महाँ असि ब्राह्मण भारत" यह कहने का अवसर प्रदान करें॥२३॥

मन्त्र का मध्यभाग है "गृणानो हव्यदातये" यह। देवताओंनें लोकान्न-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर त्रैलोक्योपलक्षित सम्वत्सरमण्डल में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। क्यों? कैसे? जानते हैं आप?। देवताओंनें पहिले आत्म-समर्पण किया, सर्वस्व बलिदान किया, तब कहीं उन्हें यह वैभव मिला। देवता हमारी तरह अकर्मण्य नहीं, अपितु यजमान हैं, यज्ञकर्म्म के अनन्य अनुगामी हैं। हम भी इस सम्पत्ति के तभी भोक्ता बन सकते हैं, जब यजमान बनें, अग्निवितान करें, हव्यदाता बनें, कर्म्मठ बनें, ऋषिप्रदिष्ट सर्वसाधक यज्ञकर्म्म का अनुगमन करें। जो यजमान ऐसे यजमान हैं, वे ही उक्त सम्पत्ति के भोक्ता बन सकते हैं। अन्यथा तो सब अन्यथा ही है। मन्त्र का अन्तिम भाग है–'नि होता सत्सि बर्हिषि'

यह । अग्नि होता है, वह बर्हि पर प्रतिष्ठित है, एवं बर्हि से निदानेन यह भूलोक ही अभिप्रेत है, जैसा कि पूर्व में समष्टिरूप से मन्त्रार्थ करते हुए सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है । इस सामिधेनी का 'बर्हि' पद इस भूलोक का ही अनुगामी है । अतः इसके अनुवचन से यज्ञकर्ता यजमान पार्थिव भागधेय का ही अनन्य भोक्ता बनता है, और यही द्वितीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका ब्राह्मण की २२, २३, २४, इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २४ ॥

'अग्न आयाहि०' के अनन्तर वह होता क्रमप्राप्त तीसरी (आवृत्त्यानुसार पांचवीं) निम्न लिखित सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

(३)-"ओम्-तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य-ओम्" इति (५) ।

'प्र वो वाजा अभिद्यव०' इत्यादि प्रथम मन्त्र त्रैलोक्य व्यापक सम्वत्सराग्नि का समष्टिरूप से संग्राहक है । मन्त्रगत 'वाज' पद त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित भूलोक का, मन्त्रोपात्त 'घृताच्या' पद पञ्चदशस्तोमोपलक्षित 'अन्तरिक्ष' का, एवं मन्त्रगत 'अभिद्यवः' पद एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक का संग्राहक बन रहा है । इस प्रकार प्रथम मन्त्र से समष्ट्यात्मक सम्वत्सर अग्नि का ही समिन्धन हुआ है । इस से आगे के-'अग्न आयाहि वीतये०'-'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः०'-"स नः पृथुश्रवाय्यम्०' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों अग्निपर्वों का समिन्धन हुआ है । 'अग्न आयाहि०' का 'बर्हि' पद पार्थिवाग्निपर्व का, 'तं त्वा समिद्भिः०' का 'घृतेन' पद आन्तरिक्ष्याग्नि का, एवं 'स नः पृथुश्रवाय्यं' का यही पद दिव्याग्निपर्व का संग्राहक बन रहा है । इस प्रकार इस मन्त्रचतुष्टयी से समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा समिन्धन होजाता है । इस सङ्गति को लक्ष्य में रखकर ही इस मन्त्रचतुष्टयी के अर्थ का समन्वय करना चाहिए ।

'अग्न आयाहि०' से दिव्यलोकस्थ सावित्राग्निरूप दिव्य अग्नि का इस भूलोकोपलक्षित यज्ञाग्नि में आह्वान किया गया । यहां आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता

हुआ 'अङ्गिरा' पद का अधिकारी बन गया। 'इत एत उदारुहन्' इत्यादि मन्त्र वर्णन के अनुसार पार्थिव अग्नि ही अङ्गिरा कहलाया है। इसीलिए श्रुति ने इसे (आगमन के अनन्तर) अङ्गिरा' नाम से व्यवहृत किया है। अग्नि की ही भृगु, तथा अङ्गिरारूप से दो अवस्था मानी गई हैं। आगमन दशा में वही भृगु कहलाता है, एवं गमन दशा में वही अङ्गिरा कहलाता है। प्रज्वलित अग्नि में जो अग्निज्वाला है, वह साक्षात् भृगु है। अग्नि की अवस्थान्तर भार्गव सोम के जलने का ही नाम ज्वाला है। एवं जिस अङ्गारपिण्ड से यह ज्वाला निकल रही है, वह अङ्गिरोऽग्निमय है, जैसा कि—"अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेभ्यो अङ्गिराः सम्बभूव। अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुदद्दीप्यन्त, अथ बृहस्पतिरभवत्" इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है।

तात्पर्य्य यह है कि तेजः- स्नेह—तत्त्वों के सम्मिश्रण का ही नाम वस्तुस्वरूप है। तेज अङ्गिरा है, स्नेह भृगु है। अग्नि-यम-आदित्य—भेद से अङ्गिरा भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। एवं आपः—वायुः—सोमरूप से भृगु भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि से हृदय की ओर क्रमशः (संकुचित होती हुई) आती रहती है, एवं तेजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिधि की ओर क्रमशः (विकसित होती हुई) जाती रहती है। अङ्गिरात्रयी का अन्तिम विकास परिधि—सीमा पर पहुँचते ही अर्वाङ्मुख बनकर भृगुत्रयी रूप में परिणत हो जाता है। एवमेव भृगुत्रयी का अन्तिम संकोच हृदय सीमा पर पहुँचते ही सहावस्थानाभावप्रवर्त्तक संघर्ष में परिणत होकर पराङ्मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयी रूप में परिणत हो जाता है। यहां से इस अङ्गिरात्रयी के अङ्गों का * ऊर्ध्व की ओर रसन होने लगता है, अतएव इसे 'अङ्गिरा' कहा जाता है। अथवा अङ्गरस सम्बन्ध से भी इस पार्थिव अग्नि को 'अङ्गिरा' कहना अन्वर्थ बनता है ॐ। अग्नि ही अङ्गों का स्वरूपरक्षक रस है।

*—"तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति" (गो० ब्रा० पू० १।६।)।

ॐ (देखिये-सा० छा० ब्रा० ३।२।१०)।

इस अङ्गिरोऽग्नि के 'भूत–प्राण' भेद से दो विवर्त्त हैं। प्रत्यक्षदृष्ट अङ्गाराग्नि भूतलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है। एवं इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित अङ्गिराप्राण प्राणलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है। प्राण को ही विज्ञानभाषा में 'ऋषि' कहा गया है। जब तक भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक भूत की स्वरूप रक्षा होती रहती है। साथ ही जब तक इस प्राण के साथ बाह्य अन्नसम्पत्ति का सम्बन्ध बना रहता है, तभी तक यह प्राण भूतरक्षा–कर्म्म में सफल रहता है। अङ्गिराप्राणात्मक ऋषि पार्थिवरसरूप समिधाधान से ही इस भूतात्मक अङ्गिरोऽग्नि को प्रज्वलित रखने में समर्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त (इतिवृत्त पक्ष में) इस अङ्गिराप्राण के परीक्षक, अतएव तत्समय की मर्य्यादा के अनुसार 'अङ्गिरा' इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षियोनें अपने वैध यज्ञों में समिधाधान (काष्ठाधान) से इसी का समिन्धन किया है। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से–"**समिद्भिर्वेतमङ्गि स-ऐन्धत**" यह वाक्य चरितार्थ हो रहा है। "**घृतेन वर्द्धयामसि**" का घृतपद 'घृताच्या' की तरह समिन्धनकर्म्म का अनन्य उपोद्बलक बनता हुआ 'सामिधेनी' पद बन रहा है। घृत ही अग्नि का अपना वीर्य्य है। इस पद से समिद्ध अग्नि में इसी वीर्य्य का आधान हो रहा है॥ २६॥

त्रैलोक्य सम्वत्सर में व्याप्त होने से यह बृहत् है, सर्वत्र अपने ताप से विद्यमान है। साथ ही हमारा यह आहवनीयाग्नि भी सामिधेनियों से समिद्ध होकर महान् बनता हुआ अतिशय रूप से प्रज्वलित हो रहा है। अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान शत्रुओं के भी शोक का कारण बन गया है, जैसाकि आगे के अभिचार कर्म्म में स्पष्ट किया गया है। '**यविष्ठ्य**' यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है। सम्वत्सराग्नि का पारमेष्ठ्य अमृतसोम से नित्य सम्बन्ध है। इसी अजस्रसोमाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्नि सदा समान रूप से प्रज्वलित रहता हुआ **अजर–अमर**, तथा नित्ययुवा बना रहता है। 'यविष्ठ्य' से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। चूँकि प्रकृत ऋचा में 'घृतेन' पद है, अतएव "**घृतमन्तरिक्षस्य**"

के अनुसार यह ऋचा अन्तरिक्ष–लोकसम्पत्ति की ही संग्राहिका बन रही है। इस प्रकार प्रकृत ऋचा निम्नलिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध प्रक्रिया का इतिहास बतलाती हुई इसके स्वरूप का ही स्पष्टी करण कर रही है—

"हे पार्थिव अङ्गिरोऽग्ने! अङ्गिराप्राणद्वारा पार्थिवद्रव्यरूप समित् से, तथा आन्तरिक्ष्य घृत से आप समिद्ध हैं। इसी समिन्धन कर्म्म से आप त्रैलोक्य में बृहत्रूप से तपते हुए नित्यतरुण बन रहे हैं"।

"हे आहवनीयस्थ समिद्धअग्ने! अध्वर्यु नामक ऋत्विक् काष्ठ, तथा घृताधान से आपके स्वरूप को प्रवृद्ध कर रहा है। हे नित्यतरुण अग्ने! आप इस समिन्धन कर्म्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिए"।

चूंकि इस ऋचा से अन्तरिक्ष–लोकसम्पत्ति का संग्रह हुआ है, अतएव यह स्वरूपतः अग्निमयी बनती हुई भी अनिरुक्ता है। अन्तरिक्षलोक का आकाशत्त्वेन निर्वचन नहीं किया जासकता। यही अन्तरिक्ष की अनिरुक्तता है। इस प्रकार ऋचा के *'घृतेन' पद की तरह 'अनिरुक्त' भाव भी अनिरुक्त अन्तरिक्ष का संग्राहक बन रहा है। एवं यही तृतीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है॥ २६॥

"तं त्वा समिद्भिः०" के अनन्तर होता क्रमप्राप्त चौथी (आवृत्ति के अनुसार ६ ठी) निम्नलिखित सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है—

(४)–"ओम्-स नः पृथुश्रवाय्यम छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम्-ओम्" इति (६)।

वैदिक परिभाषानुसार 'इयं-अयं-इदं' शब्द पृथिवीलोक के, 'एषः' शब्द अन्तरिक्षलोक का, तथा 'असौ--अदः' इत्यादि शब्द द्युलोक से सम्बद्ध हैं।

*—'घृतेन' पद, तथा अनिरुक्तभाव के अतिरिक्त 'वर्द्धयामसि' तथा 'बृहत्' पद भी इसी अन्तरिक्षलोक के संग्राहक बन रहे हैं। कारण यही है कि यह अन्तरिक्ष पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर वरीयान्, तथा बृहत् है।

ब्राह्मणश्रुति में पठित 'अदः' शब्द उसी पारिभाषिक 'द्युलोक' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। द्युलोक, एवं तत्रस्थ दिव्याग्नि, दोनों पृथिव्यन्तरिक्ष की अपेक्षा पृथु (विस्तीर्ण) हैं, साथ ही स्तुत्य प्राण देवताओं के निवास से श्रवणीय भी हैं। कौन इस सर्वसुखैकसाधक द्युलोक, तथा दिव्याग्नि की गाथाएँ सुनना नहीं चाहता ? अग्नि के इस पृथुश्रवाय्यरूप से कहा यही जाता है कि, यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजमान को भी उस श्रवाय्य दिव्यलोक का पात्र बनावे।

द्युलोक जहां श्रवाय्य है, वहां वीर्य्यशाली—वीर्य्यप्रवर्त्तक देवताओं के निवास से सुवीर्य्य भी बन रहा है। साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के बृहत्साम से 'बृहत्' भी। प्रस्तुत ऋचा द्युलोक की ही अनुग्राहिका बन रही है। जिसके संग्राहक 'पृथु' 'देवाः' 'बृहत्' इत्यादि पद बन रहे हैं। 'अग्न आयाहि०' इत्यादि ऋचा 'बर्हिष्मती' है, 'तं त्वा समिद्भिः०' ऋचा 'वृद्धिमती' है, एवं प्रकृत-'स नः पृथु श्रवाय्यम्' ऋचा 'पृथुमती' है। तीनों की समाप्ति 'लोकत्रयसम्पत्ति-संग्राहिका बनती हुई 'लोकत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृत सामिधेनी—प्रकरण में 'लोकत्रिच'[१]—अध्वरवन्तत्रिच[३]—वृषण्वन्तत्रिच[२]' भेद से तीन त्रिच हैं। इनमें पहिला लोकत्रिच व्यष्टिरूप से ही त्रैलोक्य व्याप्त दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहा है। मन्त्रार्थ स्पष्ट है ॥ २७, २८, ॥

इस लोकत्रिच के अनन्तर वृषण्वन्तत्रिच का अनुवचन आरम्भ होता है। **'स नः पृथु श्रवाय्यम्०'** इत्यादि चौथी ऋचा के अनन्तर यह होता क्रमप्राप्त पांचवीं, (आवृत्यानुसार सातवीं) वृषण्वन्तत्रिच की पहिली निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(५)—"ओम्—ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा—ओम्" (७)—(१)।

'ताप' जहां अग्नि का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है, वहां 'प्रकाश' इन्द्र का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है। चन्द्रमा में केवल इन्द्र का सम्बन्ध है, अतएव चन्द्रिका में प्रकाश

है, ताप नहीं। उष्ण जल में केवल अग्नि का सम्बन्ध है, अतएव इस में ताप है, प्रकाश नहीं। अग्नि–वरुण का एकत्र समन्वय सम्भव है, परन्तु वरुण–इन्द्र का एकत्र सहवास असम्भव है। इस प्रकार ताप–प्रकाश का भलीभांति पार्थक्य सिद्ध हो जाता है। हम जिस सौर दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहे हैं, उसमें ताप भी है, प्रकाश भी है। इसमें ताप अग्नि का धर्म्म है, प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। इन्द्र ही 'वृषा' नाम से प्रसिद्ध है। वृषेन्द्र के समन्वय से ही यह यविष्ठय अग्नि 'वृषा' (प्रकाशयुक्त) बन रहा है। इसी वृषेन्द्र के सहयोग से यह अग्नि अन्धकार दूर करने में समर्थ हो रहा है। वृषेन्द्र यज्ञ का अधिपति माना गया है। जब तक यज्ञ में इन्द्र–सम्पत्ति का संग्रह नही होता, तब तक यज्ञ अपूर्ण रहता है। उसी वृषेन्द्र के संग्रह के लिए इन्द्र-युक्त होने से वृषा नाम से प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत ऋचा से समिन्धन हुआ है, जो कि अग्नि अलौकिक मन्त्रभाषा से भी स्तुत (वितत होने वाला) है, एवं लौकिक भाषा से भी नमस्कार करने योग्य है। शास्त्रीय कर्म्म में भी यह (प्राणरूप से) उपयुक्त है, तथा लौकिक मानवकर्म्म में भी यह (भूतरूप से) उपयुक्त है। ईडेन्यो नमस्यः०' के अनुवचनान्तर वह होता क्रम प्राप्त ६ ठी (आवृत्यानुसार आठवीं) वृषण्वन्तत्रिच की दूसरी निम्नलिखित ऋचा का अनु-वचन करता है—

(६)—"ओम्–वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्त ईडते–ओम्" (८)-(२)

वृषेन्द्रसम्बन्ध से वृषा बनता हुआ ही यह अग्नि अश्व–रूप में परिणत होकर देवताओं के लिए यज्ञ वहन करने में समर्थ होता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इन्द्रयुक्त दिव्याग्नि अश्वरूप में परिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव हवि का द्युलोकस्थ देवताओं के लिए–इनके विस्रस्तभाग की क्षतिपूर्त्ति के लिए–वहन करता है। सौरज्योति (इन्द्रगर्भित दिव्याग्नि) अपने सावित्ररूप से भूमि (भूपृष्ठ) की ओर आरहा है। जिस प्रकार तरणिकिरण–सङ्ग से पानीय पिण्डात्मक

चन्द्रमा अर्द्धभाग से ही प्रकाशित रहता है, शेष आधाभाग प्रकाशरश्मियों के असम्बन्ध से तमोमय बना रहता है, एवमेव यह आगत सौर तेज भी भूपृष्ठ के सूर्य्यदिगनुगत दृश्य अर्द्ध भूभाग को ही प्रकाशित करता है, शेष अर्द्धभाग अप्रकाशित रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिति-अदिति, ये दो विवर्त हो जाते हैं, जैसा कि अध्वरवन्त-त्रिचोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपिण्ड की दक्षिणोत्तर-परिधियों को काटता हुआ आगत सौर प्रकाश वक्र-गति में परिणत होता हुआ, साथ ही भूच्छाया का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं, तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिफलित होजातीं हैं। जैसा आकार छाया का होता है, ठीक वैसे ही आकार में यद्यपि-प्रकाशरश्मियों का प्रतिफलन होता है, परन्तु प्रकाशपुञ्ज द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भूपृष्ठपर आया, गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ भूच्छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस भूच्छाया-सम-तुलिता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का साम्वत्सरिक तेज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति "अश्व" नाम से व्यवहृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर-अश्वाग्निधरातल मार्ग से यज्ञवहन करता है, इसी अभिप्राय से-'अश्वो न देववाहनः' कहा गया है।

लोक में जहां जिस (निषेध) अर्थ में 'न' कार प्रयुक्त होता है, वहां मन्त्रमध्य में पठित नकार निषेधार्थक न होकर 'ओम्' इत्याकारक इवार्थक मात्र से ही सम्बन्ध रखता है१। तभी तो 'अश्वो न०' का 'अश्वो ह वाऽएष भूत्वा'

१— 'ओमित्यृचः प्रतिगरः, तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवं, तथेति मानुषम्" (ऐ० ब्रा० ७।३।६)।

यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, 'न'कार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्त कोटि में प्रविष्ट है, अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति (आत्मा) ही तथा-लक्षणा स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को तथावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं, अतः मध्यस्थ नकार तथावाचक माना जायगा। यदि ऋगाद्यन्त में न-कार पठित है, तो उसका निषेध ही अर्थ होगा, जैसा कि "न विजानामि यदि वेदमस्मि०" इत्यादि मन्त्र-वर्णन से स्पष्ट है॥ २९, ३०, ॥

"तं हविष्मन्त ईडते" इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो तरँह से उपासना होती है। एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्म्मोपासना है। अग्नि को नमस्कार मात्र कर लेना "नम उक्तिं विधेम" लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है, तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना करनी पड़ेगी, अग्निसमिन्धन करना होगा, इसे तृप्त करने के लिए हविःप्रदान करना पड़ेगा। इस हवि से यह अग्नि द्युलोकपर्य्यन्त वितत होगा, जिस वितान को स्तुति-कर्म्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा जहां अग्नि नमस्य कहलाया है, वहां इस कर्म्मोपासना की दृष्टि से इसे 'ईडेन्य' कहा गया है। वही प्रकृत में प्रधान रूप से अपेक्षित है। "हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, और यही प्रकृतमन्त्र-भागों की संक्षिप्त उपपत्ति है॥ ३१ ॥

"वृषो अग्निः समिध्यते०" इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त ७वीं (आवृत्यानुसार ९वीं) वृषण्वन्तत्रिच की तीसरी निम्न-लिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम्-वृषणं त्वा वयं वृषण: समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यन्तं बृहद्-ओम्" इति । (६)-(३)

"यज्ञसम्पतिवर्षक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पतिवर्षक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज (उक्त सामिधेनियों से) पूर्णरूप से समृद्ध होगए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत्साम सम्बन्ध से बृहत् बनगए हैं" यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनो मन्त्रों की समष्टि वृषण्वन्त-त्रिच बन रही है। इसका एक मात्र फल है- दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३२ ॥

वृषण्वन्त-त्रिच के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं (आवृत्यानुसार १० वीं) निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(८)— "ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" (१०)

मन्त्र का "अग्निं दूतं वृणीमहे" वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया ? इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिक गति का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिकस्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है—

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली, इनके जीवन साधक आदान-विसर्गात्मक यज्ञकर्म्म का नियतकाल पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्त:शक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। 'विरूपास इदृषयस्त इदुगम्भीरवेपस:' (ऋक् सं०) इस ऋग्वर्णन के अनुसार शक्तिरूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भूतपदार्थों के आनन्त्य का कारण है। इन

अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर–पार्थिव, इन दो प्राणों की ओर ही विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य्य स्वज्योतिर्घन है, अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्घना पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण कृष्ण माना गया है। ज्योतिर्म्मय प्रकाशित प्राण ही 'देव' नामक देवता हैं, एवं तमोमय अप्रकाशित पार्थिव प्राण ही 'असुर' है। तम असुर है, ज्योति देवता है।

यह ठीक है कि आरम्भ में सम्पूर्ण भूपिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय आसुर प्राण से ही युक्त था। जब पृथिवी बनी ही होगी, उस समय अवश्य ही असुरों के मुख से "अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्" ये वाक्य निकले होंगे। परन्तु आज ऐसा नहीं है। आज भूपिण्ड पर असुरों की तरँह दिव्य सौरप्राणात्मक देवताओं का भी साम्राज्य है। देवताओंनें यज्ञविष्णु को आगे कर यज्ञव्याज से आधा भूप्रदेश अपने अधिकार में कर लिया है, जिसका कि पूर्व के वेदिनिर्म्माणब्राह्मण में विशदरूप से विवेचन किया जाचुका है *। यही क्यों, आज तो सम्वत्सर–चक्र की दृष्टि से सारा भूपिण्ड देवताओं के ही अधिकार में आगया है। तभी तो विभागप्रतिपादिका श्रुति का– "तेनेमां सर्वां पृथिवीमविन्दन्त" यह कथन अन्वर्थ बन रहा है।

भूपिण्ड के साथ सौरप्राण का भी सम्बन्ध हो रहा है, साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर बलप्रयोग कर रहा है। पार्थिवप्राण इसे (भूपिण्ड को)

---

*—"देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यामिवासुः। अथ हासुरा मेनिरे, 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति'। तद्धै देवाः-शुश्रुवुः–विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीं, प्रेत–तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते। के वयं ततः स्याम, यदस्यै न भजेमहि – इति। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः। तेनेमां सर्वां पृथिवीमविन्दन्त। तस्माद्वेदिर्नाम। तस्मादाहुः-यावती वेदिस्तावती पृथिवी" (शत० १।२।५।१-१२)

अपने रुख (सूर्य्यविरुद्धदिक्) में लेजाना चाहता है, सौरप्राण अपने आकर्षण से इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण है। इस समानाकर्षण से भूपिण्ड आजतक उसी स्थान पर घूम रहा है। इसी स्वाक्ष-परिभ्रमण से दैनन्दिनगति का उदय हुआ है। इसी दैनन्दिनगति से अहोरात्र का जन्म हुआ है। घूमते हुए भूपिण्ड का सूर्य्य-प्रकाश की ओर आजाना अहः-काल का जन्म होना है, सूर्य्यविरुद्धदिक् में आजाना रात्रिकाल का जन्म होना है। अहःकाल में देवता उस आधे भूपिण्ड पर अपना अधिकार कर लेते हैं, रात्रि में उसी अर्द्धभाग पर असुर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इस प्रकार अहोरात्र रूप से देवता-असुर, दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। इस प्रकार इस स्वाक्ष-परिभ्रमणमूला दैनन्दिनगति की दृष्टि से भूपिण्ड दोनों का भोग्य बन रहा है।

आगे जाकर साम्वत्सरिकगति के प्रभाव से भूपिण्ड असुरों के अधिकार से निकल कर केवल देवताओं की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। "अश्वो न देव वाहनः" इत्यादि मन्त्रोत्पत्ति में यह स्पष्ट किया गया है, भूपिण्ड में दिति-अदिति, नामक दो भाव उत्पन्न होते हैं। भूकेन्द्र से आरम्भकर सूर्य्यदिग्विरुद्धदिक् की ओर व्याप्त, तेजोमण्डलाकार से समतुलित भूच्छाया-मण्डल दिति है। भूच्छाया भी भूपिण्ड से संलग्न है, भूप्रकाश भी भूपिण्ड से संलग्न है। भूप्रकाशमण्डललक्षणा अदिति में ज्योतिर्मय दिव्य प्राण का साम्राज्य है। भूच्छायालक्षणा दिति में तमोमय आसुर प्राण प्रतिष्ठित हैं। दोनों ही प्राण भौम-हृद्यप्रजापति से सम्बन्ध रखते हुए प्राजा-पत्य हैं। यह स्थिति है और इसी को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे"।

"देवता और असुर, दोनों इसी पृथिवी पर खड़े होकर स्पर्द्धा करने लगे। दोनों के इस स्पर्द्धालक्षण क्लेश को शान्त करने के लिए दोनों के बीच में गायत्री खड़ी हो गई। यह गायत्री पृथिवी ही है" यह कथन अदिति-दिति का स्वरूप न जानने वालों के लिए कुशङ्का का प्रवर्त्तक बन रहा है। आख्यानों की रहस्यभाषा

से अपरिचित वर्त्तमान युग के कतिपय जिज्ञासु सम्भवतः यह कुतर्क उठावेंगे कि— "जब देवता असुर, दोनों इसी पृथिवी पर खड़े थे, तो दोनों के बीच में कौन सी पृथिवी खड़ी हुई ? यदि यही पृथिवी खड़ी हुई, तो ये दोनों दल किस पर खड़े हुए"। परन्तु जब इन्हें दिति-अदिति का स्वरूप-ज्ञान हो जाता है, तो कुशङ्का का कोई अवसर नहीं रहता। जिस पृथिवी पर देवता-असुर खड़े होकर स्पर्द्धा करते हैं-वह भिन्न है, एवं जो पृथिवी दोनों के मध्य में खड़ी होती है-वह पृथिवी भिन्न है। भूपिण्ड के चित्य--चितेनिधेय भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। मर्त्याग्निमय भूपिण्ड मर्त्या पृथिवी है, यही अस्मदादि की प्रतिष्ठाभूमि है। इसे ही 'भूमि' कहा जाता है। इस भूमिलक्षण भूपिण्ड का निर्म्माण-स्वरूपस्थिति-जिन द्रव्यों से हुई है, वे द्रव्य **'आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य'** इन आठ भागों में विभक्त हैं-(देखिए शत० ६।१।२।६।)। इन आठ द्रव्यों की क्रमिक चिति से ही भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। छन्दोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य एक एक अक्षर से समतुलित है। फलतः आठ द्रव्यों के सम्बन्ध से वाक्परिमाणात्मक छन्द के आठ अक्षरों का संग्रह हो जाता है। अष्टाक्षर छन्द का ही नाम गायत्री है। इसी छन्दः सम्पत्ति के कारण इस अष्टव्याहृत्यात्मक भूपिण्ड को श्रुति ने 'गायत्री' कहा है। अतएव **'या वै सा-गायत्री आसीत, इयं वै सा पृथिवी'** यह कहा गया है। यह पृथिवी शब्द चित्य-पृथिवी-लक्षण भूपिण्ड के अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चितेनिधेया पृथियी है। भौम आग्नेय प्राण उक्थरूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से भूपिण्ड से निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहां तक इस पार्थिव प्राण की व्याप्ति है, वहां तक 'अप्रथयत्' लक्षणा अमृता पृथिवी की सत्ता मानी गई है। इस अमृतापृथिवी के सौरप्राण सम्बन्ध से आगे जाकर दिति-अदिति-रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं। आगत सौरप्राण भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ भूच्छाया-समतुलित

अपना जो एक ज्योतिर्मय मण्डल बनाता है, वह अमृता पृथिवी–भाग सौरप्रकाश से से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्ध रखता हुआ 'अदिति' भाग है। एवं इस प्रकाशमण्डल से समतुलित भूच्छाया–मण्डल अमृतापृथिवी का सौरप्रकाश वञ्चित भाग दिति है। अदिति भाग में आदित्य (ज्योतिर्मय देवता) प्रतिष्ठित हैं, दिति भाग में दैत्य (तमोमय असुर) प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार अमृता पृथिवी के दिति–अदिति भागों में प्रतिष्ठित असुर–देवताओं के बीच में मर्त्य गायत्री नामक भूपिण्ड प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड के उस ओर (सूर्य्य की ओर) भूपिण्ड से संलग्न देवमय ज्योतिर्मय मण्डल है, इस ओर (सूर्य्यविरुद्धदिक् की ओर) भूपिण्ड से संलग्न असुरमय तमोमण्डल है, दोनों के मध्य में चित्य भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"देवाश्च वा असुराश्च, उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान्-गायत्री अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ"।

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए आगे की श्रुति का समन्वय कीजिए। दोनों की स्पर्द्धा होरही है। दोनों के मध्य में गायत्री (भूपिण्ड) खड़ी है। दोनों यह चाहते हैं कि, यह गायत्री हमारी ओर आजाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गायत्री के पास दोनों अपने अपने दूत भेजते हैं। देवताओं के दूत 'अग्नि' हैं, असुरों के दूत 'सहरक्षा' हैं। अदितिलक्षण ज्योतिर्म्मय मण्डल में प्रतिष्ठित ज्योतिर्म्मय अग्नि 'अग्नि' नामक देवदूत है। रक्ष का ही नाम भस्म है। यह भस्म निदानेन भूच्छाया का प्रतिरूप है। दितिलक्षण तमोमय मण्डल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही 'सहरक्षा' नामक असुरदूत है। लोक में भी प्रज्वलित अग्निज्वाला को हम अग्नि कहेंगे, एवं भस्मनिगूढ अग्निको सहरक्षा कहेंगे। दिव्यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण बलवान् होता है। यही कारण है कि, ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि अधिक बलवान् होता है।

भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षण दैनंदिनगति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण होरहा है। परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह होरहा है, कि भूपिण्ड अभी किसी ओर नहीं जारहा। इस का एकतः गमन तब सम्भव होसकता है, जब कि दोनों प्राणगतियों में से एक प्राणगति बलवती बन जाय। समानप्राणसंघर्ष से तो उसी प्रकार स्थिति का उदय हो जाता है, जैसे समानबल वाले दो मल्लों के आकर्षण से आकर्षित रस्सा पूर्व–पश्चिम, किसी ओर न जाकर मध्य में स्थिर हो जाता है। यह बलाधान सुप्रसिद्ध गतिधर्म्मा सौर–इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है। सौर–इन्द्रप्राण उसी अदितिमण्डलद्वारा आता हुआ तत्रस्थ देवदूत अग्नि में अपनी आकर्षण शक्ति का आधान करता है। इस गति से बलवान् बनता हुआ आग्नेयप्राण आसुर–प्राणगति का आकर्षण शिथिल कर देता है। परिणामतः भूपिण्ड असुरों की ओर (पश्चिम की ओर) न जाकर देवताओं की ओर (पूर्व की ओर) आता हुआ सम्वत्सरगतिरूप में परिणत हो जाता है। इन्द्र ही भुपिण्ड की साम्वत्सरिक गति का मुख्य कारण है। इधर प्राकृतिक दिव्याग्नि इस वृषेन्द्र से नित्ययुक्त रहता है। बस–'या च–का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्' के अनुसार बलकृतिलक्षण वृषेन्द्र के सहयोग से ही भूपिण्ड का देवमण्डल की ओर आकर्षण हो जाता है। भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूर्व की ओर चल पड़ता है। इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ऋषिने कहा है—

"यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत।
चक्राण ओपशं दिवि" (ऋक् सं० ८।१४।५।)

साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि, पश्चिमदिगनुगता यह आसुरप्राणगति ही भूपिण्ड को सूर्य्यगोलकगर्भ में जाने से रोक रही है। यदि पश्चिमाकर्षण न होता, तो पूर्वाकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वस्थान से च्युत होता हुआ अवश्य ही सूर्य्यगोलकगर्भ में विलीन हो जता। पश्चिमाकर्षण है, इसलिए तो भूपिण्ड स्वस्थान (क्रान्तिवृत्त) को नहीं छोड़ता। पूर्वाकर्षण प्रबल है, इसलिए पश्चिम की ओर

सीधा नहीं चला जाता। क्या पूर्व की ओर सीधा जाता है ? नहीं। इसी आसुर-प्राणाकर्षण से भूपिण्ड सीधा न जाकर तिर्य्यक् जाता है। क्या भूपिण्ड सर्वथा तिर्य्यक् जाता है ? नहीं। इसी इन्द्रप्राणाकर्षण से तिर्य्यक् जाते हुए भूपिण्ड की परिभ्रमणबिन्दु–बिन्दु पूर्व की ओर आकर्षित होती रहीं है, जिसका 'सम्वत्सर' शब्द से स्पष्टीकरण हो रहा है।

शब्द है वास्तव में 'सर्वत्सर'। परन्तु परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यह 'सर्वत्सर' ही 'सम्वत्सर' नाम से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड जिस वृत्त (क्रान्तिवृत्त) पर परिक्रमा (साम्वत्सरिकगति) लगा रहा है, उसकी बिन्दु बिन्दु कुटिल है। गोलवृत्त का निर्म्माण इसी 'त्सर' भाव से होता है। सर्वतः- त्सरभाव (कुटिल भाव) ही सर्वत्सर है। यही सर्वत्सर है। सम्वत्सर नाम सम्बन्ध से यह-व्युत्पत्ति होगी कि, भूपिण्ड एकत्र (सम्) बसता हुआ (वसन्) कुटिलरूप से पूर्व की ओर बढ़ रहा है।

देवदूत अग्नि के इस इन्द्राकर्षणसहयोग का फल यह निकला कि, सम्पूर्ण भूपिण्ड देवमण्डलोपलक्षित दिव्यआग्नेय सम्वत्सर का अनुगामी बनगया। यही दिव्य आग्नेय देवताओं का विजय कहलाया, एवं तमोमय आसुरप्राण का पराजय कहलाया। जिधर अग्नि का रुख था, उसी ओर भूपिण्ड गत्युन्मुख बना, यही निष्कर्ष है। यही इस अग्नि का दौत्यकर्म्म है। इसीलिए यह अग्नि देवताओं का 'दूत' कहलाया है। जो यजमान देवदूत अग्नि का उक्त गति–रहस्य जानता है, साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस दूतस्वरूप को जानता है, वह अपने यजमान के लिए लोक सम्पत्ति असपत्न बना देता है। मन्त्र का दूसरा भाग है–"होतारं विश्ववेदसम्" यह॥

इसके सम्बन्ध में काल्पनिकों नें एक नई उपपत्ति की कल्पना करते हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में– "होता यो विश्ववेदसम्" इस परिवर्त्तन की कामना प्रकट की है। कल्पना का उपहासास्पद रूप यही है कि–"होतारं का "होता-अरम्" यह भी छेद सम्भव है। अरं-अलं अर्थ का भी बोधक है। सम्पत्ति का आगमन होता

है अग्निद्वारा। उस के सम्बन्ध में-'अलम्' बोलना सम्पत्ति का निरोध करना है। इस अलं-भावात्मक 'अरं' से सम्पत्ति निरोध न होजाय, अथवा स्वयं होता अग्नि का अलंभाव (आगमन निरोध) न होजाय, इसके साथही अनुवचन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठे, इसलिए 'होतारं' के स्थान में 'होता यो' इत्यादि रूप से परिवर्त्तन कर डालना चाहिए"।

उक्त मानुष कल्पना का श्रुति ने आमूलचूड़ खण्डन करते हुए कहा है कि, यज्ञमन्त्रों में, यज्ञेतिकर्त्तव्यताओं में अपनी मानुष कल्पना द्वारा काल्पनिक उपपत्तियाँ मानते हुए परिवर्त्तन कर डालना यज्ञस्वरूप का नाश करना है। आज भी तो ऐसे कल्पना रसिकों की कमी नहीं है। भारतवर्ष के गौरवभूत, नित्ययज्ञाधारप्रतिष्ठित, वैधयज्ञों को 'वायुशोधक' मानने की कल्पना करते हुए जो महाशय चिरन्तन पद्धतियों से विरुद्ध केशर-कर्पूर-गोला-आदि को आहुतिद्रव्य मानने की धृष्टता कर रहे हैं, क्या वे यज्ञकर्म्म के शत्रु नहीं हैं? ऐसे ही काल्पनिकों का प्रबोधन करवाती हुई श्रुति कहती है कि, कर्म्मठ को चाहिए कि, वह जैसा विहित है, वैसा ही करे। अपनी कल्पना से उसमें अणुमात्र भी परिवर्त्तन न करे। तभी यज्ञ द्वारा अभीष्ट सिद्धि सम्भव है। इसी आदेश के साथ फलोपसंहार करती हुई ३४-३५ कण्डिकाएँ उपरत हुई हैं॥ ३४, ३५, ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट किया गया है कि, 'अग्नि दूतं०' इत्यादि को आठवीं मान कर ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करने से साक्षात् रूप से अष्टाक्षर गायत्री छन्द से छन्दित गायत्राग्नि-सम्पत्ति का यज्ञ में संग्रह हो जाता है। जो महानुभाव काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली दो धाय्या ऋचाओं का समावेश इस से पहले करते हैं, साथ ही काल्पनिक उपपत्ति बतलाते हैं, वे गायत्र-सम्पत्ति से विमुख होते हैं। अतः धाय्या ऋचाओं का समावेश इस आठवें मन्त्र से आगे ही होना चाहिए॥ ३७॥

यदि दर्शपूर्णमास के साथ काम्येष्टि भी अपेक्षित है, तो उस दशा में १५ के स्थान में १७ सामिधेनियाँ होतीं हैं। इस के लिए २ मन्त्रों का ऊपर से सम्बन्ध किया जाता है, एवं उनके अनुवचन का समय यही माना गया है। (काम्येष्टि-संग्रह पक्ष में) 'अग्निं दूतं०' के अनन्तर पहिले 'समिध्यमानो अध्वरे०' इस ऋचा का अनुवचन होता है, अनन्तर धाय्या नामक दोनों ऋचाओं का अनुवचन होता है। अनन्तर 'समिद्धो अग्न आहुत०' इत्यादि का, सर्वान्त में 'आजुहोता-दुवस्यत०' का 'त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन होता है' जैसा की मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है।

(केवल दर्शपूर्णमास पक्ष में १५ सा० ही विहित हैं। इस पक्ष में) अग्निं दूतं०' के अनन्तर जिन तीन ऋचाओं का क्रमशः अनुवचन होता है, उनकी समष्टि 'अध्वरवन्तत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। 'समिध्यमानो अध्वरे०'-'समिद्धो अग्न आहुत०' 'आजुहोता दुवस्यत०' तीनों की समष्टि ही अध्वरवन्त-त्रिच' है। तीनों मन्त्रों के सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है। अध्वर-सम्पत्तिप्राप्ति ही अध्वरवन्त-त्रिचानुवचन का मुख्य फल है। इस प्रकार उक्तरूप से इन १५ सामिधेनियों का अनुवचन होता है। इस अनुवचन से अध्वर्युद्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध (दिव्य तेजोयुक्त) बन जाता है। यही समिद्ध अग्नि देवयजन की मूलप्रतिष्ठा है॥ ३८, ३९, ४०॥

चौथी अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण समाप्त

चौथी अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

अथ-निगदानुवचनकर्म्मोपपत्ति

मन्त्रशक्ति द्वारा आहवनीय में प्रतिष्ठित इस दिव्याग्नि का यही मुख्य कर्म्म है कि, इसमें जिस देवता के लिए आहुति डाली जाय, उसका विशकलन कर अग्नि-देवता द्युलोक की ओर जाते हुए उस आहुति- अतिशय को उस देवता तक पहुँचाते हुए इस अन्न सम्बन्ध से यजमान के मानुषात्मा के साथ उस दिव्यप्राण का सम्बन्ध करादे। कैसा महत्वपूर्ण, तथा शक्तिसापेक्ष कार्य्य है। समिद्ध अग्नि आज थोड़े ही समय में इस दुरूह कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले हैं। इससे पहिले गुण–वीर्य्य–परिचायक निगद पाठ से इस अग्नि को उत्साह बल से युक्त करना ही प्रकृत कर्म्म की मुख्य उपपत्ति है। लोक में इस वाग्वीर्य्य का हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। कर्णार्जुन का युद्धप्रसङ्ग इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है। शल्य के अनुत्साहपूर्ण वाक्यों से महावीर भी कर्ण मन्दोत्साह होते देखे गए हैं। कारण यही है कि, 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इस सिद्धान्त के अनुसार वागिन्द्रिय अग्निप्रधान है। इसके प्रयोग का फल अवश्य ही शारीराग्नि पर पड़ता है। यदि हमें कोई निरन्तर 'कायर' कहता रहेगा, तब भी कालान्तर में हमारा अग्निबल मन्द हो जायगा। साथ ही यदि हम स्वयं भी अपने आपको धिक्कृत करते रहेंगे, तब भी हमारी वही दशा होगी। इसी आधार पर–'नात्मानमवसादयेत्' आदेश विहित है। ठीक इसके विपरीत–यदि हम किसी के प्रति उत्साहवर्द्धक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे साथ ही हम स्वयं भी अपने लिए यदि पौरुषसमर्पक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे, तो इस वाक्प्रयोग से तत्समतुलित हमारा शारीराग्नि अवश्य ही वीर्य्यशाली बन जायगा। इसीलिए धर्म्मशास्त्र ने यह आदेश दिया है कि, न तो हमें दूसरों के लिए अशुभ वाणी का प्रयोग करना चाहिए, न अपने लिए ही अशुभ शब्द बोलने चाहिएं।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि, मनुष्य को अपनी शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-सा बना रहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति वाग्द्वारा इसे प्रबुद्ध कर देता है, तो उसकी सुप्त शक्ति प्रबुद्ध हो जाती है। भगवान् मारुति इसी सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वाग्द्वारा यशोकीर्त्तन से वीर्य्य का आधान होता है, और अवश्य होता है, यही वक्तव्य है। जब लौकिक वाक् में यह शक्ति है, तो उस दिव्यवाक् (मन्त्रवाक्) का क्या कहना, जिसका स्वरूप निर्म्माण तत्त्वों के ही अनुरूप हुआ हो। होतृलक्षण गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करने से पहिले अग्नि में उसी स्वर्वीर्य्यजागृति के लिए, साथ ही मन्त्र द्वारा और भी शक्ति समावेश के लिये यह निगदानुवचन कर्म्म होता है। ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राण देवता नित्य वर्णव्यवस्था के अनुसार **"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र"** भेद से चार भागों में विभक्त हैं। अग्नि ब्राह्मण हैं, इन्द्र क्षत्रिय हैं, विश्वेदेव वैश्य हैं, एवं पार्थिव पूषाप्राण शूद्र है। ये ही चारों आधिदैविक देवता क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विड्वीर्य्यों के, एवं शूद्रलक्षण पशुभाव के प्रवर्त्तक माने गए हैं। पार्थिव प्रजा में जिसमें जिस वर्ण के देवता का प्राधान्य रहता है, वह उसी वर्ण की प्रजा कहलाती है। यही भारतीय वर्णव्यवस्था की प्राकृतता, नित्यता, तथा जन्मानुरूपता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ख' विभाग के 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारों वर्णों में ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक ब्राह्मणवर्ण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी वर्ण के आधार पर इतर तीनों वर्ण प्रतिष्ठित हैं, यही ब्राह्मणवर्णात्मक होता अग्निदेव का महान् उत्कर्ष है। इसी ब्रह्मवीर्य्य के प्रभाव से ब्राह्मणअग्नि होतृकर्म्म में समर्थ हुए हैं। वीर्य्यापेक्षया जहां अग्नि जात्या ब्राह्मण हैं, वहां कर्म्मापेक्षया येही अग्नि 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव हव्य का वहन कर इसके द्वारा द्युलोकस्थ देवप्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। एवं वैश्वानराग्निप्राणरूप

से पार्थिव प्रजा की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अन्नाद धर्म्म से अन्नाकर्षण द्वारा पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। इसी भरणकर्म्म से इन्हें 'भारत' कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो त्रैलोक्य प्रजा के भरण–पोषण करने में समर्थ हैं, उनके उत्कर्ष का क्या बखान करें। तभी तो ये होतृत्व जैसा गुरुतम कार्य्य करने में समर्थ हैं।

अष्टविध देवव्यवस्था के अनुसार (जिसका विज्ञानभाष्य प्रथम–द्वितीय वर्ष में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है) किसी समय इसी भूपृष्ठ पर त्रैलोक्य व्यवस्था थी। पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौ, तीनों लोक प्रकृतिवत् यहां भी व्यवस्थित थे, जिसे 'भौमत्रिलोकी' कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त सारा प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था, अलतायी गिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्य्यन्त सारा प्रदेश द्युलोक था, एवं हिमालय से आरम्भ कर अलतायी पर्वतान्त मध्य प्रदेश अन्तरिक्षलोक था। तीनों के क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु–'शवसोनपात्' देवता थे। इसीलिए तीनों को अग्निलोक, इन्द्रलोक, वायुलोक, नामों से भी यत्र तत्र व्यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्बन्ध से 'भारतवर्ष' कहलाया है। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर भौम देवलोक में पहुंचाना भी इन्हीं भौम अग्नि का कार्य्य था, साथ ही वामदेव, ओङ्कार आदि अन्नाध्यक्षों द्वारा यहां की प्रजा की अन्नव्यवस्था करना भी इन्हीं का कार्य्य था। इन्हीं कर्म्मों से ये 'भारत' इस उपाधि–नाम से विभूषित किए गए। इन्हीं के इस 'भारत' नाम से यह पृथिवीलोक 'भारतवर्ष' कहलाया दौष्यन्ति भरतादि के सम्बन्ध से जो इस देश का नामकरण बतलाया जाता है, वह केवल भरत का यशोगान मात्र है। वस्तुतः भारतवर्ष' संज्ञा की मूल-प्रतिष्ठा भौम 'भारत' नामक अग्निदेव ही है। इस प्रकार अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, तीनों पक्षों में उक्त निगदमन्त्र का समन्वय होरहा है, जो कि निगदमन्त्र उपस्तुति–परक माना गया है। क्यों निगदानुवचन किया जाता है? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २ ॥

अथ-आर्षेयानुवचनोपपत्तिः

निगदानुवचनानन्तर वह होता 'अमुकस्य पौत्रः०' इत्यादि रूप से आर्षेयमन्त्र का ऊह कर आर्षेयानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयोजन है कि, इस से इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। ऋषिवंशपरम्परा ही इस महत्व-ख्यापन का मूल है। इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन पूर्वाघारब्राह्मण में किया जायगा ॥३,४,॥

अथ-निवित्पाठः

आर्षेयानुवचनानन्तर वह होता निवित्पाठ करता है। सामिधेनी-द्वारा समिद्ध अग्नि जिन जिन गुण-कर्म्मादि विशिष्ट धर्म्मों से युक्त हैं, उनका बखान करते हुए अग्निदेव का अनुग्रह प्राप्त करना ही प्रकृत निवित्पाठ का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकृति में नित्ययज्ञ होरहा है, इसी नित्ययज्ञ से सृष्टिस्वरूप सुरक्षित है। भौम मनुष्यविध देवताओंनें हीं सर्वप्रथम इस यज्ञरहस्य का स्वरूप पहिचाना। पहिचान कर उन्होंनें हीं सर्वप्रथम 'अरणिमन्थन' नामक प्रक्रिया विशेष से वैध अग्नि उत्पन्न कर उसका समिन्धन किया। इस समिद्ध वैध अग्नि से प्रकृतिवत् यज्ञवितान किया। इस प्रकार इस वैधयज्ञ कर्म्म के प्रथमाविष्कार का श्रेय भौम देवताओं को ही मिला। तभी से यह समिद्ध अग्नि-'देवेद्धः' नाम से व्यवहृत हुआ ॥

भारतवर्ष में सर्वप्रथम यज्ञकर्म्म-वितान का श्रेय मिला अयोध्याधिपति महाराज वैवस्वत मनु को, जिनका प्रातिस्विक नाम था 'श्रद्धादेवमनु', जो कि भारतवर्ष की मानव-प्रजा के प्रथम सम्राट् थे। तब से 'देवेद्धः' के साथ साथ समिद्ध अग्नि-'मन्विद्धः' नाम से भी पुकारे जाने लगे ॥५॥

ब्राह्मण-सम्प्रदाय ने अपने पूर्वज महर्षियों की परम्परा से अग्निवितानलक्षण अग्निस्तुति का अनुगमन किया। इस ब्राह्मणसम्प्रदाय की अपेक्षा से साक्षात्कृत धर्म्मा भारतीय महर्षि ही इस अग्नि (अग्नियज्ञ) के प्रथम स्तोता (वितानकर्त्ता) माने गए। अतएव यह अग्नि आगे जाकर 'ऋषिष्टुतः' नाम से प्रसिद्ध हुए ॥६॥

ऋषिप्राणरहस्यवेत्ता ये महर्षि ही 'विप्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। भौमदेवताओं नें जिस अग्नि का सर्वप्रथम समिन्धन किया, तदनुरूप वैवस्वत मनु ने भारतवर्ष में जिस अग्नि का समिन्धन किया, उस अग्नि का वितान करते हुए भारतीय महर्षियों नें हृदय से इसका अनुमोदन किया। उन्होंनें भी इसे (अग्निमय यज्ञ को) सर्वाभीष्ट-फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकर्म्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निदेव—**'विप्रा-नुमदितः'** नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७॥

साक्षात्कृतधर्म्मा, क्रान्तिदर्शी महर्षि ही तो 'कवि' हैं। इन्होंनें सुप्रसिद्ध शस्त्रकर्म्म द्वारा इस अग्नि का शंसन किया, इसलिए ये अग्निदेव 'कविशस्तः' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकर्म्म से जिस 'दैवात्मा' का स्वरूप उत्पन्न किया जाता है, उस यज्ञकर्म्म में—'शस्त्र, स्तोत्र, ग्रह, नामक तीन कर्म्म' किए जाते हैं। ऋक् से शस्त्रकर्म्म होता है, साम से स्तोत्र होता है, यजु से ग्रह होता है। प्रजास्वरूप निर्म्माण में उपादान द्रव्य, उसका अवयव निर्म्माण, एवं स्वरूपसम्पत्ति, ये तीन कर्म्म अपेक्षित हैं। गर्भाशयगत शोणिताग्नि में शुक्राहुति देना ग्रहकर्म्म है। शुक्रात्मक ग्रह ही प्रजा का उपादान है। सिक्त रेत का अवयवविशेष रूप से काटछांट रूप में परिणत होना शस्त्रकर्म्म है। १० मासानन्तर स्वरूप निर्म्माण का अवसान होजाना स्तोत्र कर्म्म है। वे ही तीनों प्रजनन कर्म्म इस यज्ञ में किए जाते हैं, जिनका स्वरूप परिचय भाष्यारम्भ के उपोद्घात प्रकरण में ही करायाजा चुका है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजु से जो आहुति देता है, वही ग्रहकर्म्म है। आहुति रूप यह ग्रह ही 'उपादान' है। ऋग्वेदी होता ऋक् से शंसन करता हुआ शस्त्रकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। सिक्त रेतःस्थानीय ग्रह की शस्त्रवत काटछांट करना, इस से उसमें अवयव विशेष स्थापित करना होता का ही काम है। सामवेदी उद्गाता सामगानलक्षण स्तोत्रकर्म्म से इसे दैवात्मस्वरूप वितत करता है। प्रकृत का निवितपाठ चूंकि होता कर रहा है, एवं शंसनकर्म्म चूंकि होता का प्रातिस्विक कर्म्म है, अतएव यहां अग्नि के लिए—'कविशस्तः' कहा गया है ॥ ८॥

पार्थिव महिमामण्डल में व्याप्त इस होतृकर्म्माध्यक्ष प्राणाग्नि का उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणत होना भूकेन्द्रस्थ उक्थात्मक ब्रह्माग्नि की ही कृपा का फल है। अग्नितत्त्व विकास-धर्म्मा है। इसी स्वधर्म्म से यह उत्तरोत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है। यही सुतीक्ष्णभाव इसकी द्युगति का कारण है। यही इसका संशितावस्था में परिणत रहना है। इस तीक्ष्णभाव का मूलप्रवर्त्तक केन्द्रस्थ प्रजापति-नामक ब्रह्म (एतन्नामक अग्नि) ही है। उक्थ से ही तो अर्करूप तीक्ष्णभाव का उदय होता है। इसी धर्म्म की अपेक्षा से यह अग्निदेव 'ब्रह्मसंशितः' नाम से भी प्रसिद्ध हैं॥

'घृतमित्युदकनाम' के अनुसार घृत शब्द आज्य के साथ साथ इस उदक का भी वाहन है। भूगर्भ से वाष्परूप में परिणत होकर आन्तरिक्ष्य वायुधरातल पर प्रतिष्ठित होने वाला अप्तत्त्व इस अग्निगर्भ में ही प्रतिष्ठित रहता है। द्युलोक की ओर जाते हुए अग्निदेव ही इस अप् की प्रतिष्ठा बनते हैं, जैसा की- "अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नयन्ति" इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक्ष्य घृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार आधिदैविक संस्था में उदक, तथा घृत का आधार बनता हुआ अग्नि 'घृतवाहन' बन रहा है। इस आधिभौतिक वैधयज्ञ में आहुत आज्य का वाहन तत्प्रतिरूप समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है। एवमेव आध्यात्मिक अग्नि भुक्त घृत का वाहन बन रहा है। जिसका शारीराग्नि प्रदीप्त रहता है, वही घृत को पचा सकता है। इस प्रकार तीनों संस्थाओं की दृष्टि से अग्निदेव 'घृतवाहनः' बन रहे हैं॥ ६॥

पाकयज्ञ, अतियज्ञ, महायज्ञ, शिरोयाग, आदि आदि जितनें भी यज्ञ हैं, उन सबका सञ्चालन अग्नि के द्वारा ही होता है। 'अग्निर्वै यज्ञः' इस परिभाषा के अनुसार अग्नि ही सर्वयज्ञ-प्रतिष्ठा है। आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ आधिभौतिक अग्नि के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का मेल करा देना

ही तो यज्ञ है। उधर 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'–'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि सर्वदेवमूर्ति है। फलतः अग्नि द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रणयन भलीभांति सिद्ध हो जाता है। ॥ १० ॥

यह अग्नि स्वरूप में परिणत होकर ही द्युलोकस्थ देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करते हैं। अग्नि के भूत–प्राण भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। भूताग्नि (चित्याग्नि) भूपिण्ड में प्रतिष्ठित है, यही मर्त्याग्नि है। प्राणाग्नि (चितेनिधेयाग्नि) भूमहिमा में प्रतिष्ठित है, यही अमृताग्नि है। यही अमृताग्नि 'रसाग्नि' है। इस रसाग्नि का ही महिमारूप से ऊर्ध्व वितान होता है। इस वितान की अन्तिम सीमा २२ वाँ अहर्गण है। यही अन्तिम साम रसाग्नि की अवसान भूमि है। अतएव इस अन्तिम रसाग्नि–साम को 'रथन्तर' साम कहा जाता है। वस्तुतः शब्द है–'रसतमसाम'। परन्तु देवताओं की परोक्षभाषा में 'रसतम' ही रथन्तर नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है —

"रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्' (शत० ९। १। २।३६)।

हमारे अग्निदेव रसावस्था से ही द्युलोक की ओर गमन करते हैं। अतएव इन्हें (यज्ञवहन दशा में) 'रस' कहा जाता है। रस ही परोक्ष भाषा में–'तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते" (गो० ब्रा पू० २। २१।) के अनुसार रथ कहा गया है। सम्पूर्ण यज्ञों के ये अग्निदेव रथी (रसावस्था से युक्त होकर यज्ञ वहन करने वाले) हैं ॥ ११ ॥

आन्तरिक्ष्य–वारुण–वायव्य धरातल में उभयतः अमूल विचरण करने वाले यज्ञविनाशक आसुरप्राण विशेषों का ही नाम 'राक्षस' है। परन्तु द्युलोक में जाते हुए इस अग्नि का ये आन्तरिक्ष्य आसुरप्राण संतरण नहीं कर सकते। यही इस होता अग्नि का अतूर्तभाव है। इस अतूर्त धर्म्म का एकमात्र कारण है–समिद्धप्राणाग्नि का पूर्वोक्त गतिविज्ञानानुसार सम्वत्सरमण्डल में एकाधिपत्य। इनका असुर

क्या सन्तरण करेंगे, ये स्वयं अपने 'एति-प्रेति' बल से असुरों का तरण कर जाते हैं। ऐसे अग्नि का यज्ञ में जब समिन्धन होगया, हो तो फिर यहां भी असुराक्रमण की क्या सम्भावना है ॥ १२ ॥

देवता जिस पात्र में आहुतिद्रव्य का अशन करते हैं, वह 'वषट्कार', तथा 'अग्नि' भेद से दो प्रकार का माना गया है। आधारपात्र वाङ्मय वषट्कार है, इसी पर सब देवता प्रतिष्ठित हैं। इस वाङ्मय, महिमारूप वषट्कार के २१ वें अहर्गणतक प्राणाग्नि की व्याप्ति रहती है। यही प्राणाग्नि यज्ञिय ३३ देवताओं का आहुतिलक्षण पात्ररूप मुखस्थानीय अग्निपात्र है। आधारपात्र जहां 'वषट्कार' कहलाया है, वहां यह अग्निपात्र 'आस्पात्र' (आस्यपात्र-मुखरूपपात्र) नाम से व्यवहृत हुआ है। जो ऐसे अग्नि का समिन्धन करता है, वह आस्पात्रता प्राप्त करता हुआ अभीप्सित भोग्य का संग्राहक बन जाता है ॥ १३ ॥

पार्थिव रसों का सौररश्मिगत प्राणदेवता उसी प्रकार पान किया करते हैं, जैसे भौमदेवता इन्द्र की सग्धि (सहभोज) में +चमस से सोम पान किया करते थे। आहुतिरस (जिसका कि प्राणदेवता पान करते हैं) इसी प्राणाग्निगर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस अग्नि को देवताओं का पानपात्र कहना अन्वर्थ है ॥ १४ ॥

पूर्व के गतिविज्ञान में बतलाया गया है कि, यह प्राणाग्नि सम्पूर्ण सम्वत्सर चक्र का अधिष्ठाता बन रहा है। रथ के पहिए में 'नेमि'-आरा, भेद से दो विभाग रहते हैं। नेमि में सब आरे ओतप्रोत रहते हैं। यहां भी नेमिस्थानीय अग्नि में सवत्सर-मण्डलान्तर्वर्त्ती अरास्थानीय सम्पूर्ण देवता ओतप्रोत हैं। प्रकृत निविन्मन्त्र अग्नि की इसी सम्वत्सरव्याप्ति का बखान कर रहा है ॥ १५ ॥

+—मद्यपानपात्र 'चषक' कहलाता है, सोमपानपात्र 'चमस' कहलाता है। सम्भवतः 'चमस' शब्द ही निरुक्तक्रमानुसार कालान्तर में 'चमश चमच' बनता हुआ 'चम्मच' रूप में परिणत होगया है।

अथ—देवतावाहनोत्पत्तिः

सामिधेनियों से प्राणाग्नि का समिन्धन किया गया, निगदानुवचन से वीर्य्याधान किया गया, एवं पूर्वोक्त निवित्पाठ से अग्नि के व्यष्टि—समष्टयात्मक गुण—कर्म्मों का बखान करते हुए इसमें यशोवीर्य्य का आधान किया गया। अब यह अग्नि देवयजन कर्म्म के लिए सर्वथा उपयुक्त बन गया है। अतएव आवश्यक है कि, अब इन अग्नि देव से प्रार्थना की जाय कि, प्रकृत इष्टि में जिन जिन देवताओं का यजन अभीष्ट है, उन्हें भी आप इस यज्ञसंस्था में (द्युलोक से) प्रतिष्ठित कीजिए। यही आह्वान-कर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिस की इतिकर्त्तव्यता का १६, १७, इन दो कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता-आवाहन कर्म्म में—'स्वं महिमानमावह' पद की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। श्रुतिने कहा है कि, वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' के अनुसार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है। वाग्वितान ही वषट्कारमण्डलरूप महिमा मण्डल है। यही आध्यात्मिक अग्निमहिमा है। आधिभौतिक भूतपिण्ड वाङ्मय हैं। वाङ्मय भूतपिण्डों के गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहां भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आध्यात्मिक अग्नि की महिमा वागिन्द्रिय लक्षणा वाक् बन रही है। वाक्तत्त्व (शब्द) ही शरीराग्नि का परिचायक है। शब्द विन्यास के आधार पर शरीराग्नि का बलाबल अनुमेय है। इस प्रकार तीनों संस्थाओं में वाक् ही अग्नि की महिमा बन रही है।

'निवित्—मन्त्रने अग्नि को' 'जातवेदः' कहा है। यह विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही 'जातवेदः' है। अधिदैवत में अग्नि ही तद्रूप देवताओं से यथार्थ स्वरूप से परिचित है। अधिभूत में भूताग्नि ही भूतपिण्ड के स्वरूपसंघठनलक्षण परिचय से अवगत है। एवं अध्यात्म में शरीराग्नि ही 'वाक्—प्राण—चक्षु' रूप से जातवेदा बन रहा है। चक्षु से हम वस्तु पहिचानते हैं, वाङ्मय नाम से वस्तुओं का परिचय प्राप्त करते हैं, प्राणमय कर्म्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। वागिन्द्रिय अग्नि से सम्बद्ध है, प्राणेन्द्रिय वायु से सम्बद्ध है, एवं चक्षुरिन्द्रिय आदित्य

सम्बद्ध है। अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त्त हैं। फलतः आध्यात्मिक अग्नि का भी जातवेदस्त्व भलीभांति सिद्ध होजाता है॥ १६, १७,॥

अनुवचन कर्म्म खड़े खड़े होता है, याज्या कर्म्म बैठे बैठे होता है। अध्वर्यु यजुर्मन्त्र से याज्या करता है, होता ऋङ्मन्त्र से अनुवाक्या करता है। आह्वान होता है- द्युलोकस्थ देवताओं का। वे हम से विदूर हैं। अतएव अनुवचन कर्म्म खड़े खड़े ही होना चाहिये। क्योंकि निदानविधि से द्युलोक अनुवाक्या है। यजन होता है, उन प्राणदेवताओं का, जो होता के अनुवचन से इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव याज्याकर्म्म बैठे बैठे होना चाहिये। क्योंकि याज्या निदानेन पृथिवी का प्रतिरूप है॥ १८, १९,॥

चौथा अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पांचवाँ ब्राह्मण

अथ-शान्तिकर्म्मोपपत्तिः

वेदरहस्यवित् विद्वान् होता के यथाविधि सामिधेन्यनुवचन से, आर्षेय-प्रवरण से, निगदानुवचन से, निवित्पाठसे, तथा आवाहनद्वारा देवप्राणाधान से आज हमारा यह वैध आहवनीयाग्नि सर्वधारण लोकिक इद्ध अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से समिद्ध, अलौकिक, अनाक्रमणीय, तथा अनवमृश्य बन जाता है। न केवल अग्नि ही, अपितु अपने अनुवचनादि कर्म्म से भूताग्नि में प्राणाग्नि का समावेश कर उसे यह रूप देने वाला स्वयं होता भी अपने शारीराग्नि से तत्समानधर्म्मा बनता हुआ अनवधृष्य, तथा अनवमृश्य बन जाता है। जो सामान्यबुद्धि मन्त्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ इस अग्नि को सामान्य अग्नि, एवं अनुवचन कर्त्ता इस ब्राह्मण को सामान्यमनुष्य समझने की भ्रान्ति करता हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-

करने की भूलकर बैठेगा, वह निश्चयेन अपना उसी प्रकार सर्वनाश करा बैठेगा, जैसे अज्ञ मनुष्य विद्युत्-यन्त्र के स्पर्श से अपना नाश करा बैठते हैं। अतः ऐसा अग्नि, तथा ऐसा यज्ञियब्राह्मण प्रणम्य है, स्तुत्य है ॥ १, २, ॥

अग्निसमिन्धन के लिये होता जिन सामिधेनियों का अनुवचन करता है, उस अनुवचन कर्म्म से ही यद्यपि इसके शारीराग्नि में अतिशय उत्पन्न हो जाता है। तथापि साक्षात्रूप से सावयव शारीराग्नि-समिन्धन के लिए अनुवचन काल में तत्तद्विशेष मन्त्र-भागों द्वारा तत्तद्विशेष आध्यात्मिक पर्वों के समिन्धन के लिए भावना कर लेता है। किस मन्त्र से कौनसा आध्यात्मिक पर्व समिद्ध होता है? प्रस्तुत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है—

'प्र वो वाजा अभिद्यवः०, इत्यादि प्रथम मन्त्र होता के 'प्राण' का ही समिन्धन करता है। **'अग्न आयाहि वीतये०'** से अपान का समिन्धन होता है। एवं तृतीयमन्त्र के-**'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'** मन्त्रभाग से उदान समिद्ध होता है। 'उक्थप्राण' नाम से प्रसिद्ध श्वास-प्रश्वासात्मक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) 'प्राण-अपान' भेद से दो अवस्था हैं। निर्गच्छत् अवस्था में वही प्रगमनधर्म्म से 'प्राण' है, आगच्छत् अवस्था में वही आगमन धर्म्म से 'अपान' है, प्राण प्रवान् (गतिधर्म्मा) है, अपान एतवान् (आगतिधर्म्मा) है। प्र-उपसर्गयुक्ता 'प्र वो०' इत्यादि ऋचा से तत्सम निःश्वासावस्थापन प्राण का, एवं 'आङ्' उपसर्गयुक्ता **'अग्न आयाहि०'** ऋचा से तत्सम प्रश्वासात्मक अपान का समिन्धन हुआ है। तेजोनाड़ी द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयुःस्वरूप रक्षक प्राण ही 'उदान' है। इस का बृहत्साममण्डलस्थ आयुःप्रदाता सौर विश्वामित्रप्राण से समतुलन है। अतएव इसे 'बृहच्छोचा' कहना अन्वर्थ बन रहा है। **'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'** से इसी का समिन्धन हुआ ॥ ३ ॥

'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' मन्त्रभाग से श्रोत्रेन्द्रिय का समिन्धन हुआ है। त्रैलोक्यव्यापक, अतएव महा पृथु (विस्तीर्ण) वाक्-समुद्र में अन्य शब्दाघात से उत्पन्न

वीची ही कर्णशष्कुली पर प्रतिष्ठित प्रज्ञान मन से सम्बद्ध होती हुई शब्दश्रवण का कारण मानी गई है। इस व्यापक वाक् लहरी के आधार पर शब्दश्रवण करने के कारण ही श्रोत्र पृथुश्रवाय्य है ॥ ४॥

"ईडेन्यो नमस्यः०" इस मन्त्रभाग से वागिन्द्रिय का समिन्धन हुआ है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व वाक् का ही वितान है। मनःप्राणगर्भिता वाक् ही आकाश है। आकाशात्मा वाक् ही बलग्रन्थि-तारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणत हुई है, जैसा कि- 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'-'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। जिस प्रकार अधिदैवत में तत्त्वात्मिका वाक् से सब वितत है, एवमेव अध्यात्म में इन्द्रियात्मिका-शब्दात्मिका-वाक् से ही सब स्तुत्य है। वाक् ही सर्वकर्म्म-वितान की प्रतिष्ठा है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है—

***सा यत्रेयं वागासीत्, सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत्, नैव तत्र किञ्चनाक्रियत, न प्राज्ञायत। नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन-आजानाति" (शत० ४।६।७।५।) ॥ ५॥**

"अश्वो न देववाहनः०" इत्यादि मन्त्रभाग से 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समिन्धन होता है। प्राणात्मक देवता सोममय मनोधरातल पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए तो उपवास में मनःपरितोषक अन्नाशन निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनुष्य का मन इसे काम सफलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। देवप्राण-प्रतिष्ठारूप होने से ही मन अश्वस्थानीय देववाहन है ॥ ६ ॥

---

*—केवल मानस संकल्पों से, इच्छामात्र की चर्वणा से तब तक किसी कर्म्म में सफलता नहीं मिल सकती, जब तक कि वाङ्मय शारीरश्रम, तथा वाङ्मय शब्द का आश्रय न लिया जाय। कर्म्म, तथा शब्दाभिनय से ही संकल्प कार्य्यरूप में परिणत होते देखे गये हैं।

"अग्ने दीद्यन्तं बृहत्०" इत्यादि मन्त्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समिन्धन होता है। सर्वाङ्गशरीर में अङ्गारखण्डवत् चक्षु ही प्रदीप्त है, साथ ही बृहत्सामात्मक आदित्य से उत्पन्न होने के कारण बृहत्साम–सम्पत्ति से युक्त है। चक्षुःसाम के गर्भ में पतित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विशाल प्रतिमा का स्वरूप तब तक शवसमान ही दिखाई देता है, जब कि उसमें दो चक्षुकनीनिकाओं का सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता। चक्षु के सम्बन्ध कराते ही पाषाणप्रतिमा प्रज्वलित सी होजाती है, उभरसी जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्तारूप से प्रतीत होती है ॥ ७ ॥

"अग्निं दूतं वृणीमहे०" इत्यादि मन्त्रभाग से 'व्यान' नामक मध्यप्राण का समिन्धन होता है। आन्तरिक्ष्य प्रादेशमित, उक्थरूप से हृदयस्थ, सर्वप्रतिष्ठात्मक, अर्करूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त, जीवनसाधक, श्वास-प्रश्वासात्मक, प्राणोदान के उपांशु–अन्तर्य्याम नामक व्यापारों का सञ्चालक प्राणविशेष ही 'व्यान' है। इस से ऊपर सौरदिव्यप्राण नीचे पार्थिव प्राण हैं, इसी के लिए निम्नलिखित उपनिषद्वचन विहित हैं–

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ॥
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥

व्यान से ऊर्ध्व स्थित प्राण प्राण-उदान भेद से दो स्वरूपों में विभक्त है, एवं व्यान से नीचे स्थित अपान समान–अपान भेद से दो भागों में विभक्त है। इस प्रकार अध्यात्मिक प्राण के पांच विवर्त्त होजाते हैं। इन में व्यानप्राण मध्यस्थ है, अन्तस्थ है। इस अन्तस्थ प्राण के समिन्धन से आठवीं ऋचा भी मध्यस्था है। इस समिन्धन से समिन्धनकर्त्ता अपनी मण्डली में मध्यस्थ बन जाता है ॥ ८ ॥

"शोचिष्केशस्तमीमहे०" इत्यादि मन्त्रभाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है। कामाग्नि–ताप लौकिक इतर तापों से प्रबल है। इस का बीज शिश्न ही

है। शिश्नोदर–परायण, कामभोगासक्त मनुष्य कामप्रतिबन्ध दशा में अतिशयरूप से सन्तप्त रहते हैं। इसी सादृश्य से शिश्न के लिए 'शोचिष्केश' पद प्रयुक्त हुआ है ॥ ९ ॥

"समिद्धो अग्न आहुतः०" इत्यादि मन्त्रभाग से अवाङ्प्राण (गुदप्राण) का ही समिन्धन होता है। एवं–"आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि से समष्टिरूप से सर्वाङ्ग शरीर का समिन्धन होता है ॥ १० ॥

इस प्रकार उक्त समिन्धन–भावना से होता का सर्वाङ्गशरीर व्यष्टि–समष्टिरूप से समिद्ध अग्निवत् प्रज्वलित हो जाता है। यदि होता चाहे, तो अपमान करने वाले पर उक्तभावना के साथ 'प्राणं वा एतदात्मनोऽग्नात्राश्राः०' इत्यादि रूप से कृत्याप्रयोग कर सकता है, जिनका ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, इन ११ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ॥

उक्त समिन्धनकर्म्म, तथा अभिचार कर्म्म से बतलाना प्रकृत में यही है कि, सामिधेनियों से समिद्ध अग्नि, तथा समिन्धनकर्त्ता होता, दोनों सामनधर्म्मा हैं, अनवधृष्य हैं, अनवमृश्य हैं। इनका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ऐसे इस महान्–स्तुत्य–नमस्य अग्निदेवता के लिए, एवं अग्निरहस्यवित् ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ होता के लिए हमारी अनेक नमःउक्तियाँ समर्पित हैं ॥२२॥

चौथी अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पांचवां ब्राह्मण समाप्त

समाप्तं चेदं ब्राह्मचतुष्टयात्मकं सामिधेनी-ब्राह्मणम्

ओम् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीः

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य

चतुर्थखण्डात्मक-चतुर्थवर्ष की

विषयसूची

*-पूर्वप्रक्रान्त वेदिब्राह्मण

१-पात्रब्राह्मण (द्रव्यसंस्कारब्राह्मण)

२-आज्यब्राह्मण

३-इध्मब्राह्मण

४-परिधिब्राह्मण

५-सामिधेनीब्राह्मण

६- ,,

७- ,,

८- ,,

* श्रीः *

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य

चतुर्थखण्ड (वर्ष) की विषयसूची

विषय	पृष्ठसंख्या
(चतुर्थवर्ष का त्रैमासिक १ अङ्क)	
* पूर्वप्रक्रान्त वदिसम्पादनकर्म्म	
१——देवासुरसाम्राज्य	१
२——प्रजापति का समानानुग्रह	”
३——असुरों के आक्रमण	”
४——देवताओं की सरलता	”
५——यज्ञभुवनकोष	२
६——कुमारोत्पत्ति	”
७——त्रिपुरासुरयुद्ध	”
८——उपसद्धोमरहस्य	३
९——मयराष्ट्र	४
१०——शर्वतीर्थ	५
११——त्रिपुरासुर	”
१२——त्रिपुरारिशङ्कर	६
१३——वराहासुरयुद्ध	७
१४——भारतीय प्रजा की व्यवस्था	”
१५——चिन्ताविमुक्ति	”
१७——वसोर्धारा	८
१८——एमूषवराह का उपद्रव	”
१९——वराहासुर की दैनिक भोजनसामग्री	९
२०——द्वादश महासंग्राम	१०
२१——अन्तिमयुद्ध	११
२२——आध्यात्मिक रहस्योपक्रम	१२
२३——आध्यात्मिक त्रैलोक्य	”
२४——आध्यात्मिक देवता और असुर	”
२५——देवप्राणविकासतारतम्य	१३
२६——लालन-ताड़न	१४
२७——असुरों का साम्राज्य	”
२८——वैष्णवयज्ञ द्वारा रक्षा	१५
२९——उभयविध त्रिलोकी	१६
३०——आधिदैविक चरित्रोपक्रम	१७
३१——देवासुर का समानाधिकार	”
३२——देवयज्ञ और सम्वत्सर	”
३३——प्रारम्भिक असुरसत्ता	१८

विषय	पृष्ठसंख्या
३५—आसुरीविभूति	१९
३६—देवविभूत	"
३७—बल, नमुचि, वृत्र	२०
३८—ज्योतिःप्रपञ्च	"
३९—असुरपराभव	२१
४०—देवविजय	"
४१—स्रष्टा की १६ कलाएं	२२
४२—वामनविष्णु का अनुग्रह	२३
४३—यज्ञ के विविध लक्षण	"
४४—यज्ञविकासभूमि	२४
४५—सत्यसूर्य्य और ऋतसमुद्र	२५
४६—नारदप्राण	"
४७—प्राणानुसार दिग्विभाग	२६
४८—विष्णु की प्रतिष्ठा	२७
४९—छन्दोवेष्टित विष्णु	"
५०—यज्ञाग्निचतुष्टयी	२८
५१—निरूपणीय अन्नादाग्नि	२९
५२—अनुष्टुप्छन्द	३०
५३—अग्नि का अग्रगामित्व	३१
५४—गृहपति और गार्हपत्य	"
५५—अङ्गिरा का ऊर्ध्वगमन	३२
५६—दक्षिणाग्निविवर्त्त	३३
५७—गायत्रीछन्द	"

विषय	पृष्ठसंख्या
५९—जगतीछन्द	३४
६०—विष्णु द्वारा विजयलाभ	३५
६१—वैधयज्ञपरिलेख	३६
६२—वेदी, पृथिवी का समतुलन	३७
६३—पैत्रिकसम्पत्ति का विभाजन	"
६४—देवाधिकारनिरुक्ति	३८
६५—दिति—अदितिपरिलेख	३९
६६—सपत्नविनष्टि	४०
६७—विष्णुदेवता की क्लान्ति	४१
६८—ओषधिमूलप्रवेश	"
६९—त्र्यङ्गुलावेदि—रहस्य	"
७०—आत्मविकास का तिरोभाव	४२
७१—म्लान विष्णुदेवता	४३
७२—ओषधिमूलसमाश्रय	४४
७३—ओषधिनिर्म्माणप्रक्रिया	"
७४—शक्तित्रय का समन्वय	४५
७५—विष्णु की मध्यस्थता	४६
७६—अश्वत्थोपलक्षित ओषधिवर्ग	४७
७७—महद्ब्रह्मप्रतिष्ठा	"
७८—पद्धतिरहस्योपक्रम	४८
७९—वेदिपरिग्रहकर्म्म	"
८०—दक्षिणपरिग्रहोपपत्ति	"
८१—पश्चिमपरिग्रहोपपत्ति	"

विषय	पृष्ठसंख्या
८३—त्रिविध भूपरिग्रह	४९
८४—षट्परिग्रहोपपत्ति	"
८५—संवत्सरयज्ञस्वरूपावाप्ति	५०
८६—द्वादशव्याहृतिपरिलेखः	५१
८७—पद्धतिस्वरूपसमर्थन	५२
८८—त्रिविधसमतुलन	५३
८९—प्रतिमार्जनकर्म्मोपक्रम	५४
९०—'देवयजन' तत्त्वरक्षासाधन	"
९१—यज्ञ का यज्ञियभाग	५५
९२—चन्द्रकलङ्क-कल्पना	५६
९३—पृथिवी का उपग्रह	५७
९४—अत्रिप्राण, और चन्द्रमा	"
९५—अत्रिप्राण का स्वरूपधर्म्म	५८
९६—पार्थिवविवर्त्त का उपादान	५९
९७—दिक्सोम और पार्थिवविवर्त्त	"
९८—त्रिविध सोमतत्त्व	"
९९—पार्थिवगतिविवर्त्त	"
१००—अत्रि से चन्द्रोत्पत्ति	६०
१०१—पार्थिव देवयजनतत्त्व	६१
१०२—चन्द्रमा और स्वधा	"
१०३—देवयजन का कृष्णरत्न	६२
१०४—देवयजन से चन्द्रपुष्टि	"
१०५—प्रतिमार्जन और देवयजन	"
१०६—आधिभौतिकरहस्योपक्रम	६३
१०७—देवताओं का यज्ञबल	"
१०८—सोमवल्ली और यज्ञ	"
१०९—सोमरस और यज्ञ	"
११०—सोमरक्षक चन्द्रमा	"
१११—चन्द्रमा और गन्धर्व	"
११२—चन्द्रद्वारा देवबलविनाश	६४
११३—अनवमर्शरहस्योपक्रम	"
११४—वेदी का हिंसक विद्युत्	"
११५—दर्भ का प्रतिबन्धकविद्युत	"
११६—ऋषियों की प्राणविद्या	६५
११७—आर्षपद्धति और आत्मकल्याण	६६
११८—आर्यसामाजिकजगत् की भ्रान्ति	"
११९—अकाण्ड-ताण्डव	६७
१२०—भारतीय अभिवादनशैली	"
१२१—कल्पित 'नमस्ते' शैली	"
१२२—स्वाहा-स्वधा-आदि रहस्य	"
१२३—दीक्षित के कतिपय नियम	६८
१२४—यज्ञसंस्था की मौलिकता	"
१२५—नमः' और यज्ञ	६९
१२६—'नमस्ते व्यवहार का खण्डन	"
१२७—'नमस्ते' व्यवहार से प्रत्यवाय	"
१२८—बृहस्पति का आदेश	७०

२ अध्याय समाप्त

—:o:—

विषय	पृष्ठसंख्या

३—अध्याय आरम्भ

विषय	पृष्ठसंख्या
*—पात्रब्राह्मण (१।३।१)-(१।२।४)	
क—निर्भुजपाठ	७३-७९
ख—प्रतृणणपाठ	८०-८३
ग—मूलानुवाद	८४-९५
घ—सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसंग्रह	९६-१०२
ङ—उपपत्तिप्रकरण	१०३-२०४

— ❧ —

*—उपपत्तिप्रकरण—

विषय	पृष्ठसंख्या
*—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति	
१—देवभोजनपात्र	१०३
२—आपेक्षिक पात्रशुद्धि	,,
३—देवानुगत शोधकद्रव्य	१०४
४—दर्भ और मन्त्रबल	,,
५—पात्रसम्मार्जनरहस्य	,,
६—पात्रप्रतपनकर्म्मोपपत्ति	,,
७—अलौकिकसम्मार्जन	१०५
८—प्राणोदानस्थापक सम्मार्जन	,,
९—रोम-निर्म्माण	,,
१०—स्रुवपात्र की स्वाभाविकशक्ति	१०६
११—राजा, वाज, हवि, ग्रह	,,
१२—तूष्णीं सम्मार्जन	१०७
१३—पुनःप्रतपनकर्म्म की लौकिकता	,,
१४—स्रुव का प्राथम्य	,,
१५—प्रथम अग्नि, और वृषा	१०८
१६—भोक्ता का प्राधान्य	,,
१७—भोग्य का गौणत्व	,,
१८—स्रुव-स्रुक् का वृषा-योषात्व	,,
१९—वृषा-योषानुरूप सम्मार्जन	,,
२०—सम्मार्जन और प्रत्यङ्मुखत्व	१०९
२१—दर्भ की यज्ञरूपता	११०
२२—दर्भतृण की यज्ञस्वरूपमीमांसा	१११
२३—उत्करप्रासनमीमांसा	,,

— ❧ —

२—पत्नीसन्नहनकर्म्मोपपत्ति

विषय	पृष्ठसंख्या
२४—'पत्नी' शब्दनिरुक्ति	११२
२५—प्रजापति का दाम्पत्यभाव	,,
२६—प्रजापति की वेदमहिमा	,,
२७—प्राजापत्ययज्ञ और स्त्रीपुम्भाव	११३
२८—सम्वत्सरयज्ञ ,,	,,
२९—आध्यात्मिक यज्ञ ,,	,,
३०—सम्वत्सर और पुरुष	११४
३१—आकाशविवर्त्त और पत्नी	,,
३२—शून्य अर्द्धाकाश और पुरुष	,,
३३—आकाश की पूर्णता और पत्नी	११५
३४—बहुविवाह का प्राकृतिकमूल	,,
३५—नाचिकेतस्वर्गप्रतिष्ठा	,,

विषय	पृष्ठसंख्या
३६—पत्नी की जघनार्द्धता	११६
३७—योक्त्र से पत्नी बन्धन	,,
३८—स्त्रीस्वातन्त्र्यविरोध	,,
३९—स्त्री का ऋतभाव	,,
४०—सत्यसापेक्ष ऋतभाव	,,
४१—अप्रतिष्ठा की प्रतिष्ठा	,,
४२—सन्नहन का मौलिकरहस्य	११७
४३—जटिलसमस्या	,,
४४—रूढिवाद भक्ति	११८
४५—आडम्बर भक्ति	,,
४६—सम्प्रदायभक्ति	,,
४७—कल्पनाभक्ति	११९
४८—जनसमाज के ४ विभाग	,,
४९—पारस्परिक अहमहमिका	,,
५०—रूढिवाद से धर्म्मविलुप्ति	१२०
५१—धर्म्मसुधार की घोषणा	,,
५२—सुधार में भयानक भूल	१२१
५३—स्वतन्त्रता और स्त्रीसमाज	,,
५४—'स्वतन्त्र' शब्द की मौलिक-व्याख्या	१२१–१३४
५५—स्वतन्त्र–परतन्त्र शब्दों का-अनुगमभाव	१३४
५६—आध्यात्मिक पदार्थचतुष्टयी	१३५
५७—प्रजोत्पत्ति की मूलप्रतिष्ठा	१३६
५८—सृष्टि के दो विवर्त्त	,,
५९—बल और सत्य	१३७
६०—बल और विज्ञान	,,
६१—सबल पुरुष, अबला स्त्री	,,
६२—गौण–प्राधान्यभाव	,,
६३—बल की मौलिक परिभाषा	,,
६४—निर्बल की मौलिक परिभाषा	,,
६५—सदसत् स्वरूप मीमांसा	१३९
६६—शिव-शक्ति का तात्विक-विश्लेषण	१४०
६७—रुद्र–शिवभाव	,,
६८—आध्यात्मिक रुद्र का रोदन	,,
६९—आधिदैविकरुद्र, और रजत	१४१
७०—रजत, और रोदन	,,
७१—रुद्र की शिवभाव परिणति	,,
७२—शिव की शवान्नता	१४२
७३—शासक का शासितत्त्व	,,
७४—भोक्ता का भोग्यत्त्व	,,
७५—शिव-शक्तिभावों की-व्यापकता	१४२
७६—बलघन सौम्य शुक्र	१४३
७७—आवश्यक शक्त्युपासना	,,
७८—बाह्य–आभ्यन्तर संस्था	१४४
७९—पुरुष का स्त्रीत्व	,,

विषय	पृष्ठसंख्या
८०—स्त्री का पुरुषत्व	१४५
८१—भूत और प्राण	"
८२—कुश, सुवर्ण, का स्पर्श	१४६
८३—स्पर्शदोषनिवृत्ति	"
८४—अतप्ततनू	"
८५—पवित्रसोमसम्बन्ध	"
८६—भूतशरीर का प्रतिष्ठातत्त्व	१४७
८७—शीतातपमीमांसा	१४८
८८—मानवस्वभावमीमांसा	१४९
८९—ओषधि का तत्त्वार्थ	"
९०—पुरुषसंस्था के योषा-वृषा विवर्त्त	१५०
९१—पुरुष का दक्षिणपार्श्व	१५१
९२—दक्षिणपार्श्व का वृद्धिभाव	"
९३—उत्तरपार्श्व का क्षयभाव	"
९४—चाक्षुषपुरुष का दक्षिणभाग	१५२
९५—दक्षिणप्राधान्य का समर्थन	"
९६—वामपार्श्व और वामनी	१५३
९७—वामपार्श्व का गौणत्व	"
९८—गतिमात्रद्वारा गौण-मुख्यता-समर्थन	१५४
९९—पुरुष की शिवरूपता	"
१००—वृषा, योषा के अन्तिम परिणाम	१५५
१०१—समतुलन से यज्ञस्वरूपरक्षा	"
१०२—स्त्री-पुरुष का रचनावैचित्र्य	१५६
१०३—स्त्री का उग्ररूप	१५७
१०४—स्त्रीशक्तिह्रास से सर्वनाश	"
१०५—आत्मदृष्टि और स्त्री का पुम्भाव	१५८
१०६—ऋषि का उक्तिचातुर्य्य	"
१०७—क्षोभोपायशान्ति	१५९
१०८—मर्य्यादारक्षा	"
१०९—रजोवीर्य्य का मिथुनभाव	१६०
११०—उभयविधभ्रूणमीमांसा	"
१११—अर्द्धनारीश्वर का वैभव	"
११२—विश्वशान्ति की मूलप्रतिष्ठा	"
११३—सृष्टित्रैविध्य	१६१
११४—स्त्रीसंस्थानिदर्शन	१६२
११५—पुरुष का अपना तन्त्र	"
११६—स्त्री का अपना तन्त्र	"
११७—दोनों का स्वातन्त्र्य	"
११८—उभयसापेक्ष तन्त्ररक्षा	"
११९—पुरुष का पारतन्त्र्य	१६३
१२०—स्त्री का पारतन्त्र्य	"
१२१—सह धर्म्मं चरताम्	"
१२२—स्वानुगता स्वतन्त्रता	१६४
१२३—अधिकारमीमांसा	"
१२४ अधिकार मूला विषमता	१६५
१२५—स्त्रीस्वातन्त्र्यप्रलाप	"

विषय	पृष्ठसंख्या

१२६–कर्म्म का स्वतन्त्रकर्त्ता १६६
१२७–'दम्पती' और दाम्पत्यभाव ”
१२८–पति और पत्नी ”
१२९–'पुरुषः स्त्रियमनुधावति' १६७
१३०–'न स्त्री पुरुषमनुधावति' ”
१३१–रेतोवर्षक वृषा ”
१३२–वृषा और वृषाकपि ”
१३३–प्रतिद्वन्द्विता और प्रधानता ”
१३४–प्रथमद्वन्द्व १६८
१३५–द्वितीयद्वन्द्व ”
१३६–तृतीयद्वन्द्व ”
१३७–चतुर्थद्वन्द्व १६९
१३८–'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' १७०
१३९–'तद्धि गेहं विनष्टम्' १७१
१४०–पुरुष की सर्वव्याप्ति १७२
१४१–सुधारप्रेमियों का उद्बोधन १७३
१४२–श्रौतप्रमाणसंग्रह १७४
१४३–प्राकृतिक स्वरूपविभेद १७५
१४४–शास्त्रसम्मत स्त्रीपारतन्त्र्य १७६
१४५–स्वतन्त्रता परतन्त्रतात्मिका–वर्त्तमान १७७
१४६–अविकित्स्य स्वतन्त्रता १७८
१४७–घातकरूढिवाद ”
१४८–'विषकुम्भंपयोमुखम्' १७९
१४९–सुधार का दिग्दर्शन १८०
१५०–स्त्री-शिक्षामीमांसा १८१
१५१–ऋषियों के उद्गार १८२
१५२–सत्कारानुगत मधुरनियन्त्रण १८३
१५३–सहजसिद्ध सौम्यभाव १८४
१५४–रक्षात्मक पारतन्त्र्य ”
१५५–पुरुषजाति का अपराध १८५
१५६–शक्ति, शक्तिघन, तत्प्रसार १८६
१५७–पारस्परिक अनुशासन १८७
१५८–भारतवर्ष और केतुमालवर्ष १८८
१५९–प्राच्य-प्रतीच्य देशों का भेद ”
१६०–देशभेदमूलक सांस्कृतिकभेद ”
१६१–इन्द्र और वरुण का अस्त्र–माहिष्य १८९
१६२–'नश्यन्ति बहुनायकाः' १९०
१६३–'स्त्री नायका विनश्यन्ति' ”
१६४–दृढतम निरोध, और स्त्रीत्व १९१
१६५–योक्त्रबन्धनरहस्य १९२
१६६–द्वितीयउपपत्ति १९३
१६७–अपेक्षित वरुणपाश ”
१६८–आलङ्कारिक सन्नहन १९४
१६९–पदार्थविद्यानुगतसम्बन्धविवर्त्त ”
१७०–सौन्दर्य्यसाधन (काञ्ची) १९५
१७१–ग्रन्थिबन्धनभाव ”
१७२–ऊर्ध्वोद्गूहनमीमांसा १९६
१७३–पत्नी-शाला मीमांसा १९७

—:(॥):—

विषय	पृष्ठसंख्या

३—पत्नीकृताज्यावेक्षणकर्म्मोपपत्तिः

१७३—योषाप्राणमयी पत्नी	१९८
१७४—रेतोलक्षण आज्य	,,
१७५—मिथुनभावसंग्रह	,,
१७६—चक्षुर्दोषनिवृत्ति और आज्यावेक्षण	,,
१७७—आज्य का स्वरूपधर्म्म	१९९

—:—

४, ५, ६,—परिशिष्टकर्म्मणामुपपत्तिः

१७८—हविर्द्रव्यपरिपाकमीमांसा	१९९
१७९—विप्रतिपत्ति और तन्निराकरण	२००
१८०—आज्यस्थापन	२०१
१८१—उत्पवनकर्म्मोपपत्ति	,,
१८२—अध्वर्युकृत आज्यावेक्षण	२०२
१८३—आज्यावेक्षणोपपत्ति	२०३
१८४—आज्यावेक्षण और दिव्यात्मा	२०४
१८५—दिव्यात्मा की सत्यविभूति	,,

—:—

तृतीयाध्याय का १ 'पात्रासादन' ब्राह्मण समाप्त

चतुर्थवर्ष के प्रथम त्रैमासिक अङ्क की

विषयसूची समाप्त

—:—

विषय	पृष्ठसंख्या

(चतुर्थ वर्ष का त्रैमासिक २-अङ्क)

* आज्यब्राह्मण (१।३।२)-(१।२।५।)

क—निर्भुजपाठ	१—४
ख—प्रतृण्णपाठ	५—८
ग—मूलानुवाद	९—३२
घ—सूत्रानुगतपद्धति	३३—३७
ङ—उपपत्तिप्रकरण	३९—६३

—:(*):—

* उपपत्तिप्रकरण

१—यज्ञेतिकर्त्तव्यता की उपनिषत्	३८
२—यज्ञप्रतिरूपरहायोपक्रम	,,
३—विज्ञानवाद और प्रश्नपरम्परा	,,
४—भौतिक आविष्कार विभीषिका	३९
५—हमारा दृष्टिकोण	,,
६—ऋषियों की काण्डत्रयी	,,
७—ऋषियों का नित्यविज्ञान	,,
८—ऋषियों का यज्ञविज्ञान	४०
९—विज्ञानत्रयात्मक विश्वविज्ञान	,,
१०—सर्वात्मक सर्वहुतयज्ञ	४१
११—देवताओं का यजन	,,
१२—विष्णु के व्रतात्मककर्म्म	४२
१३—आर्यसर्वस्व का समतुलन	,,
१४—यज्ञ का इष्टकामधुकत्व	,,
१५—सर्वहुतयज्ञ परिलेख	४३

विषय	पृष्ठसंख्या
१६—हमारा विज्ञानशास्त्र	४३
१७—प्रतिप्रश्नानवसर	,,
१८—अपेक्षितआज्यब्राह्मणसमन्वय	४४
१९—पार्थिव यज्ञत्रयी	,,
२०—कर्त्तव्यमार्गप्रदर्शक	४५
२१—खण्डात्मक विज्ञान	,,
२२—आधिभौतिक यज्ञत्रयी	४६
२३—दैवात्मलक्षणयज्ञ	४७
२४—पुरुषयज्ञ से वैधयज्ञ का समतुलन	,,
२५—प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या	४८
२६—यज्ञ की प्रतिरूपता	,,
२७—आध्यात्मिक यज्ञोपनिषत्	४९
२८—'सर्वे लोकाः प्रभवन्ति'	५०
२९—प्रजापति, और अमृत-मृत्यु	,,
३०—त्रैलोक्यप्रतिष्ठात्रा	५१
३१—परम्परासिद्ध उपनिषत्	,,
३२—आज्यपृष्ठविज्ञान	५२
३३—पुरुषयज्ञप्रतिरूपता	,,
३४—आज्यग्रहणोद्देश्य	५३
३५—शरीर, और वयुन	,,
३६—आयतन—निरायतनसोम	,,
३७—औपपातिक जीवात्मा	५४
३८—आवापदेवतापरिचय	,,
३९—अनुयाजदेवतापरिचय	,,
४०—प्रयाजदेवतापरिचय	५४
४१—आत्मा, और आत्मपुर	५५
४२—आज्य का तात्त्विकस्वरूप	,,
४३—पृष्ठ का तात्त्विक स्वरूप	,,
४४—स्थितिसमतुलन	,,
४५—लोकव्यवहार	५६
४६—'जामि' दोषमीमांसा	,,
४७—आज्यद्रव्य की अन्वर्थता	५७
४८—अजामिभाव	,,
४९—आज्यग्रहणप्रक्रियामीमांसा	,,
५०—निदानविद्या	,,
५१—निदानानुगत आज्यग्रहण	५८
५२—यजमान, तत्शत्रुभावमीमांसा	५९
५३—जुहू, और यजमान	,,
५४—उपभृत्, और यजमानशत्रु	,,
५५—समृद्धिभावानुगति	,,
५६—कनीयांस—भूयांसमर्य्यादा	६०
५७—पारस्परिक सहयोग	,,
५८—राज्याधिकार, और प्रजास्वातन्त्र्य	६
५९—ध्रुवापात्र, और ब्रह्मबल	,,
६०—जुहूपात्र, और क्षत्रबल	,,
६१—उपभृत्पात्र, और विड्बल	,,
६२—पशुसम्पत्ति, और शूद्रवर्ग	,,
६३—राष्ट्रसमृद्धिप्रवर्त्तक आज्यग्रहण	,,

विषय	पृष्ठसंख्या
६४–'चतुरक्षराणि सर्वाणि छन्दांसि'	६२
६५–यज्ञकर्म्मसम्पत्ति, और ध्रुवापात्र	,,
६६–आज्य की वज्ररूपता	,,
६७–आज्यद्रव्य, और यज्ञसिद्धि	६३
६८–यज्ञैकरूपतासिद्धि	,,
६९–त्रिवृतसम्पत्तिप्राप्ति	,,

तृतीयाध्याय का २ 'आज्यब्राह्मण' समाप्त

*–इध्मब्राह्मण, एवं परिधिब्राह्मण

(१।३।३,४,)–(१।२।६।)–(१।३।१)

क–निर्भुजपाठ	६४–७३
ख–प्रतृण्णपाठ	७३–८०
ग–मूलानुवाद	८१–१०२
घ–सूत्रानुगत पद्धति	१०३–११३
ङ–उपपत्तिप्रकरण	११४–१४६

*–उपपत्तिप्रकरण

१–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति

१—पवित्र, मेध्यगुणक अपूतत्व	११४
२—अग्नि के लिए अपेक्षित मेध्यभाव	,,
३—'इध्म' परिभाषा	,,
४—ब्रह्मौदनलक्षण अग्नि	,,
५—प्रवर्ग्यलक्षण अग्नि	,,
६—शुक्ल सावित्राग्नि	११५
७—कृष्ण गायत्राग्नि	,,
८—मृग्यमाण अग्नि	११५
९—कृष्णमृगलक्षण अग्नि	,,
१०—कृष्णमृगाग्नि, और मृगचर्म्म	,,
११—आखरेष्ठ अग्नि	११६
१२—जुष्ट प्रोक्षण	११७
१३—वेदिप्रोक्षणोपपत्ति	,,
१४—बर्हिप्रोक्षणोपपत्ति	११८
१५—बर्हिर्मूलोपसेचनोपपत्ति	११९
१६—भूगर्भ में बीजवपन	१२०

२—प्रस्तरग्रहणोपपत्ति

१७—यज्ञपुरुष के श्रेणिविभाग	१२०
१८—त्रैलोक्यव्याप्त यज्ञपुरुष	,,
१९—महासुपर्णात्मक यज्ञपुरुष	१२१
२०—यूपात्मकसूर्य्य	,,
२१—यज्ञपुरुष की शिखा	१२२
२२—आध्यात्मिक यज्ञ का वितान	,,
२३—अहरहर्यज्ञ का वितान	१२३
२४—आयुःप्राणसञ्चारमार्ग	१२४
२५—शिखाधारण की आवश्यकता	,,
२६ 'देवोभूत्वा देवं भावयेत्'	,,
२७—शिखाधारण, और स्वस्त्ययन	१२५
२८—यज्ञवितानपरम्परा	,,
२९—पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणोपपत्ति	१२६

विषय	पृष्ठसंख्या
३—सन्नहनविस्रंसनस्थापनोपपत्ति	
३०—बन्धनविमोक	१२६
३१—सन्नहनस्थापनवैशिष्ट्य	१२७
३२—मर्य्यादानुगमन	,,
४—बर्हिस्तरणोपपत्ति	
३३—लोमसम्पत्तिसंग्रह	१२७
३४—स्त्री का लज्जाभाव	,,
३५—पार्थिवसम्पत्तिसग्रह	१२८
३६—त्रिवृत्यज्ञस्वरूपनिष्पत्ति	,,
३७—भावनात्मकनिदान	१२९
५—अग्निकल्पोपपत्ति	
३८-शिरोभागात्मक द्युप्रदेश	१२९
३९—अग्नादाग्निप्रतिष्ठा	,,
४०—अग्निप्रबलीकरण	,,
६—परिधिपरिधानोपपत्ति	
४१—परिधित्रयस्थापन	१२९
४२—आग्निविवर्त्तचतुष्टयी	१३०
४३—पार्थिवसम्वत्सरचक्र	,,
४४—आप्याग्निविवर्त्त	,,
४५—अर्कप्राणव्याप्ति	१३१
४६—भूतानां पतिः	,,
४७—अग्निभ्रातरः	१३२

विषय	पृष्ठसंख्या
४८—'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'	१३२
४९—हौत्रकर्म्मसञ्चालन	१३३
५०—अर्णवसमुद्र में विलयन	,,
५१—यज्ञस्वत्वकसीमाभाव	,,
५२—मलिनआप्याग्नित्रयी	१३४
५३—शुद्धआप्याग्नित्रयी	,,
५४—परिधिपरिधानकर्म्म	,,
५५—पलाशगुणमीमांसा	१३५
५६—विकङ्कतगुणमीमांसा	१३६
५७—काष्मर्य्यगुणमीमांसा	१३७
५८—बिल्वगुणमीमांसा	१३८
५९—खदिरगुणमीमांसा	१३९
६०—उदुम्बरगुणमीमांसा	१४०
६१—परिधिपरिमाणोपपत्ति	१४१
६२—मन्त्रार्थसमन्वय	१४२
७—समिधाभ्याधानोपपत्ति	
६३—छन्द और ऋतुदेवता	१४२
६४—प्रत्यक्षरूप से समिन्धन	१४३
६५—दिव्याग्निसमावेश	,,
६६—छन्दःसमिन्धन	१४४
६७—समिन्धनातिशय	,,
६८—ऋतुसमिन्धन	,,

विषय	पृष्ठसंख्या
८—मन्त्रजपोपपत्तिः	
९—त्रिधृतिस्थापनोपपत्ति	
६९—'विधृती' स्वरूपपरिचय	१४५
७०—क्षत्र—विट्सम्पत्तिसंग्रह	,,
७१—अन्वर्थता	,,

—:—

१०—स्रुक्स्थापन कर्म्मोपपत्ति	१४६

—÷:(*):÷—

इध्म—परिधिब्राह्मणयुग्मसमाप्त

चतुर्थवर्ष का त्रैमासिक २—अङ्क समाप्त

—:—

(चतुर्थवर्षके त्रैमासिक३·४ अङ्क)

*—ब्राह्मणचतुष्टयात्मक 'सामिधेनी-ब्राह्मण'

क—निर्भुजपाठ	१—२०
ख—प्रतृण्णपाठ	२०—३४
ग—मूलानुवाद	३५—८३
घ—सूत्रानुगतपद्धति	८४—९०
ङ—उपपत्तिप्रकरण	९१—१७७

—:—

*—उपपत्तिप्रकरण

विषय	पृष्ठसंख्या
१—अग्निसमिन्धनवैशिष्ट्य	९१
२—यज्ञकर्म्म का उदर्क	,,
३—अग्नित्रयी का ग्रन्थिबन्धन	,,
४—स्वर्गलोकावाप्तिकारण	९२
५—इध्म, और इन्धन	,,
६—दिव्याग्नि का एकीभाव	९३
७—स्वरविज्ञान	,,
८—अनुष्टुप्—वाग्विवर्त्त	९४
९—स्वरसन्धानवैशिष्ट्य	९५
१०—विज्ञानवाक् की अपौरुषेयता	,,
११—भूतानुगत प्राणाकर्षण	९६
१२—प्रणम्य अग्निदेवता	,,
१३—प्राकृतिक ऋत्विक्	९७
१४—प्रैषकर्म्मोपपत्ति	,,
१५—अनुवचनकर्म्मवैशिष्ट्य	,,
१६—धातुत्रयानुगत वीर्य्यत्रयी	९८
१७—बल-वीर्य्य-पराक्रम निर्वचन	,,
१८—'वीर्य्यगायत्री'	,,
१९—सामिधेनी-संख्योपपत्ति	९९
२०—विश्व के उपक्रमोपसंहारस्थान	१००
२१—यज्ञाङ्गतासिद्धि	,,
२२—त्रिः त्रिरनुवचनोपपत्ति	,,
२३—पञ्चदशसंख्योपपत्ति(१)	१०१
२४— ,, (२)	,,
२५— ,, (३)	१०२
२६— ,, (४)	,,
२७— ,, (५)	,,
२८—सप्तदशसंख्योपपत्ति	१०३
२९—कामेष्टि, और संख्यास्वरूप	,,
३०—याज्ञिकों की भ्रान्ति	१०४